समर्पण

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य पिता श्री पण्डित
चन्द्रिकाप्रसादजी दीक्षित के कर-कमलों
में अतिविनीत भाव से यह ब्रह्म-
विचार पुष्पाञ्जलि सादर
समर्पित कर मैं अपने
को अहोभाग्य
मानता हूँ।

गोकुलचन्द्र दीक्षित



सब उपनिषद्

संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इस अवस्था को देखकर प्रत्येक ब्राह्मण, साधु जन, जिनके धर्म में रुपये रखना भारी पाप समझा जाता था, वही धन के कमाने में लगे हुये हैं। तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े धर्म-प्रचारकों को भी धन कमाने की धुनि ने धर्म के मार्ग से पृथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार-सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे, वे लोग भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे। ऐसी अवस्था को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त हिन्दी जानने वालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के हेतु उपनिषदों का; जो ईश्वर के बनाये हुए वेदान्तरों के व्याख्यान हैं; उनका हिन्दी में अनुवाद किया जाये और कुछ मित्रों के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि यह अनुवाद संक्षेप और केवल शब्दार्थ रूप में ही न किया जावे; किन्तु जहाँ तक हो सके, पूर्ण विस्तार के साथ ठीक प्रकार से और कुछ स्थानों पर आवश्यक आयोजन के साथ चलाया जावे। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार नहीं कि मैं इस प्रकार के बोझ और उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य को सहन कर सकूँ, तथापि परमात्मा की सहायता के विश्वास पर चलाने का उद्योग किया है।

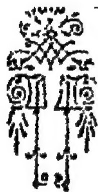
ईशोपनिषद् वास्तव में यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सब मन्त्र ज्ञान-काण्ड के हैं। जहाँ तक विचार पड़ता है, सब उपनिषदों का मूल यही उपनिषद् है; क्योंकि यह उपनिष

वेद के अन्त में है। इसी कारण इसका नाम वेदान्त रक्खा गया है और शेष उपनिषद् भी इसी कारण वेदान्त कहे जाते हैं। व्यासजी ने ब्रह्म-सूत्रों में भी इसी के विषय से ब्रह्म-सिद्धि को लिया; इसीलिये उसका नाम भी वेदान्त-शास्त्र हुआ। दूसरा कारण इनको वेदान्त कहने का यह भी है कि वेद नाम ज्ञान का है और ब्रह्म के जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता। ब्रह्म-ज्ञान-ज्ञान की सबसे अन्तिम श्रेणी है; क्योंकि प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, परन्तु उसके कार्य और ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसकी सत्ता का ज्ञान सर्व-साधारण को हो सकता है। ब्रह्म ऐसी सूक्ष्म वस्तु है कि जिसका ज्ञान इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकता, इस कारण शब्द-प्रमाण (वेद) की आवश्यकता है और आचार्य लोग वेद को सबसे अधिक स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिये वेद के ब्रह्म विषयक मंत्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

—स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती







ईशोपनिषद्



प्रणम्य परमात्मानं, गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
ईशोपनिषद् विवेकाख्यं, विस्तरत्ते विशद भाषया ॥

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

प० क्र०—(यत्) जितना भी । (किञ्च) कुछ । (जगत्याम्) संसार में । (जगत्) उत्पन्न और नाशमान् रूप से विद्यमान है । (इदम्) यह । (सर्वम्) सब । (ईशावास्यम्) ईश्वर से ओत-प्रोत है । (तेन) उस परमेश्वर प्रदत्त से । (त्यक्तेन) वस्तुओं से । (भुञ्जीथाः) भोग करो । (कस्यस्वित्) किसी का । (धनम्) धन । (मा गृधः) मत लालच समष्टि अथवा व्यष्टि करो ।

अर्थ—जो कुछ इस संसार में अपूर्ण अथवा पूर्ण वस्तुएँ हैं, उन सब में ईश्वर का निवास है अथवा ईश्वर से ढकी हुई हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु में ओत-प्रोत है। किसी पर्वत की गहरी से गहरी ऐसी गुफा नहीं, जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो; कोई समुद्र की गहरी से गहरी ऐसी तह नहीं, जहाँ ईश्वर न हो; कोई पर्वत की चोटी ऐसी नहीं, जहाँ परमात्मा न हो। सूर्य्यलोक, चन्द्रलोक, तारागण इत्यादि जितने भी लोक-लोकान्तर हैं, सब स्थानों में परमात्मा विद्यमान है। किसी स्थान पर मनुष्य परमात्मा से छिप नहीं सकता। जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध करते हैं अर्थात् ईश्वर को भुला देते हैं, वे जन्म-मरण के दुःखों को भोगते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि परमात्मा को सब जगह उपस्थित जाने, तब उसके विरुद्ध करने से दुःख की उत्पत्ति का ज्ञान होने से कभी पाप करने के लिये उद्यत न हो। किसी का धन लेने की इच्छा न करे; क्योंकि परमात्मा का नियम है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार भोग देता है किसी मनुष्य को उसके विरुद्ध स्वेच्छा से भोग प्राप्त नहीं हो सकता। अतः दूसरे का धन लेने की इच्छा से पाप तो अवश्य होगा ही और भोग में कुछ भी अन्तर नहीं आयेगा। इसी को लोभान पापान कहते हैं।

प्रश्न—यद्यपि इस वेद-मन्त्र से ईश्वर का सर्व-व्यापी होना पाया जाता है; परन्तु हम ईश्वर को कहीं नहीं देखते। अब हम तुम्हारे इस वेद-मन्त्र को मानें या अपनी आँखों से देखी हुई वस्तुओं का विश्वास करें। यदि ईश्वर है, तो बताओ कहाँ है?

उत्तर—बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो सूक्ष्मता और दूरी आदि के कारण दिखाई नहीं देतीं, परन्तु उनकी सत्ता को सब मनुष्य मानते हैं जैसे बुद्धि, आत्मा, दुःख इत्यादि हैं। इससे

सिद्ध हुआ कि संसार में ऐसी वस्तुएँ विद्यमान हैं, जिनको मनुष्य इन्द्रियों से नहीं जान सकते। उनमें से एक ईश्वर भी है। यदि प्रश्न यह हो कि ईश्वर कहाँ है, सर्वथा असंगत है; क्योंकि कहाँ शब्द एक देशी के लिये आता है और वेद मन्त्र ने ईश्वर को सर्वव्यापक बताया है। जैसे कोई कहे कि दूध में घी या मिश्री में मिठास कहाँ है, तो उत्तर होगा, सर्वत्र। इससे कहाँ का आक्षेप एक देशी वस्तुओं के लिये उचित प्रतीत होता है, सर्व व्यापी के लिये नहीं।

प्रश्न—जो मनुष्य ईश्वर को नहीं मानते, वे अधिक धनवान प्रतीत होते हैं, जैसे चीनी आदि नास्तिक जातियाँ। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर के मानने से दरिद्रता और दुःख प्राप्त होते हैं।

उत्तर—प्रथम तो यह प्रश्न ही ठीक नहीं कि नास्तिक मनुष्य अधिक धनवान होते हैं, क्योंकि ईसाई, यहूदी जो ईश्वर की सत्ता को मानते हैं, बड़े बड़े धनवान हैं। दूसरे धनी होना कोई अच्छी बात नहीं; किन्तु जितने धनिक देखे जाते हैं उन सबमें अन्य अधिक बुराइयाँ देखी जाती हैं। वेदों के माननेवाले तो इस प्रकार के धन को, जिससे मुक्ति मार्ग में बाधा के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ नहीं होता, बुरा मानते हैं।

प्रश्न—क्या कोई मनुष्य बिना धन के सिद्ध-मनोरथ हो सकता है?

उत्तर—संसार में तो मनुष्य के लिये धन की आवश्यकता होती है, परन्तु उससे मनुष्य अपने लक्ष्य स्थान से सर्वथा दूर हो जाता है। जो लोग संसार और धर्म, दोनों एक साथ प्राप्त करना चाहते हैं, वे बड़े मूर्ख हैं।

प्रश्न—क्या वेदों में धन कमाने की आज्ञा नहीं है?

उत्तर—वेदों में प्रत्येक वस्तु के विषय में, जिनका जीवन में काम पड़ता है, वर्णन है। नीच मनुष्य ही धन की विशेष इच्छा करते हैं; परन्तु वेदों में धन को कहीं मुक्ति का साधन नहीं लिखा; किन्तु योगाभ्यास और वैराग्य को मुक्ति का साधन बताया है। वैराग्य का अर्थ सब संसारिक वस्तुओं की इच्छा का त्यागन है। जो मनुष्य संसारिक पदार्थों की इच्छा में फँसे है, वही ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करते हैं। जितने झगड़े संसार में फैले हैं, उन सबका मूल कारण दूसरों का अधिकार छीनना है। यदि मनुष्य केवल इसी वेद मन्त्र के समान आचरण वाले हो जावें, तो लड़ाई झगड़े सब दूर हो जावें। चोरी लूट मार दंभ और ठगी का सर्वथा अन्त हो जावे, पुलिस और सेना की आवश्यकता ही न रहे, न्यायालय बन्द दिखाई दें। तात्पर्य यह है कि जितनी बुराइयाँ आज संसार में दिखाई देती हैं, कहीं उनका चिह्न भी न दिखाई दे और प्रत्येक मनुष्य संसार में स्वर्ग से बढ़ कर आनन्द उठाने लगे।

प्रश्न—क्या ईश्वर के भय से वैराग्य ग्रहण करके कर्मों को सर्वथा त्याग देना चाहिये।

उत्तर—कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥२॥

प० क्र०—(कुर्वन) करता हुआ। (एव) ही। (इह) इस संसार में। (कर्म्माणि) कर्मों को। (जिजीविषेत्) जीना चाहे। (शतम्) सौ। (समा) वर्ष। (एवं) इस भाँति। (त्वयि) तुझमें। (न) नहीं। (अन्यथा) अन्य प्रकार।

(इतः) इसके सिवाय। (अस्ति) है। (न) नहीं। (कर्म) कार्य। (लिप्यते) आलेपन करता है (नरे) मनुष्य में।

अर्थ—इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीव को इस बात का उपदेश करते हैं कि हे जीव! तू इस संसार में सौ वर्ष तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर अर्थात् यावज्जीवन पर्यन्त कर्म करता रह। तेरे लिये सब से उत्तम मार्ग यही है; क्योंकि शुभ कर्म जीव के बन्धन का कारण नहीं होते। बहुत-से मनुष्य यह कहेंगे कि मंत्र में तो केवल कर्म करने का विधान है, तुम शुभ कर्म किस प्रकार कहते हो। तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध दूसरों का अधिकार करने वाले कर्मों के करने की मनाई पिछले मंत्र में हो चुकी है। उनके सिवाय जो कर्म हैं, वह सब ईश्वर की आज्ञा के अनकूल होने से शुभ ही हैं। किसी प्रकार की बुराई हो नहीं सकती; क्योंकि ईश्वर कभी दुःखदायक कर्म के करने का उपदेश जीव को नहीं करते और कर्म के उपदेश का प्रयोजन भी यही है। मनुष्य सदा भला या बुरा कुछ न कुछ कर्म करता रहता है, अतः कर्म के उपदेश की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु पूर्व मंत्र में किसी का अधिकार अपहरण करने वाले कर्मों का उपदेश कारण किया कि बिना शुभ कर्मों के किये मनुष्य अशुभ कर्मों से बच नहीं सकता। बुरे कर्मों से सदा दुःख उत्पन्न होता है परन्तु कोई मनुष्य दुखः की इच्छा से कोई कार्य नहीं करता। इस सब बुराई को दूर करने के लिये उपदेश किया कि किसी समय भी शुभ-कार्य से रहित न रहो, जिसमें अवकाश न मिलने से अशुभ कर्म का विचार ही उत्पन्न न हो। क्योंकि मन सदा कर्म करता रहता है, वह किसी समय भी कर्म से भिन्न नहीं होता। ऐसी दशा में जबकि मन की शक्ति को समाधि या

सुषुप्ति के द्वारा सर्वथा रोक दिया जाय, मनुष्य का सबसे बढ़कर कर्त्तव्य यह है कि वह मन को अवकाश न दे। इसलिये एक दृष्टांत लिखते हैं:—

एक समय किसी धनी के यहां एक मनुष्य ने आकर निवेदन किया कि मैं नौकरी चाहता हूँ। धनी ने पूछा—"क्या वेतन लोगे?" सेवक ने कहा—"मेरा वेतन यही है कि मुझे सदा काम करने को मिलता रहे। जब ही काम न दोगे, मैं तुम्हें मार डालूँगा।" धनी ने सोचा कि सेवक तो बहुत अच्छा है, जो कुछ वेतन नहीं चाहता और काम करने के लिये सदैव तत्पर है और कभी विश्राम लेने का नाम भी नहीं लेता। हमें अपने कामों के लिये बहुत-से मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है। जब काम देखेंगे उसको काम देते रहेंगे; शेष नौकरों को निकाल देंगे। तात्पर्य यह है कि उस धनी ने सेवक की प्रतिज्ञात सेवा अंगीकार करली। सेवक बड़ा फुर्तीला था। काम जिह्वा से निकला नहीं कि झट पूर्ण किया। एक दो दिन में ही धनी के सब काम समाप्त हो गये। अब उसे चिन्ता हुई कि यदि इसे काम नहीं देते, तो यह अवश्य मार डालेगा। यदि काम दें, तो इतना काम कहाँ से लावें। इस चिन्ता ने धनी के चित्त को सब प्रकार अशान्त कर दिया। खाना-पीना सब बन्द हो गया। एक दिन किसी विद्वान् ने धनी से पूछा कि आपके पास इतना धन है, तो भी आप इतने दुर्बल क्यों होते जाते हो। धनी ने सब वृत्तान्त वर्णन किया। विद्वान् ने कहा कि तुम अपने कामों पर ही उसे निर्भर क्यों रखते हो? उसे मुहल्ले और शहर के मनुष्यों के कामों पर लगा दो। यदि वह उसे भी पूरा कर दिखाये, तो सब मनुष्य के हित के कामों पर लगा दो। यदि इससे भी निवृत्त हो जाय, तो प्रत्येक जीव की सेवा का काम लो।

यह असीम (बड़ा) काम उससे जन्म भर में पूरा न होगा और तुम उसके हाथ से बच जाओगे।

यही दशा प्राणियों के मन की है। जिस समय उसे शुभ-कार्य से समय मिलेगा उसी समय मनुष्य के नाश करने वाले कामों में लग जावेगा। इस कारण उस मन को परोपकार के कार्य में लगाये बिना संसार की बुराइयों से बच नहीं सकते। न बुरा काम करके विपत्ति रहित और कष्ट से मुक्त हो कर किसी शुभ परिणाम की आशा ही कर सकता है। मनुष्य के अपने काम इतने थोड़े हैं कि मन उनको अति शीघ्र पूरा कर लेता है। भगवान् रामचन्द्रजी ने भी वीर हनुमान् को यही उपदेश किया था कि इच्छा रूपी नदी शुभ और अशुभ रूपी दो कर्म मार्गों में बहती है। जो इच्छा ईश्वर की आज्ञा के अनुसार हो, वह शुभ है और जो उसके विपरीत है, बुरी कामना है। इसलिये ईश्वर को सर्व व्यापी समझ और यह सोचकर कि उसकी आज्ञा के विरुद्ध कर्म करने से दुःख भोगना पड़ेगा, स्वार्थपरता और दूसरों का अधिकार छीनने की भावना छोड़कर परोपकार और दूसरों की भलाई के काम करना चाहिये। जो मनुष्य दूसरों की भलाई के काम करते हैं, वह सदैव सुख से रहते हैं। इसलिये परोपकार की इच्छा जो शुभ है, सदा मन में रखकर संसार के उपकार पर कमर कसनी चाहिये। जब तक प्राण रहें, कभी उस उपकार के काम से दूर होकर जीवन न व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि मनुष्य-जीवन इतना अमूल्य है कि उसका बार-बार मिलना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्य ईश्वर के नियमों की चिन्ता न करके मनुष्य-जीवन को वृथा कामों में खो रहे हैं, उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं; और जो दूसरों को हानि पहुँचा

कर निज लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, वह पूर्ण पशु हैं। मनुष्य वही बुद्धिमान कहलाते हैं, जो सदा परोपकार के कामों में लगे रहते हैं। जिनके जीवन का ध्येय ही दूसरों की भलाई करना है और जो संसार के उपकार में लगे रहते हैं, वही प्राणी ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो शुभ काम दूसरों के हित के लिये किये जाते हैं, वह कभी बंधन के निमित्त नहीं होते। बंधन के हेतुक वही कर्म होते हैं, जो ईश्वर की आज्ञा के प्रतिकूल किये जाते हैं और जिनमें दूसरों का स्वत्व (अधिकार) छीनने का भाव विद्यमान है। अतएव, जो मनुष्य अपने जीवन को परोपकार में पूरा करेंगे, वही संसार के बुरे कर्मों से बचकर शुभ-कर्मों द्वारा मन को शुद्ध करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्ति के अधिकारी होंगे। इस वेद-मंत्र का यही तात्पर्य है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

प० क्र०—(असुर्य्यान) प्रकाश-रहित। (नाम) नाम वाले हैं। (ते) वे। (लोकाः) शरीर। (अन्धेन) घोर। (तमसा) अंधकार से। (आवृताः) ढँके हुए हैं। (तान्) उनको। (ते) वे। (प्रेत्य) मरकर। (अपि) भी (गच्छन्ति) जाते हैं। (ये) जो। (के च) कोई। (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध करने वाले। (जना) मनुष्य हैं।

अर्थ—वे मनुष्य महा तामस शरीरों में मरने के पश्चात् जातेहैं, जोकि अपने आप को मार डालते हैं। अन्धकारवाले शरीर का अर्थ जिनमें जाने से जीव के ज्ञान की शक्ति बहुत ही न्यून हो जाती है; क्योंकि सूर्य प्रकाशक शक्ति है और प्रकाश

ज्ञान को भी कहते हैं, अतः सूर्य (ज्ञान) से रहित अन्धकार वाले लोक (शरीर) का तात्पर्य ज्ञान से रहित योनि से है; क्योंकि ज्ञान का अर्थ शुभाऽशुभ को जानकर उसके द्वारा दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करना है। जिन योनियों में सुख के प्राप्त करने के लिये और दुःख से छूटने के लिये जो साधन हैं, उनका ज्ञान न हो, वह सब योनियाँ ज्ञान के प्रकाश से रहित हैं और ज्ञान के प्रकाश का अर्थ वेदों की शिक्षा से है ; क्योंकि वेद का अर्थ ज्ञान है और सृष्टि के आरम्भ में होने से उनका स्वतः प्रकाश अर्थात् बिना किसी अन्य शिक्षा के प्रकाशित होना भी माना गया है। अतः जिन लोकों (शरीर) में वेदों की शिक्षा नहीं दी जा सकती, वह लोक (शरीर) सूर्य अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से रहित हैं ; परन्तु वेद-मन्त्र ने अंधकार से पूर्ण होने का समर्थन किया है। कुछ मनुष्यों का यह विचार हो सकता है कि जब सूर्य का प्रकाश ही नहीं होगा, तो मनुष्य स्वयं ही अन्धकार से भरपूर होंगे, फिर वेद में ऐसे शब्द क्यों प्रकट किये। परन्तु ज्ञानी मनुष्य जान सकते हैं कि सूर्य के न होने की अवस्था में सर्वथा अन्धकार ही नहीं बना रहता; किन्तु दीपक के प्रकाश की दशा में भी सूर्य नहीं होता। इस लिये वेद ने बता दिया कि जिन लोकों में सूर्य (ईश्वरीय प्रकाश वेद) और (दीपक) अर्थात् मानुषी शिक्षा, किसी प्रकार का (ज्ञान) नहीं होता, आत्मा को नाश करने वाले मनुष्य उन लोकों (शरीरों) में प्रवेश करते हैं।

प्रश्न—जब कि तुम आत्मा की उत्पत्ति ही नहीं मानते, तो नाश भी किसी भाँति नहीं हो सकता। यह उपदेश जो कि उसकी आत्मा को नाश करने के अभिप्राय में है, किस प्रकार ठीक हो सकता है; क्योंकि अविनाशी आत्मा का नाश

तो हो ही नहीं सकता। जब कि इस अपराध का होना असम्भव है, तो उसका दण्ड विधान प्रत्यक्ष मूर्खता है।

उत्तर—नाश करने से तात्पर्य उस (आत्मा के) अधिकार नष्ट करने से है, क्योंकि जीवात्मा को परमात्मा ने मन इत्यादि पर आधिपत्य दिया है और यह सब इन्द्रिय, मन और शरीर आत्मा को ध्येय स्थान तक पहुँचाने के लिये साधन दिये हैं। अतएव जो मनुष्य आत्मा को इस लक्ष्य पद से गिराकर मन, इन्द्रिय और शरीर का दास बना देते हैं, वह सचमुच आत्मा का हनन करते हैं।

प्रश्न—जब कि परमात्मा ने आत्मा को शासक और मन आदि को दास बनाया है, तो मनुष्य उसके विरुद्ध किस प्रकार काम कर सकता है?

उत्तर—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु जिस समय परमात्मा के विरुद्ध करता है, तो उसे दुःख मिलता है और जब परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल कार्य करता है, तो उसे सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—तुम जो "नाश" करने का अर्थ "अधिकार—नाश" लेते हो, उसमें क्या प्रमाण? क्योंकि मन्त्र में तो आत्मा का मारना लिखा है।

उत्तर—यहाँ अर्थ करने में लक्षणा शक्ति का आश्रय किया है, क्योंकि जहाँ अक्षरों से असम्भव अर्थ निकले वहाँ लक्षणा-शक्ति से काम लिया जाता है। जैसे किसी ने कहा "मचान पुकारते हैं।" इस वाक्य में मचान में पुकारने की शक्ति का होना असम्भव है, इसलिये वहाँ यह लक्षणा करते हैं कि मचान पर बैठे हुए मनुष्य पुकारते हैं।

प्रश्न—तुम्हारा यह प्रमाण ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कथन हमने कभी नहीं सुना। दृष्टान्त वह होता है, जिसे प्रत्येक मनुष्य मान ले।

उत्तर—जब मनुष्य रेलगाड़ी पर बैठे हुए कहते हैं कि मेरठ आ गया, तो बुद्धिमान् जानता है कि मेरठ तो जड़ पदार्थ है, उसमें आने की क्रिया का होना असम्भव है। इसलिये वह उसके अर्थ यह समझता है कि रेलगाड़ी मेरठ पहुँच गई, और आने की क्रिया को मेरठ के स्थान में रेलगाड़ी पर लगा देता है।

प्रश्न—यदि इस प्रकार मन-माना अर्थ किया जाय, तो किसी शब्द का कोई ठीक अर्थ कुछ भी न होगा; किन्तु जहाँ जो चाहो, कर लो।

उत्तर—नहीं, शब्दों के यथार्थ समझने के लिये ही यह शक्तियाँ नियत की गई हैं जिसमें कि कहने वालों का ठीक-ठीक प्रयोजन समझ में आ जाय और मनुष्य भ्रम-जाल में न पड़े रहें।

प्रश्न—तुमने 'लोक' शब्द का अर्थ 'शरीर' (योनि) किस प्रकार किया; क्योंकि किसी कोष मे लोक का अर्थ 'शरीर' नहीं किया गया।

उत्तर—'लोक' शब्द का अर्थ दृश्य-पदार्थ है। देह के दृश्यमान होने से पिंड अर्थात् जगत् की तुलना की जाती है। इसलिये 'लोक' शब्द का अर्थ शरीर करना ठीक है, और 'प्रेत्य' शब्द अर्थात् मरने के पश्चात् प्राप्त होने से अन्य योनि (देह) का नाम भी लोक ठीक हो सकता है।

अनेजदेकमनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

प० क्र०—(अनेजत्) अकंपन अभय । (एकम) उपमा रहित । (मनसः) मन से । (जवीयः) शीघ्र गामी । (न) नहीं । (एनत्) इसे । (देवाः) प्रकाश करने वाला । (आप्नुवन्) प्राप्त कर सके । (पूर्वम्) प्रथम ही । (अर्षत्) विद्यमान होने से । (तत्) वह । (धावतः) दौड़ते हुए । (अन्यान्) औरों को । (अत्येति) उलाँघ कर । (तिष्ठत्) ठहरा हुआ । (तस्मिन्) उसमें । (अपः) जलों को । (मातरिश्वा) वायु । (दधाति) धारण करता है ।

अर्थ—उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में ईश्वर का सर्व व्यापकत्व और उसकी आज्ञानुसार यावज्जीवन कर्म करने का उपदेश और उससे विरुद्ध आत्मा के अधिकार को नाश करने वालों को दण्ड विधान बताकर, अब ईश्वर की परिभाषा करते हैं। क्योंकि बिना ठीक-ठीक परिभाषा जाने हुए उससे जो लाभ लेना चाहिये, उसमें मनुष्य नहीं लगते; जिससे सुख की सामग्री उपस्थित होते हुए भी सुख से रहित रहते है। इस मन्त्र का यह अर्थ है कि वह परमात्मा सर्व-व्यापी होने से कभी काँपता या क्रिया शील नहीं और एक होने के कारण कभी भय भी उसके समीप नहीं आता; क्योंकि जिसके बराबर कोई न हो और न उससे कोई बड़ा हो, तो उसे किससे भय हो सकता है। वह परमात्मा सर्वव्यापक होने से मन से भी आगे चलने वाला हैं। जहाँ मन जाता है, परमात्मा वहाँ उससे पूर्व उपस्थित पाया जाता क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ होने से

पहिले सब स्थानों में विद्यमान होता है, इसलिये इन्द्रियाँ उसको नहीं पा सकतीं अर्थात् उसका अनुभव नहीं कर सकतीं। जो परमात्मा को जानने के लिये इधर उधर दौड़ते हैं, वह परमात्मा को कदापि नहीं पा सकते अर्थात् जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ विषयों के लिये जाती हैं, वहाँ-वहाँ परमात्मा उनसे आगे पूर्व ही विद्यमान होते हैं। इस सब का यह तात्पर्य है कि ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता और जो लोग इन्द्रियों से ईश्वर का दर्शन करने के लिये चारों ओर दौड़ते हैं, कभी परमात्मा को जानने के अधिकारी नहीं कहे जा सकते, जब तक कि वह संसार के विषयों से सर्वथा पृथक न हो जायँ।

प्रश्न—क्या ब्रह्म क्रिया शील नहीं?

उत्तर—ब्रह्म सर्वव्यापी होने से तनिक भी क्रिया नहीं करता परन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु उसकी शक्ति से चलायमान है।

प्रश्न—ब्रह्म साकार है या निराकार?

उत्तर—प्रत्येक साकार वस्तु परिछिन्न होती है और परिछिन्न पदार्थ चल-फिर सकते हैं, परन्तु मंत्र में बताया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से चलने आदि से रहित है, इसलिये वह साकार नहीं हो सकता, उसको शास्त्र में निराकार ही लिखा है।

प्रश्न—ब्रह्म निराकार है, इसमें कोई प्रमाण नहीं; क्योंकि आकारवाली वस्तुएँ ही कार्य कर सकती हैं ब्रह्म सृष्टि की रचना इत्यादि का कार्य करता है, इसलिये वह किसी प्रकार निर्गुण अर्थात् निराकार नहीं हो सकता।

उत्तर—आकार जाति का चिह्न है और वह जाति उन पदार्थों में रहती है, जो एक से अधिक हों। यतः ब्रह्म एक है, इसलिये

उसमें जाति नहीं है। जब जाति नहीं, तो उसका चिह्न (आकार) भी नहीं और यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सगुण वस्तु साकार ही हो, क्योंकि गुण प्रत्येक साकार व निराकार पदार्थ में रह सकते हैं।

प्रश्न—कोई निराकार वस्तु काम करती हुई दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिये निराकार ब्रह्म जगत को उत्पन्न करता है, यह असम्भव है।

उत्तर—जितना काम करता है, निराकार ही करता है। शरीर के अंग और यन्त्र इत्यादि जितनी साकार वस्तुएँ हैं, वह सब निराकार के कार्य करने के साधन हैं। क्या जीव साकार है? यदि वह साकार होता, तो देह से निकलता हुआ अवश्य दृष्टिगोचर होता। क्योंकि जीव भी तो शरीर के चलाने आदि का कार्य करता है, इसलिये निराकार ब्रह्म भी जगत् की रचना आदि (कार्य) करता है।

प्रश्न—मन्त्र में यह लिखा है कि ब्रह्म के कारण जल वायु को धारण करता है, इसका अर्थ क्या है?

उत्तर—वायु, जो मेघ आदि जल के परमाणुओं को इकट्ठा करता है,वह सब ब्रह्म की सहायता से ही करता है,नहीं तो जड़ वायु में कुछ भी करने की शक्ति नहीं, क्योंकि परमेश्वर सबसे अधिक शक्तिशाली है। कुछ मनुष्य इसका यह भी अर्थ निकालते हैं कि प्राण-वायु, जो कि माला के मणिकों में धागे की भाँति शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय और अवयव में पिरोया हुआ है, वह भी परमात्मा ही सहायता से सब कार्य्य करता है, नहीं तो प्राण-वायु में कोई शक्ति नहीं। माता के गर्भ में जीवात्मा उस की सहायता से ही अपने कामों को पूरा करता है। सारांश यह है कि परमात्मा की सहायता के बिना कोई

इन्द्रिय इत्यादि वस्तु काम नहीं कर सकती । इसी विषय को अगले मन्त्र मे और भी पुष्ट करते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्यसर्व्वस्य तदुसर्व्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

प० क्र०—(तत्) वह (ईश्वर) । (एजति) चलता है। (तत्) वह । (न) नहीं । (एजति) चलता है। (तत्) वह । (दूरे) दूर है। (तत्) वह । (उ) निर्विवाद निस्सन्देह अन्ति के निकट है। (तत्) वह । (अन्तः) भीतर। (अस्य) इस । (सर्वस्य) सब जगत् के । (तत्) वह । (उ) निर्विवाद निस्सन्देह (अस्य) इस । सर्वस्य) सब संसार के । (बाह्यतः) बाहर है।

अर्थ—उस परमात्मा को जिसको मूर्खजन एक वस्तु में देखकर दूसरी बार अन्य वस्तुओं में देखते हुये "चलता हुआ" जानते हैं और विद्वान् मनुष्य उसको सर्वव्यापक समझकर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान देखने से चलने से रहित जानते हैं, वह मूर्ख लोगों के विचार से बहुत ही दूर है; क्योंकि मनुष्य उसको संसार के दूर-दूर भागों में ढूंढने जाते हैं। जब वहाँ पर उसका चिह्न नहीं मिलता, तो संसार से बाहर चौथे सातवें आकाश, वैकुन्ठ, गोलोक, कैलाश, क्षीर-सागर, तात्पर्य यह है कि उसे बहुत ही दूर बताते हैं ; परन्तु विद्वानों और योगी मनुष्यों के विचार में उससे अधिक निकटतम कोई वस्तु नहीं; जीव आत्मा के भीतर बाहर होने से वह अति समीप है। इसलिये योगी मनुष्य उसे बाहर ढूँढ़ना छोड़कर समाधि के द्वारा अपनी आत्मा के भीतर उसे देखते हैं। वह संसार की प्रत्येक वस्तु के भीतर और बाहर विद्यमान है, कोई वस्तु उसको घेर नहीं सकती।

प्रश्न—'चलना' और 'न चलना' यह परस्पर विरोधी कर्म हैं। वह एक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं?

उत्तर—ब्रह्म में चलने का गुण (क्रिया) नहीं, किन्तु अज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करते हैं। इसलिये दो विरोधी गुण ब्रह्म में नहीं आते।

प्रश्न—क्या अज्ञानी मनुष्य ही ब्रह्म को क्रिया शील मानते हैं? हमारी समझ से तो मनुष्य ब्रह्म को जगत्कर्त्ता मानते हैं, उनको ब्रह्म क्रिया शील मानना पड़ता है।

उत्तर—जगत्कर्त्ता होने के लिये ब्रह्म को क्रिया शील होने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वह सर्वव्यापक होने से विना क्रिया शील हुये ही सब कार्य्यों को कर सकता है और यह कहीं नियम भी नहीं कि किसी कार्य के लिये क्रिया करना आवश्यक ही हो।

प्रश्न—संसार में कोई कार्य विना क्रिया के बनता हुआ नहीं दिखाई देता। इसलिये गति और कर्म का होना कार्य्य पूर्ति के लिये आवश्यक ही हो।

उत्तर—क्या चुम्बक पत्थर को जो लोहे को अपनी ओर खींचता है, इसके लिये क्रिया की आवश्यकता है? कदापि नहीं जब कि चुम्बक लोहे को विना गति क्रिया के खींचता हुआ प्रतीत होता है तो ईश्वर में कार्य्य करने के लिये क्रियात्मक गुण को आवश्यक समझना भारी भ्रम है।

प्रश्न—ब्रह्म जगत के भीतर तो हो सकता है, जगत के बाहर ब्रह्म कहाँ रह सकता है? इसलिये यह विचार समीचीन नहीं कि ब्रह्म जगत के भीतर बाहर सर्वत्र विद्यमान है।

उत्तर—यदि तुम 'जगत' शब्द के अर्थ को समझते, तो तुम्हें इस आशंका का अवसर ही न मिलता; क्योंकि जगत

का अर्थ उत्पन्न होने वाला और नाश होने वाला है, इसीको 'विकृति कहते हैं। संसार में 'प्रकृति' दो प्रकार की है—एक प्रकृति दूसरी विकृति। परमात्मा 'प्रकृति' के भीतर व्यापक है और 'विकृति' प्रकृति का एक विकारांग है, इसलिये परमात्मा जगत अर्थात प्रकृति विकृति के भीतर बाहर दोनों ओर व्यापक है।

यस्तु सर्व्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

प० क्र०—(यः) जो। (तु) तो। (सर्व्वाणि) सब। (भूतानि) प्राणियों को। (आत्मनि) अपने में। (एव) ही (अनुपश्यति) सूक्ष्म दृष्टि से देखता है। (ततः) फिर अज्ञान से। (न) नहीं। (विजुगुप्सते) निन्दित काम करता हैं।

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्येक प्राणी के दुखः को अपना दुःख समझकर, प्रत्येक जीव में अपनापन अर्थात् आत्मभाव रखता है, अथवा जो मनुष्य प्रत्येक जीवात्मा और पंचभूतों के भीतर दशा परमात्मा को विद्यामान देखता है और सर्व संसार को परमात्मा से छोटा होने के कारण उस (ब्रह्म) के भीतर विद्यमान देखता है वह मनुष्य कभी पाप-कर्म नहीं करता। क्योंकि पाप सदा उस में होता है,जब कि स्वार्थवश दूसरों के अधिकार अपहरण का ध्यान लगा रहता है। अन्य के अधिकार अपहरण का साहस तब होता है जब अपने से अधिक दण्ड देने वाली बलवती शक्ति न मानी जाय। जब अपने से अधिक बलवाली शक्ति दण्ड देने वाली प्रतीत होती है, तब इस भय से कि अपराध करने के पश्चात् दण्ड से बचा रहना बहुत कठिन है और दण्ड से क्लेश होता है। फिर दुःख भोगने की

इच्छा से कोई कर्म नहीं किया जाता। अतः प्रत्येक वस्तु के भीतर परमात्मा को समझने वाला मनुष्य कभी पाप नहीं कर सकता।

प्रश्न—केवल पाप से बचने के लिये परमात्मा को सर्वत्र मानने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि यह कार्य तो राज्य के भय से भी चल सकता है। देखो, आजकल अङ्गरेजी राज्य के प्रबन्ध से पापों की कितनी कमी हो गई है।

उत्तर—अल्पज्ञ और एक देशीय जीवात्मा के भय से यह काम नहीं चल सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल भी मिलता है। अङ्गरेजी गवर्नमेंट के नियमों में रिशवत लेना अपराध है, परन्तु प्रत्येक न्यायालय के कर्मचारी दोनों हाथों से रिश्वत लेते हैं। पुलिस तो प्रायः रिश्वत लेकर अपराधियों को बचा निरपराधियों को फाँसी तक दिला देती है। जिस गवर्नमेण्ट के भय से उसके कर्मचारी जिनका सम्बन्ध रात-दिन अफ़सरों से पड़ता है, डर न खाकर रात-दिन पाप करते हैं, तो उस गवर्नमेण्ट से भय खाकर गुप्त प्रकार से पाप करने-वाले किस भाँति पाप करने से बच सकते हैं। मनुष्य को पाप से बचानेवाला ईश्वर के ज्ञान के सिवाय और कोई नहीं है।

प्रश्न—यदि राज्य भय से पाप दूर नहीं हो सकते, तो फिर वेदों में राज्य के नियम और राज्य की आवश्यकता क्यों बतलाई है?

उत्तर—परमात्मा सब जगत् के भीतर रहकर भी कर्मों का फल दूसरों के द्वारा दिलाता है, इसलिये राज्य-नियम का उपदेश किया गया। राज्य-नियम को कर्मों का फल-दाता मानने से ही पाप दूर हो सकते हैं।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि राज्य के उद्योग से भी पाप की जड़ दूर नहीं हो सकती?

उत्तर—राजा अल्पज्ञ अर्थात् थोड़े ज्ञानवाला होता है। उसकी शक्ति भी अल्पज्ञ और सीमावाले शरीर पर प्रभाव रखती है। मन और आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। राजा के दण्ड से भी शरीर ही बन्दीगृह में होता है; मन क़ैद नहीं हो सकता। पाप की जड़ मन है। अतः मन से अधिक सूक्ष्म परमात्मा ही केवल उसको नाश कर सकता है।

प्रश्न—क्या शक्ति सूक्ष्म में ही होती है ? हम तो यह देखते हैं कि जो अधिक स्थूल वस्तु है, वह अधिक शक्तिशाली होती है और साधरणतः स्थूल वस्तु ही शक्तिवाली देखी जाती है।

उत्तर—शक्ति सदा सूक्ष्म वस्तु में रहती है। जो जिसके भीतर प्रवेश कर सकता है, वही उसका ठीक प्रकार से संशोधन कर सकता है। जल मिट्टी की अपेक्षा सूक्ष्म है, वह मिट्टी की दीवार को गिरा सकता है; अग्नि जल को उड़ा सकती है वायु अग्नि को पृथक् कर सकती है। इस प्रकार परमात्मा, जो सबसे सूक्ष्म है, वही मन को शुद्ध कर सकता है। आगे मंत्र में इसका और भी समर्थन किया है—

यस्मिन् सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

प० क्र०—(यस्मिन्) जिसमें। (सर्व्वाणि) समस्त। (भूतानि) प्राणियों को। (आत्मा) स्वयम्। (एव) ही। (अभूत) हुआ। (विजानतः) जानता हुआ। (तत्र) वहाँ। (कः) कौन। (मोह) मिथ्या प्रेम। (कः) कौन। (शोक) दुःख। (एकत्वम्) सम भाव को (अनुपश्यतः) देखते हुए।

अर्थ—जिस दशा में मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि सब जीव एक ही हैं और उसी जीवात्मा ने कर्मों

का फल भोगने के लिये यह नाना प्रकार के रूपों को ग्रहण किया है, तो उसको अपने और अन्य पशुओं के बीच में कोई भेद प्रतीत नहीं होता, उक्त दशा में न तो उसे कोई भ्रम ही उत्पन्न होता है न किसी को मित्र अथवा किसी को शत्रु ही मानता रहता है किन्तु वह सब संसार में एकता को ही अनुभव करता है।

प्रश्न—क्या सब वस्तुएँ आत्मा से उत्पन्न नहीं हुई? यदि हुई हैं तो सब में आत्मा कैसे गुण (चेतनत्व) होने चाहिये।

उत्तर—उत्पन्न होने का अर्थ प्रकट होता हैं अतः सब वस्तुएँ आत्मा के प्रकाश से ही प्रकट होती हैं; परन्तु उन्हें आत्मा का स्वरूप नहीं कह सकते। जैसे दीपक के प्रकाश से घर की सब वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं परन्तु वस्तुओं में दीपक के गुण नहीं आ जाते।

प्रश्न—क्या यह दशा सब को प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—निःसन्देह, जगत के प्रत्येक जीव का नियत स्थान यही है कि जो इसके लिए उद्योग करता है वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जिस भाँति जो मनुष्य सीधे मार्ग पर चला जाता है वह नियत स्थान पर पहुंच जाता है; परन्तु वही मनुष्य थोड़ी दूर चलकर बैठ जावे या उलटी राह पर चलने लगे, तो निश्चय स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतः जो साधनों को ठीक ठीक करता है वह आत्मा शान्ति प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—इस नियत स्थान पर जाने के क्या साधन हैं?

उत्तर—प्रथम साधन ज्ञान है, दूसरा कर्म तीसरे उपासना। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं तब तक ठीक ठीक कर्म नहीं हो सकता; जब तक यथातथ्य कर्म न हो उपासना नहीं हो सकती

और जब तक उपासना न हो तब तक उस (ब्रह्म) के गुणों को भले प्रकार अपने आत्मा में अनुभव नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—सब मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान इस प्रकार बताते हैं अर्थात् कर्म को पहला, उपासना को दूसरा और ज्ञान को अंतिम साधन बतलाते हैं। अतएव तुम्हारा यह कहना किस प्रकार ठीक माना जाय? क्योंकि सब विद्वानों की सम्मति के विरुद्ध है।

उत्तर—हमारा कहना सब महात्माओं के विरुद्ध नहीं; किन्तु वेदों और सृष्टि-नियम के अनुसार है, इसमें बहुत-से प्रमाण हैं। प्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से मिलता है, क्योंकि ऋचा ऋग् का अर्थ स्तुति है, जिससे ज्ञान प्राप्त करके यजुर्वेद के अनुसार कर्म करने का उपदेश मिलता है और साम से उपासना का ज्ञान होता है। दूसरे, तीनों आश्रमों के क्रम से भी ज्ञान होता है; क्योंकि ब्रह्मचर्य-आश्रम में शिक्षा के से ज्ञान और शेष आश्रमों में कर्म इत्यादि होते हैं। तीसरे, वर्णों के अनुक्रम में भी ब्राह्मण (ज्ञानवाले) को पहले बताया है। संक्षेपतः जहाँ तक विचार किया जा सकता है, यही प्रतीत होता है कि पहले ज्ञान और उसके पश्चात् कर्म और फिर उपासना होनी चाहिये। जब से ज्ञान को छोड़कर पहले कर्म और फिर उपासना को स्थान दिया गया तब ही से अविद्या का अंधकार फैल गया।

प्रश्न—ज्ञान से पहले कर्म मानने में क्या-क्या दोष हैं?

उत्तर—प्रथम तो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है; क्योंकि प्रकृति का यह नियम है कि मनुष्य आँख से देखकर चलता है न कि चलकर देखता है। दूसरे यदि ज्ञान बिना किसी भी कर्म

को कर्त्तव्य कर्म मान लिया जाय, तो अधर्म और धर्म मूलक कर्मों में पहिचान कठिन हो जायगी; अतः ज्ञान के द्वारा धर्म कर्मों को जानकर उसके अनुसार काम करना चाहिये। अब परमात्मा के ज्ञान का उपदेश करते हैं।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्ध-मपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

प० क्र०—(सः) वह (ईश्वर)। (परि) सब ओर से। (आगात्) विद्यमान है। (शुक्रम्) जगत् को उत्पन्न करने वाला। (अकायम्) शरीर-रहित। (अव्रणम्) रन्ध्र रहित। (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों के बन्धन से बाहर। (शुद्धम्) पवित्र। (अपापविद्धम्) पापों से मुक्त। (कविः) ज्ञानी। (मनीषी) मन के भीतरी भावों का ज्ञाता। (परिभूः) सर्व-व्यापक। (स्वयम्भूः) जन्म रहित (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक। (अर्थात्) वस्तुओं को। (व्यदधात्) भले प्रकार उपदेश करता है। (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदैव नित्य जीवों के लिये।

अर्थ—वह परमात्मा, जिसकी आज्ञानुसार कर्म करने से मनुष्य दुःख से छूट जाता है, सर्वव्यापक है। उसका न कोई प्रतिनिधि है, न सांसारिक राजाओं के समान मन्त्री, जागीरदार और सैनिक हैं। इन सब की आवश्यकता केवल एकदेशीय और शरीर-धारी के लिये ही होती है। परमात्मा शरीर रहित है और शरीर-धारी न होने से रन्ध्र (रोम कूप) इत्यादि से रहित है। जो किसी प्रकार भी क्षत-विक्षत हो नहीं हो सकता, क्योंकि वह शरीर और नाड़ियों के बन्धन में ही नहीं। वह सब प्रकार की अपवित्रताओं से रहित होने से शुद्ध है, क्योंकि

अशुद्धता सदा स्थूल पदार्थों में घर करती है। यतः परमात्मा सब से अधिक सूक्ष्म हैं; अतः वह तीनों काल में शुद्ध है और पाप के फल (दुःख) से भी रहित है; क्योंकि परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध चलने का नाम पाप है। वह परमात्मा अपने विरुद्ध कभी नहीं वर्त्तता, एवं सर्वज्ञ होने से प्रत्येक भेद को, जो जीवों की आँख ओझल है, जानते हैं। प्रत्येक वस्तु का उन्हें ज्ञान है, प्रत्येक मन के भीतर भाव उनको ज्ञात हैं; इसीलिये संसार में बिना ज्ञान के काम करने से जीवों को हानि पहुँचती है। इसी कारण परमात्मा ने प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान जीवों को सुख और शान्ति के निमित्त उपदेश किया है।

प्रश्न—परमात्मा ने किस प्रकार जीवों को ज्ञान का उपदेश किया है और वह ज्ञान कौन-सा है?

उत्तर—वह ज्ञान वेदों में है, जिसमें जीव को मुक्ति लाभ के निमित्त परमात्मा ने उपदेश किया है।

प्रश्न—निराकार परमात्मा विशेष कर वेदों की रचना और उसका किस प्रकार उपदेश कर सकता है? उपदेश करना वाणी से ही होता है और जिसके वाणी न हो, वह किस प्रकार उपदेश कर सकता है? यद्यपि किसी-किसी अवसर पर शरीर और इन्द्रियादि से भी उपदेश किया जा सकता है; परंतु जिसके शरीर ही न हो, वह किस प्रकार उपदेश कर सकता है? अतः निराकार का वेदों के द्वारा उपदेश करना सर्वथा असम्भव है।

उत्तर—शरीर और जिह्वा तो केवल बाहरवालों को उपदेश हेतुक आवश्यक हैं। परन्तु जो हमारे भीतर है वह हमको तो बिना शरीर और जिह्वा के ही उपदेश कर सकता है। जैसे, जब किसी मनुष्य का मन बुरे कार्य की ओर जाता है, तो आत्मा उससे भय, लज्जा और शंका उत्पन्न कराके रोकने का उपदेश

करती है अर्थात् यह विचार उत्पन्न होता कि सम्भव है कि यदि कोई देख ले तो क्या न हो जाय और सफलता हो अथवा न हो। अतः जो सबके भीतर विद्यमान है, उसको उपदेश करने के लिये शरीर धारण की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—निराकार बिना शरीर के जगत् को कैसे बना सकता है, क्योंकि हर एक वस्तु के बनाने के लिये हाथ-पाँव की आवश्यकता है। यदि हाथ-पाँव और साधन (यंत्र) न हों, तो यह नाना प्रकार का जगत् किस प्रकार बन सकता है ?

उत्तर—हाथ-पाँव या यंत्र की आवश्यकता भी एकदेशी को होती है; जो सर्व व्यापक हो, उसे हाथ-पाँव आदि किसी भी अंग की आवश्यकता नहीं। पेड़ों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्रकारी हाथ-पाँव के बिना बन जाती है, फूलों की पंखड़ियाँ, फूलों का रूप, मनुष्य का शरीर; संक्षेपतः लाखों वस्तुएँ बिना हाथ-पाँव के ही तो बनी हैं, जिससे प्रतीत होता है कि बिना हाथ-पाँव के उसके द्वारा बनना संभव है। केवल एकदेशी जीवात्मा को हाथ-पाँव की आवश्यकता होती है, सर्व-व्यापक परमात्मा को बनाने के लिये हाथ-पाँव आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं। इसके सिवाय हाथ-पाँव वाला सब कामों को कर भी नहीं सकता, क्योंकि कोई ऐसा मनुष्य दिखाई नहीं देता, जो परमाणु को पकड़ सके और न इस समय तक कोई ऐसा यंत्र आविष्कार ही हुआ विद्यमान है कि जिसके द्वारा परमाणु को पकड़ सकें। परमाणु के देखने-योग्य भी कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र इस समय तक नहीं बना; जिससे प्रतीत होता है कि सृष्टिकर्ता वही हो सकता है कि जिसके हाथ-पाँव और शरीर न हों, किन्तु वह परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म और सर्वव्यापी हो।

अन्धन्तमःप्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाश्रं रताः ॥ ६ ॥

प० क्र०—(अन्धम) घोर। (तमः) अन्धकार में। (प्रविशन्ति) जाते हैं। (ये) जो। (अविद्याम्) अविद्या की। (उपासते) उपासना करते हैं। (ततः) उससे। (भूयः) अधिक। (इव*) समान। (ते) वे। (तमः) अन्धकार को। (ये) जो। (उ२) जो। (विद्ययाम्) विद्या में। (रतः) लगे हुए हैं।

प्रश्न—जो मनुष्य अज्ञानी हैं, वह अज्ञान के कारण जीवात्मा के प्राकृतिक ज्ञान के विरुद्ध हैं। यदि वे गिरी हुई दशा को प्राप्त हों, तो ठीक ही है; परन्तु विद्या में लगे हुए मनुष्य उससे भी नीची अर्थात् गिरी हुई अवस्था को प्राप्त हो तो यह नितान्त अंधेरनगरी है।

उत्तर—पहले इस बात को सोचना चाहिये कि गिरी हुई अवस्था क्या है ? जहाँ तक खोज से पता लगा है, यही प्रतीत होता है कि जितना अधिक दुःख होगा उतनी ही गिरी हुई अवस्था भी होगी। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दुःख क्या वस्तु है ? उत्तर यह मिलता है कि स्वतंत्रता का न होना या आवश्यकता का होना और उसके हटाने की सामग्री का न होना ही दुःख है। अब जितनी आवश्यकता बढ़ती जायगी, उतनी ही उसके पूरा करने की सामग्री होगी, तो सुख होगा और यदि पूरा करने की सामग्री न होगी, तो भारी दुःख होगा ; क्योंकि अज्ञानी मनुष्य आवश्यकता रखते हैं, परन्तु

* तथा २ में समानता तथा शंका वाचक अव्यय की सूचना दी है।

पूरा करने की सामग्री नहीं रखते। इसलिये उनको दुःख होता है। जो मनुष्य प्राकृतिक विद्या उपार्जन करते हैं, उनकी आवश्यकतायें बहुत ही बढ़ जाती हैं, इसलिये न तो वह कभी पूरी हो सकती हैं और न उनका दुःख दूर हो सकता है। यदि इसकी तुलना करें कि अज्ञानी अधिक दुखी होते हैं या प्राकृत-विद्या के विद्वान्, तो किसी गाँव के निवासी और किसी नगर के निवासी के जीवन से परिणाम निकल आवेगा। गाँव का निवासी स्वस्थ और नगर का निवासी रोग-ग्रस्त होगा। गाँव वाला जिस निश्चिन्तता से खेत में सोता है, नगर वालों को वह निद्रा कभी स्वप्न में भी प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—सब मनुष्य तो अविद्या का अर्थ कर्म-कांड और विद्या का अर्थ ज्ञान-कांड लेते हैं, तुमने यह मनमाने अर्थ कहाँ से निकाल लिये? क्योंकि विद्या का अर्थ प्राकृतिक विद्या करना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

उत्तर—जिन मनुष्यों ने स्वयं कुछ नहीं विचारा, केवल वेदान्तियों के अर्थों को लेकर कर्म-कांड को अविद्या बता दिया और संसार से विरक्त, सांसारिक कर्मों को छोड़, समाधि करने वालों को विद्या के उपासक, दुःख अविद्या के उपासकों से भी नीचे गिरा दिया, यह उनके विचार का ही फल है। संसार में विद्या तीन प्रकार की होती हैं—अविद्या, विद्या, सत् विद्या ; मिथ्या ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान। इसीके अनुसार मनुष्य भी तीन ही प्रकार के होते हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु। अविद्या की उपासना करनेवाले पामर और विद्या की उपासना करने वाले विषयी और सत् विद्या की उपासना करनेवाले मुमुक्षु कहलाते हैं। परमात्मा ने इस वेद-मन्त्र द्वारा बताया है कि जो ऋषि

लोग अपने आपको पामरों से अच्छा समझते हों तो यह उनकी भूल है। कि यदि वह विद्या से बढ़कर सत्-विद्या को न प्राप्त करेंगे, तो उनको अविद्या के उपासकों से भी अधिक दुःख होगा।

अन्यदेवाहुर्विद्यया ऽन्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

प० क्र०—(अन्यत्) और। (एव) ही। (आहुः) बताते हैं। (विद्यया) विद्या से। (अन्यत्) और। (आहुः) बताते हैं। (अविद्यया) अविद्या से। (इति) यही। (शुश्रुम) सुनते हैं। (धीराणाम्) धीरों को। (ये) जो। (नः) हमारे लिये। (तत्) उसे। (विचचक्षिरे) निर्णयपूर्वक उपदेश करते हैं।

अर्थ—सर्व साधारण मनुष्य अविद्या की उपासना अर्थात् अज्ञानता का परिणाम और ही बतलाते हैं और प्रकृति-विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान का और ही फल कहते हैं अर्थात् जो काम पामर मनुष्य करते हैं, उनका परिणाम और होता है और जो कर्म मनुष्य करते हैं, उनका फल दूसरा होता है। इस प्रकार हम सब अपने पूर्वजों से उपदेश लेकर जानते चले आये हैं इस मंत्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक उपदेष्टा का कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्यों को विद्या, अविद्या और सत-विद्या का पृथक्-पृथक् फल बता दे, जिससे शिष्य धोके से दुःख न उठायें।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

प० क्र०—(विद्याम्) विद्या को। (च) और। (अविद्याम्) अविद्या को। (यः) जो। (तत्) वह। (वेद) जानता है। (उभयम्) दोनों को। (सह)साथ। (अविद्यया) अविद्या

से। (मृत्युम्) मृत्यु को। (तीर्त्वा) पार करके। (विद्यया); विद्या से। (अमृतम्) मोक्ष को। (अश्नुते) प्राप्त होता है।

अर्थ—जो मनुष्य विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान या अनुभूत विद्या को, और अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान या विपरीत ज्ञान को एक साथ अर्थात् दोनों को सतुल्य समझते हैं अथवा जिस प्रकार अविद्या दुःख का कारण है उसी प्रकार अनुभूत विद्या भी दुःख का कारण ही है, ऐसा जानते हैं, वह अविद्या के परित्याग से मृत्यु अर्थात् अज्ञान से बच जाते हैं और अनुभूत-विद्या के त्याग देने से इन्द्रियों के विकारों से बचकर समाधि या मुक्ति-रूप अमृत का लाभ करते हैं।

प्रश्न—अविद्या परित्याग को मृत्यु से तरना क्यों कहा ?

उत्तर—जीवन की विरुद्ध अवस्था का नाम मृत्यु है और जीवात्मा चैतन्य अर्थात् ज्ञानवाला और कर्म करने में स्वतंत्र है। जब अविद्या के कारण जीव का ज्ञान दब जाता है और वह अपने आपको स्वतंत्रता के स्थान में प्रत्येक वस्तु के अधीन अनुभव करता है, तो उसकी वह दशा मृत्यु प्रतीत होती है; और मृत्यु भी उसी दशा का ही नाम है जब जीव कर्म करने में असमर्थ हो जाता है। परन्तु जब जीव अविद्या से पृथक् हो जाता है, तो वह किसी के अधीन नहीं रहता, इस कारण वह मृत्यु से छूट जाता है।

प्रश्न—विद्या से छूटने का उपदेश क्यों किया है ?

उत्तर—विद्या (व्यावहारिक ज्ञान) तभी तक रहता है, जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के भोगने का कर्म करती हैं। अथवा जब तक इन्द्रियाँ विषयों में फँसी हैं, तब तक मुक्ति हो ही नहीं सकती। अतः बिना विद्या (सांसारिक ज्ञान) के छूटे मुक्ति का आनन्द मिलना असम्भव है।

प्रश्न—यदि हम विद्या का अर्थ व्यावहारिक ज्ञान न लें, तो विना विद्या के मुक्ति किस प्रकार प्राप्त होगी ? इस दशा में विद्या और अविद्या को एक मानना सर्वथा अनुचित होगा।

उत्तर—विद्या का कोई अर्थ न लिया जाय, तो भी विद्या को पृथक् करने से ही मुक्ति होगी। जिस प्रकार एक मनुष्य नदी के पार जाना चाहता है, तो नदी से पार जाने का साधन नाव होती है ; परन्तु जब तक मनुष्य नाव में बैठा है, तब तक नदी के बीच में है, पार नहीं और जिस समय नाव को भी छोड़ देगा, तब पार होगा। इस प्रकार विद्या भी मुक्ति का साधन है, परन्तु जब तक इस साधन से पृथक् न हो जायँ, तब तक मुक्ति-सुख का मिलना असम्भव है। इसी प्रकार विद्या और अविद्या दोनों प्रकार के ज्ञान से पृथक् होने पर मुक्ति मिलती है। इस कारण मोक्ष के चाहने वालों को संसार के प्रत्येक पदार्थ को त्याज्य समझना चाहिये। किसी वस्तु में आत्मा को फँसाना नहीं चाहिये।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥

शब्दार्थ—(अन्धम्) घोर। (तमः) अंधकार में। (प्रविशन्ति) जाते हैं। (ये) जो। (असम्भूतिम्) अनादि प्रकृति की। (उपासते) उपासना करते हैं। (ततः) उनसे। (भूय-इव) अधिकतर। (ते) वे। (तमः) अन्धकार में घुसे हुए हैं। (ये) जो। (उ) शंका में। (सम्भूत्याम्) प्रकृति-जन्य कार्यों में। (रताः) लगे हुए हैं।

अर्थ—जो मनुष्य अज्ञानता से कारण (प्रकृति) को ईश्वर समझकर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते हैं, वह

बहुत ही अज्ञान के अन्धकार में फँसे हुए अपने आपको दुखी देखते हैं। यद्यपि दुःख-सुख जीवात्मा का धर्म्म नहीं, किन्तु मन का धर्म्म हैं ; परन्तु अज्ञानी मनुष्य, जिनकी बुद्धि प्रकृति की उपासना से बिगड़ जाती है, मन के धर्म्म अपने में अनुभव करने लगते हैं। प्रकृति के उपासक इतने अज्ञानी हो जाते हैं कि उनको अपना ज्ञान भी नहीं रहता और वे मनुष्य जो प्रकृति को ईश्वर समझकर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते हैं, वह उनसे अधिक बुरी दशा में पहुँच जाते हैं।

प्रश्न—कारण-प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य हैं ?

उत्तर—जितने नास्तिक मनुष्य, जो केवल प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, वह सब प्रकृति के उपासक हैं। उनको सांसारिक विषय-भोग के अतिरिक्त कोई काम अच्छा नहीं प्रतीत होता। वह आत्मा को प्रकृति के एक विशेष रचना का प्रभाव रूप समझते हैं, मानों उनको अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता।

प्रश्न—कार्य-प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य हैं ?

उत्तर—मूर्त्ति-पूजक, धन-पूजक इत्यादि जितने मनुष्य हैं, वह सांसारिक वस्तुओं से सुख की इच्छा करते हैं, वह सब कार्य-प्रकृति के उपासक हैं।

प्रश्न—न तो मूर्त्ति-पूजक ही मूर्त्ति को ईश्वर मानते हैं और न धन-पूजक ही धन को ईश्वर मानते हैं, इस कारण यह प्रकृति को ईश्वर मानने वाले नहीं हैं।

उत्तर—जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करते हैं, वह किस निमित्त करते हैं, केवल आनन्द अर्थात् सुख की इच्छा से। प्रकृति सत् है ; जीवात्मा सत् चित् है; परमात्मा सत् चित् और आनंद है। जीव में आनन्द का अभाव है और उसे आनन्द की

इच्छा रहती है, इस कारण वह आनन्द-स्वरूप परमात्मा की उपासना प्रेम से करता है। अत्र जो मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुए द्रव्यों को सुख का साधन समझते हैं, वह वास्तव में धन को परमेश्वर समझते हैं; क्योंकि विना सुख की इच्छा के मनुष्य किसी वस्तु की उपासना नहीं कर सकता और जिसकी उपासना यथार्थ सुख के लिये की जाय, वही ध्येय परमेश्वर है।

अन्यदेवाहुःसम्भवादन्यदाहुरसंभवात्। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥

प० क्र०—(अन्यत्) और। (एव) वही फल। (आहुः) बताते हैं। (असम्भवात्) कार्य-जगत् से। (अन्यत्) और ही। (आहुः) बताते हैं। (असम्भवात्) प्रकृति से। (इति) यह। (शुश्रुम) सुनते हैं। (धीराणाम्) धीर पुरुषों से। (ये) जो। (नः) हमारे लिये। (तत्) उसे (विचचक्षिरे) निर्णय पूर्वक उपदेश करते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य कार्य-जगत् की उपासना करते हैं, उनको दुःख से मिला हुआ क्षणिक सुख कभी-कभी मिलता है, परन्तु दुःख सदैव के लिये नष्ट नहीं होता। वह मन्द-बुद्धि होकर जन्म-मरण के बन्धन-रूप संसार-सागर में डुबकियाँ खाता रहता है, विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं। जो जड़-रूप कारण की उपासना करता है, वह प्रकृति में डूब जाता है, ऐसा विद्वानों से हम सुनते आये हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक मुक्ति के जिज्ञासु का कर्त्तव्य है कि विद्वानों से कार्य जगत् और कारण की उपासना के परिमाणों को पृथक्-पृथक् ज्ञात करने का उद्योग करे और विद्वान् मनुष्य को उनको यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करावे, जिससे वे मुक्ति के मार्ग को अनुभव करके उस पर चल सकें।

संभूतिञ्च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथंसह विना-शेन मृत्युं तीर्त्वासंभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

प० क्र०—(सम्भूतिम्) कार्य जगत् को। (च) और। (विनाशम) कारण जगत् को। (य) जो। (तत्) इन। (उभयम्) दोनों को। (वेद) जानता है। (सह) साथ। (विनाशेन) कारण जगत् से। (मृत्युम्) मृत्यु को। (तीर्त्वा) तर के। (सम्भूत्यः) कार्य जगत् से। (अमृतम्) मोक्ष को। (अश्नुते) प्राप्त होता है।

अर्थ—पिछले मन्त्र में यह बतलाया गया है कि कार्य-जगत् की उपासना से अमुक फल होता है कारण की उपासना से अमुक प्रकार का होता है, तथा यह भी प्रकट हो गया कि दोनों उपासना से मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीव को जिस आनन्द की आवश्यकता है, कार्य-कारण-रूप प्रकृति उससे रहित है। जिस वस्तु में जो गुण नहीं है, उसकी उपासना से वह गुण कैसे प्राप्त हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य को गर्मी ने सताया हो और वह उससे बचने के लिए अग्नि की उपासना करे अर्थात् अग्नि के निकट बैठे, तो उसका ताप और बढ़ जायगा, न कि किसी प्रकार कम होगा। जीव को अल्पज्ञता के कारण दुःख होता है और वह अज्ञानी उससे छूटने के लिए प्रकृति की उपासना करेगा तो उसका ज्ञान बढ़ने के प्रत्युत कम होकर और भी दुःख को बढ़ा देगा। अतः प्रकृति की उपासना से मुक्ति का निषेध करके अब मुक्ति कैसे होगी उसे बताते हैं। जो मनुष्य जन्म मरण के नियमों और उनके कारणों को भले प्रकार साथ-साथ जानता है अर्थात् इस बात को समझता है कि जन्म मरण शरीर की दशाएँ हैं और जो उत्पन्न होता है।

उसका नाश होना आवश्यक है, अतः शरीर की आवश्यकताओं को जो अपने से प्रथक समझता है वह जन्म मरण के वन्धन के दुःख से छूट कर शरीर की विद्यमानता में ही मुक्ति की दशा को पहुँच जाता है (जीवनमुक्त हो जाता है) वह इस शरीर में भी रहते हुए मुक्ति सुख को भोगता है। मानो यह मन्त्र वताता है कि मृत्यु के पश्चात् ही मुक्ति नहीं होती जिससे नास्तिकों को मुक्ति की सत्ता से इनकार करने का अवसर मिल सके। परमात्मा ने ऐसे नियम वना दिये हैं कि जिससे मनुस्य जीवन में ही मुक्त होकर मुक्ति में दूसरों की श्रद्धा उत्पन्न कराने का कारण हो सके। प्रत्येक मनुष्य को यह विचार रखना चाहिये कि जिसकी जीवन में मुक्ति न हो जावे, तो मृत्यु के पश्चात् भी उसकी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती।

हिरण्मयेनपात्रेणसत्यस्यापिहितंमुखम् तत्त्व
म्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

प० क्र०—(हिरण्मयेन) चमकीले । (पात्रेण) ढक्कन से। (सत्यस्य) सत्य का। (अपिहितम्) ढका हुआ है। (मुखम्) मुख। (तत्) उसे। (त्वम्) तू। (पूषन्) उन्नति चाहने वाले जीव। (अपावृणु) खोल। (सत्यधर्माय) सत्य धर्म के। (दृष्टये) दिखाने के लिए।

अर्थ—चमकीली वस्तुओं की कामना के ढकने से सत्यता का मुख ढका हुआ है। यदि तुम अपनी उन्नति की इच्छा रखते हो तो जव तक सत्य का ज्ञान न हो जाय, तव तक सत्यता पर आचरण नहीं कर सकते और जव तक आचरण न हो, तव तक उन्नति नहीं हो सकती। इस ढकने को उठा दो अर्थात् चमकीली वस्तुओं की कामना को छोड़ दो। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है

कि जिस मनुष्य के हृदय में चमकीली वस्तुओं की इच्छा हो, वह कभी सत्यता से जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। चमकीली वस्तुओं में लोभ और काम होता है और लोभी और कामी पुरुष किसी दशा में विश्वासनीय नहीं हो सकता। आजकल जितनी बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वह सब इन्हीं चमकीली वस्तुओं के कारण हैं। यदि कोई न्यायालय में मिथ्या बोलता है, तो चमकीली वस्तुओं के लोभ से, यदि कोई झूठी बही या दस्तावेज बनाता है, तो चमकीली वस्तुओं की इच्छा से, यदि चोर चोरी करता या डाकू डाका मारता है, तो चमकीली वस्तुओं की कामना से। संक्षेपतः जितनी बुराइयाँ संसार में फैली हुई हैं, सब का कारण चमकीली वस्तुओं की इच्छा है। यदि संसार से यह इच्छा उठ जाय, तो प्रत्येक मनुष्य सत्यता पर आचरण करने लग जाय। संक्षेपतः मनुष्य को मोक्ष से दूर रखने वाली और दिन रात दुःख-समुद्र में डुबाने वाली केवल यही चांडालिनी कामना है और जब तक मनुष्य इस कामना से पृथक नहीं हो जाता, तब तक दुखों से छूटना और उन्नति करना असम्भव है।

पूषन्नेकर्षेयम सूर्य प्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

प० क्र०—(पूषन्) उन्नति करने वाला। (एकर्षे) वेदज्ञ (यम) न्यायकारी। (सूर्य) अन्तर्यामी प्रकाशक। (प्राजापत्य) संसार रक्षक। (व्यूह) हमसे दूर कर। (रश्मीन्) किरणें। (समूहः) कुल। (तेजः) तेज (यत्) जो। (ते) तेरा। (रूपं) रूप। (कल्याणतमम्) कल्याण देने वाला।

(तत्) वह) (ते) तेरा । (पश्यामि) देखता हूँ । (यः) जो (सः) वह । (असौ) यह । (पुरुषः) व्यापक चैतन्य परमात्मा (सः) वह । (अहम्) मैं । (अस्मि) हूँ ।

अर्थ —हे वेद के जानने वालो मैं सब से श्रेष्ठ परमात्मन् ! आप सबके अन्तर्यामी, प्रेरणा करने वाले, सूर्य के समान प्रकाश वाले, सब दुखों से मुझे पृथक करके सुख का रास्ता दिखाने वाले अपने, तेज को हम पर फैलाइये । आपका सबसे अधिक कल्याण करने वाला जो स्वरूप है जिससे प्राणियों को ऐसा आनन्द मिलता है कि जिससे बढ़कर या उसके तुल्य आनन्द कहीं नहीं मिलता, हम समाधि के द्वारा उस आनन्द को देख सकें । ऐसी विद्या हमें दान कीजिये, जिससे हमको प्रकट हो जाय कि हम पुरुष अर्थात् विकारों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।१७।

प० क्र०—(वायु) हवा । (अनिलम्) आपसे मिली हुई शक्ति । (अमृतम्) मरने से रहित । (अर्थ) उपरान्त । (इदम्) यह । (भस्मान्तम्) जिसके अन्त में भस्म ही शेष रहे ऐसा । (शरीरम्) शरीर है । (ओ३म्) ईश्वर । (क्रतो) संकल्प करने वाले । (स्मर) यादकर । (कृतम्) किये हुए कर्मों को । क्रतो स्मर और क्रत स्मर । (स्मर कथन) याद कर । दो बार समाप्ति का सूचक है ।

अर्थ—वायु और अग्नि से मिली हुई शक्ति अर्थात् प्राण और मृत्यु से रहित अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने के पश्चात् यह शरीर भस्म हो जाने वाला है । जब तक इसमें प्राण हैं,

तभी तक भूख-प्यास और प्रत्येक प्रकार की चेष्टायें होती हैं और जब तक इसके भीतर जीवात्मा रहता है, तभी तक ज्ञान रहता है और जब प्राण और जीवात्मा निकल गये, तब यह शरीर किसी कार्य के योग्य नहीं रहता। वह सम्बन्धी जो पहले इसकी रक्षा के निमित्त हजारों प्रकार का परिश्रम करने के लिये उद्यत रहते थे, जो छोटी-सी बुराई को भी न देख सकते थे, जहाँ कुछ भी मिट्टी लग जाती थी, वहाँ धोने-पोछने का प्रबन्ध करते थे, जब प्राण और जीव निकल गये, तो वह स्वयं अपने हाथों से लकड़ी लगाकर उसमें आग डाल इस शरीर को भस्म कर देते हैं। इस कारण हे कर्म करने वाले मनुष्य! तू 'ओ३म्' रक्षा करने वाले परमात्मा को स्मरण कर, जिससे तुझमें ज्ञान-शक्ति बढ़कर तुझे मोक्ष के रास्ते का अधिकारी बना सके। तुम आत्मिक बल के हेतु बल देने वाले का ध्यान करो और अपने किये हुए पुराने कर्मों को स्मरण करो जिससे तुम्हें दुःखों से छूटने का मार्ग मिल सके। तात्पर्य यह है कि इस शरीर को नाश होने वाला समझकर आत्मिक बल देने वाले परमात्मा की उपासना करनी चाहिये, जिससे मनुष्य की आत्मा बल पाकर संसार की कुरीतियों और इन्द्रियों की कामना का साम्मुख्य करती हुई जीवनध्येय पर पहुँच सके।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

प० क्र०—(अग्ने) प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर। (नय) ले चल। (सुपथा) अच्छे रास्ते से। (राये) ऐश्वर्य या कल्याण के लिये। (अस्मान्) हमें। (विश्वानि) सब। (देव) दिव्य-

गुण-युक्त। (वयुनानि) कर्मों को। '(विद्वान्) जानने वाला। (युयोधि) दूर कर। (अस्मत) हमसे। (जुहुराणम्) बुरे और अधर्म के कार्य। (एनः) पापों को। (भूयिष्ठाम्) बहुत। (ते) तेरी। (नम उक्तिम्) नमस्कार की वाणियों को। (विधेम) कहते हैं।

अर्थ—हे प्रकाश-स्वरूप परमात्मन्! आप हमको मोक्ष के रास्ते पर चलाइये। हे हमारे कर्मों के जानने वाले, सर्व जगत् में व्यापक परमात्मन्! आप हमें कुटिल अर्थात् बुरे कर्मों से पृथक् कीजिये। हम बारम्बार आपसे नम्र होकर प्रार्थना करते हैं कि हमारे हृदयों को पापों से हटाकर मोक्ष-मार्ग पर चलाइये। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा की सहायता के बिना कोई मनुष्य आत्मिक, लाभदायक और निषिद्ध बातों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रखता और जिसको ज्ञान न हो, वह उसे पूरा किस प्रकार कर सकता है। इसलिये मोक्ष के निमित्ति परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमको सत्-असत् का विचार करने वाली बुद्धि प्रदान करें। जिससे हम बुरी बातों को, जो मुक्ति के लिए अनावश्यक हैं, उसका ज्ञान प्राप्त करायें, जिससे हम उन्हें कार्य-रूप में लाकर अपनी आत्मा की शान्ति की सीढ़ी पर पहुंच सकें।

ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षितेन संशोधितः ईशोपनिषद् भाषा भाष्ये समाप्तः॥





केनोपनिषद्

प्रणम्य परमात्मानं, गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
केनोपनिषद् व्याख्यायां, सरल भाषा उच्यते ॥

इस उपनिषद् में इस विषय का निरूपण किया गया है कि मन, इन्द्रिय और प्राणों का नियंत्रण करने वाला और इस जगत को नियम से चलाने वाला कौन है ? अतः यह उपदेश मनुष्य के मिथ्या ज्ञान को दूर करने में बड़ा लाभदायक है और इसी विचार से भाषा में अनुवाद करना आवश्यक समझा गया कि जिससे नागरी जानने वाले वैदिक शिक्षा को जान सकें। यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं विचार कर देखेंगे। जो प्रश्न और उत्तर रूप लिखे गये हैं।

प्रश्न—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदंति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

प० क्र०—(केन) किससे। (इषितम्) इच्छित वस्तु में। (पतति) गिरता है। (प्रेषितम्) प्रेरणा किया। (मनः)

मन। (केन) किससे। (प्राणः) श्वास। (प्रथमः) अपने स्थानों में व्यापक। (प्रेति) प्रति क्षण अपना कार्य करता है। (युक्तः) अपने कर्म में लगा हुआ। (केन) किससे। (इषिताम्) यथेष्ट वस्तुओं में। (वाचम्) वाणी को। (इमाम्) इसे। (वदन्ति) कहते हैं। (चक्षुः) आँख अर्थात् रूप को। (श्रोत्रम्) कान को। (कः) कौन (उ) प्रश्न। (देवः) देवता। (युनक्ति) काम में लगाता है।

अर्थ—शिष्य अपने गुरु से प्रश्न करता है कि हे गुरु ! किस की प्रेरणा से मन अपनी आवश्यक और मन-मोहनी वस्तुओं की ओर जाता है और किस की शक्ति से यह प्राण सब शरीर को चलाते और प्रत्येक स्थान पर अपना काम करते हैं। किसकी शक्ति से यह जिह्वा इन शब्दों को कह रही है और आँख, नाक इत्यादि इन्द्रियों को अपने-अपने कर्म में कौन लगाता है। क्या कारण है कि आँख से रूप का ज्ञान होता है; शब्द का नहीं। क्या कारण है कि जिह्वा शब्दों को ही बोल सकती है अन्य इन्द्रिय शब्दों को बोल नहीं सकती। यद्यपि इन्द्रियों को काम में लगाने वाला जीवात्मा है; परन्तु यह नियम किसने बाँधा है कि इस इन्द्रिय से यह काम होगा, दूसरा नहीं होगा। क्योंकि अन्धा भी चाहता है कि रूप देख ले, उसे किसी अन्य इन्द्रिय ही से रूप का ज्ञान हो जावे, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस कारण जीवात्मा अपने कर्त्तव्य से उस कर्म को नहीं कर सकता, जिससे जीवात्मा का प्रत्येक काम में स्वाधीन होना नहीं पाया जाता परन्तु वे इन्द्रियाँ वही कार्य कर सकती हैं, जो उस नियम बनाने वाले के नियम अनुसार नियत हैं उसमें ही उद्योग करने से वह सफल भी होती है और इन नियमों के विरुद्ध चलने में मनुष्य सफल-मनोरथ नहीं होता।

उत्तर—श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

प० क्र०—(श्रोत्रस्य) कान का । (श्रोत्रम्) कान । (मनसः) मन का । (मनः) मन । (यत्) जो । (वाचः) वाणी का । (ह) प्रसिद्ध है । (वाचम्) वाणी । (सः उ) वह (प्राणस्य) प्राणों का । (प्राणः) प्राण है । (चक्षुषः) आंखों का । (चक्षुः) आंख है । अतिमुच्य छोड़ कर । (धीराः) धीर पुरुष । (प्रेत्य) मरकर । (अस्मात्) इस । (लोकात्) लोक से (अमृतः) जन्म-मरण-रहित । (भवन्ति) हो जाते हैं ।

अर्थ—जो निश्चल और सूक्ष्म-शक्ति सारे जगत् को चलाने वाली है, वह कर्ण इन्द्रिय जो सूक्ष्म है; उससे भी सूक्ष्म और उसके भी श्रोत्र है अर्थात् उसकी शक्ति से कान सुनता है। उसे कान का कान कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार श्रोत्र के बिना शरीर सुन नहीं सकता, उसी प्रकार परमात्मा की सहायता के बिना कान भी नहीं सुन सकते। जिस प्रकार इन्द्रियां बिना मन के अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं, इसी प्रकार परमात्मा की सहायता बिना मन भी अपना काम नहीं कर सकता। अतः वह मन का भी मन है। जिस प्रकार गूंगा मनुष्य जिह्वा के बिना अपने भीतरी विचार प्रकट नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिह्वावाला मनुष्य भी परमात्मा की बिना सहायता के अपने विचारों को प्रकट नहीं कर सकता। अतएव वह जिह्वा की भी जिह्वा है। जिस प्रकार प्राणों के बिना कोई शरीर हिल नहीं सकता, उसी भांति

परमात्मा की सहायता के विना प्राण भी क्रिया नहीं कर सकते। अतः वह प्राणों का भी प्राण है। जिस प्रकार कोई मनुष्य आँख के बिना देख नहीं सकता, उसी प्रकार परमात्मा की सहायता के बिना आंख भी नहीं देख सकती। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने व्यापार में परमात्मा की सहायता के अधीन है; बिना परमात्मा की सहायता के कोई इन्द्रिय कर्म नहीं कर सकती।

प्रश्न—यदि प्रत्येक इन्द्रिय परमात्मा की सहायता से कर्म करती है, और उसकी सहायता के विना नहीं कर सकती, तो जीवात्मा अपने कर्मों में परतंत्र हुआ? फिर वह किये कर्मों का उत्तरदाता कैसे हो सकता है? क्योंकि यदि इन्द्रियां अपनी इच्छा से कार्य कर सकतीं, तो वह उत्तर-दाता होतीं। क्योंकि स्वतन्त्र ही अपने कर्मों का उत्तरदाता हो सकता है।

उत्तर—जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में मनुष्य पाप व शुभ कर्म कर सकता है, बिना प्रकाश के उन कार्यों को नहीं कर सकता; परन्तु तौ भी उस मनुष्य के कर्मों का उत्तर-दाता सूर्य नहीं, क्योंकि वह उसको करने पर बाध्य नहीं करता।

प्रश्न—जबकि इन्द्रियां स्वयं नित्य कार्य करती हुई दिखाई देती हैं, तो ईश्वर की सहायता वृथा मानी हुई है; क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण नहीं मिल सकता।

उत्तर—जीव की प्रत्येक इन्द्रियां बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा रखती हैं, जैसे आंख प्रकाश की, कान आकाश की, त्वचा (खाल) वायु की, जिह्वा जल की और नासिका पृथ्वी की सहायता चाहती हैं और यह सब वस्तुएँ अपने कर्म तभी कर भी सकती हैं, जब एकत्रित हों। परन्तु एकत्रित होना इन वस्तुओं का अपने

अधिकार में नहीं, क्योंकि प्रकृति में चेतनता नहीं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय परमात्मा की सहायता के विना कोई कर्म नहीं कर सकती। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि में जो कुछ शक्ति है, वह सब परमात्मा की दी हुई है।

प्रश्न—जबकि विना इन्द्रियों की सहायता के जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता और बाहर की वस्तुओं की सहायता विना इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकती तथा बाहर की वस्तुओं का बनाने वाला परमात्मा है, तो जितने पाप होते हैं; उनका वास्तविक कर्त्ता परमात्मा है न कि जीव, वह न जगत को रचता, न इन्द्रियों को सहायता मिलती और न वह पाप करती। भला दयालु परमात्मा को क्या आवश्यकता थी कि उसने इतना आडम्बर रचा?

उत्तर—ईश्वर जीवों की मुक्ति के आनन्द के लिये और कर्मों का फल देने के लिए सृष्टि को रचता है। यदि यही सृष्टि का क्रमिक विकास होता, तो वादी का आक्षेप उचित हो सकता था। परन्तु परमात्मा यथाक्रम सृष्टि को उत्पन्न और नाश करता है, इस कारण सृष्टि-क्रम का आदि न होने से और जीवों को कर्म करने में नितान्त स्वतन्त्र छोड़ देने से तथा सृष्टि के आरम्भ में वेदों की रचा के द्वारा भले-बुरे का ज्ञान कर देने से ईश्वर पर आरोप नहीं आ सकता। इस प्रकार का अपराध तो मुसलमान और ईसाई मत के ईश्वर पर आ सकता है जिसने प्रथम बार अपनी इच्छा से सृष्टि की और जिसमें किसी जीव के कर्म और ईश्वरीय दया व न्याय का विवाद ही नहीं?

प्रश्न—ईश्वर को हम किस प्रकार देख सकते हैं?

उत्तर—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

प० क्र०—(न) नहीं। (तत्र) वहाँ। (चक्षु) आँख। (गच्छति) जाती है। (नो) नहीं। (वाक्) वाणी। (गच्छति जाती है। (नो) नहीं। (मनः) मन। (नो) नहीं। (विद्मः) अनुभव करते। (न) नहीं। (विजानीमः) जानते हैं। (यथा) जैसे। (एतत्) यह ब्रह्म। (अनुशिष्यात्) जाना जावे। (अन्यत् एव) और प्रकार से ही। (तत्) वह ब्रह्म। (विदितात्) जाना जाता है। (अथो) उसके अतिरिक्त। (अविदितात्) नहीं जाना जाता। (अधि) इन्द्रियों से। (इति) यह (शुश्रुम) हम सुनते आये हैं। (धीराणाम्) धीर पुरुषों से। (ये) जो। (नः) हमारे लिये। (तत्) उस ब्रह्म का। (व्याचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं।

अर्थ—ब्रह्म अर्थात् वह परमात्मा निराकार होने से रूप रहित है, अतः उसे आँख नहीं देख सकती, क्योंकि आँख केवल शरीर वाले का रूप ही देख सकती है। वह वाणी जो प्रत्येक वस्तु की थोड़े रूप में भी प्रशंसा करती है, ब्रह्म के अनन्त गुण होने से उसकी पूरी पूरी प्रशंसा नहीं कर सकती; जहाँ मन प्रत्येक वस्तु को जान लेता है, वहाँ ब्रह्म को वर्तमान अवस्था में मन भी नहीं जान सकता। मनुष्य के पास जानने के यन्त्र इन्द्रिय और मन ही हैं परन्तु वह ब्रह्म को अनुभव नहीं करा सकते। अतः हम ब्रह्म को नहीं जान सकते। यद्यपि अनुमान इत्यादि से व्याप्ति करके हम अन्य वस्तुओं के विशेषणों द्वारा

अनुभव कर लेते हैं, परन्तु ब्रह्म को अनुमान से भी नहीं जान सकते इस कारण संसार के आरम्भ में ऋषियों ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है, और जो आज क्रमशः हम तक पहुँची है वैसी ही हम बताते हैं, क्योंकि ब्रह्म के जानने का उपाय उन महात्माओं के उपदेश को छोड़कर और हो ही नहीं सकता, जिसका सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने उपदेश दिया उस प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये कोई न कोई प्रमाण मिलता है, बिना प्रमाण के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि प्रमाण जानने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रमाण के लिये भी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती, तो अनवस्था-दोष आ जाता अर्थात् एक प्रमाण के लिये दूसरा और दूसरे के लिए तीसरा, इस प्रकार का क्रम भी कभी समाप्त न होता।

ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण से बढ़कर प्रमाण है, इसलिये उसके गुण और शक्ति के सिवाय कोई प्रमाण उसको अनुभव नहीं करा सकता; क्योंकि सब इन्द्रियाँ तो भौतिक अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का ही अनुभव कर सकती हैं। ब्रह्म भौतिक पदार्थ नहीं अत-एव इन्द्रियों से उसका ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

मन इन्द्रियों द्वारा अनुभव करता है न कि किसी अङ्ग या गुण को देखकर अनुमान करता है। परन्तु जब ब्रह्म कभी प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता तो उसको मन किस प्रकार अनुभव कर सकता है। इस कारण जो ऐसा जानता है कि वह स्पर्श-क्रिया से प्रतीत होने के योग्य प्राकृतिक जगत् से सर्वथा विलक्षण है और जिसे सूक्ष्म-रूप अखंड प्रकृति से भी सूक्ष्म होने के कारण जान नहीं सकते, वह उससे भी ऊपर अर्थात् अधिकतर सूक्ष्म है।

प्रश्न—यदि जानी हुई वस्तुओं से ईश्वर पृथक् है, तो उसके एक देशी होने में क्या सन्देह है ?

उत्तर—जानी हुई वस्तुओं से पृथक् कहने का तात्पर्य यह है कि वे सब नाशवान हैं और ईश्वर शेष (नित्य) है, अतः उसके गुण स्थूल तथा नाश होने वाली वस्तुओं से मिल नहीं सकते। पृथक् होने से तात्पर्य एकदेशी नहीं।

प्रश्न—(उसे जड़ न जानने वाली) प्रकृति से पृथक् और ऊपर क्यों कहा ? क्योंकि प्रकृति भी तो सदा रहने वाली ही है।

उत्तर—प्रकृति जड़ है, और ब्रह्म स्वतन्त्र चैतन्य है, प्रकृति उसके अधीन है, इस कारण वह प्रकृति के ऊपर अर्थात् अधिक सूक्ष्म है और उससे महान् भी है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के ज्ञाता और श्रद्धा रखने वाले गुरु से शिष्य प्रश्न करे कि ब्रह्म क्या है, तो उसको यही बतलाना चाहिये कि ब्रह्म इन्द्रियों से और साइंस (विज्ञान) के यंत्रों से, जो स्पर्श विद्या का ही अनुभव कराते हैं, जानने योग्य नहीं; बल्कि मेधा नामवाली सूक्ष्म-बुद्धि से वह जाना जा सकता है, चंचल मन वाले मनुष्यों की बुद्धि उसके जानने के योग्य नहीं।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं ?

उत्तर—कारण कि वह सबसे सूक्ष्म और समीप है और जो वस्तु बहुत समीप और सूक्ष्म होती है, उसकी बिना शुद्ध बुद्धि और निश्चल मन के प्रतीत नहीं हो सकती।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

प० क्र०—(यत्) जो ब्रह्म। (वाचा) वाणी से। (न) नहीं। (अभ्युदितम्) कहा जाता है। (येन) जिससे। (वाक्)

वाणी। (अभ्युद्यते) बोलती है। (तत्) उसे। (एव) ही। (ब्रह्म) ईश्वर। (त्वम्) तू। (विद्धि) जान। (न) नहीं। (इदम्) यह। (यत्) जो। (इदम) यह। (उपासते) उपासना करते हैं।

अर्थ—ब्रह्म को वाणी शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकती; परन्तु ब्रह्म के बनाये नियमों से जिह्वा में प्रकट करने की शक्ति है। ब्रह्मने भिन्न-भिन्न प्रकार के अक्षरों के उच्चारणार्थ उनके स्थान नियत कर दिये हैं। उन्हीं स्थानों से उन अक्षरों का उच्चारण हो सकता है, उसके विरुद्ध नहीं हो सकता। उसके नियमों से बँधी हुई वाणी शब्दों और उनके अर्थों को प्रकट करती है, उसी को तू ब्रह्म अथवा परमात्मा जान। जिसको 'यह' बताकर संकेत किया जा सकता है और जिसकी संसार के मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये यह ब्रह्म है, ऐसा क्यों नहीं कह सकते?

उत्तर—क्योंकि 'यह' और 'वह' जो सर्वनाम हैं, वह परिच्छिन्न वस्तु के विद्यमान और लोप को प्रकट करते हैं, परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापी होने से विद्यमान और लोप दोनों प्रकार के सर्वनामों से पृथक् है। इस कारण ब्रह्म के लिये 'यह' 'वह' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

प० क्र०—(यत्) जो ब्रह्म। (मनसा) मन से। (न) नहीं। (मनुते) विचारा जाता है। (येन) जिससे। (आहुः) कहते हैं। (मनः) मन। (मतम्) विचार-शक्ति को लिये हुए है। (तत्) उसे। (एव) ही। (ब्रह्म) ईश्वर। (त्वम्)

तू। (विद्धि) जान। (न) नहीं (इदं) यह। (यत्) जो। (इदम्) यह। (उपासना करते हैं।

अर्थ—वह परमात्मा मन के विचारों से जानने योग्य नहीं क्योंकि मन उन वस्तुओं का विचार कर सकता है, जिनके गुणों पर वह वशीकार प्राप्त करता है। परन्तु परमात्मा के गुण अनन्त और सीमा से बाहर हैं, उन पर मन किसी प्रकार वशीकार प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे मन उन्हीं वस्तुओं पर आसक्त होता है, कि जो किसी समय इन्द्रियों द्वारा अनुभव की जा चुकी हों, जब कि ब्रह्म का इन्द्रियों से किसी काल में भी प्रत्यक्ष नहीं होता, तो उसके पूरे गुणों से अनभिज्ञ होने से उसका विचार ही नहीं कर सकता। पर जो कुछ विचार करता भी है, वह उसी ब्रह्म की शक्ति और नियमों की सहायता से करता है। इस कारण यह सुखों की सामग्री, जिसकी मनुष्य उपासना करते हैं, ब्रह्म नहीं। केवल जो इन सब नियमों का रचयिता है, जिसकी सहायता से मन कार्य करता है तू उसको ब्रह्म जान।

प्रश्न—यदि ब्रह्म तीनों काल में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, तो उसके होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—उसके होने का प्रमाण मन इन्द्रिय इत्यादि के नियमों का होना है, क्योंकि हमारे शरीर में आत्मा के होने का प्रमाण यही है कि शरीर का चलना नियम के साथ होता है। इञ्जन इत्यादि जड़ पदार्थों का चलना भी ड्राइवर की विद्यमानता में नियम के साथ होता है; यदि ड्राइवर न हो तो, बिना नियम का हो जाता है। ड्राइवर इञ्जन का चलाने वाला है, बनाने वाला नहीं। ड्राइवर को नियम से इञ्जन चलाते हुए देखकर, इञ्जन की बनावट में नियमों की विद्यमानता होना

प्रतीत होता है, और नियमों की विद्यमानता उसके बनानेवाले को प्रकट करती है।

प्रश्न—इस प्रकार का अनुमान और विचार तो मन ही द्वारा न होगा। जब मन उसको जान ही नहीं सकता, तो इस विचार का सत्य होना किस प्रकार प्रमाणित होगा?

उत्तर—मन उसके पूरे गुणों पर अधिकारी नहीं हो सकता परन्तु उसके एक-दो गुणों से उसकी सत्ता को अनुभव कर सकता है। जैसे परमात्मा के आनन्द-गुण के अनुभव करने से समाधि-अवस्था में 'मानसिक प्रत्यक्ष' होता है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ६॥

प० क्र०—(यत्) जो। (चक्षुषा) आँखों से। (न) नहीं। (पश्यति) देखता। (येन) जिससे। (चक्षूंषि) आँखें। (पश्यति) देखती हैं। (तत्) उसे (एव) ही। (ब्रह्म) ईश्वर। (त्वम्) तू। (विद्धि) जान। (न) नहीं। (इदं) यह। (यत्) जो। (इदम्) यह। (उपासते) उपासना करते हैं।

अर्थ—जो ब्रह्म चक्षुओं से नहीं देखा जाता है, किन्तु जिसके नियम शक्ति से आँख देखती है और उसकी सहायता से जीव सब वस्तुओं का ज्ञान इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं, तू उसी आँख की आँख (देखने की शक्ति वाले) को ब्रह्म जान। जिन आँखों से देखने योग्य वस्तुओं की मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ७॥

प० क्र०—(यत्) जो। (श्रोत्रेण) कान से। (न) नहीं। (शृणोति) सुनता। (येन) जिससे। (श्रोत्रम्) कान। (इदम्)

यह। (श्रुतम्) सुनता है। (तत्) उसे। (एव) ही। (ब्रह्म) ईश्वर। (त्वम्) तू। (विद्धि) जान। (न) नहीं। (इदं) यह। (यत्) जो (इदम्) यह (उपासते) उपासना करते हैं।

अर्थ—वह ब्रह्म कानों से नहीं सुना जाता, परन्तु कान जिसकी सहायता से सुनते हैं, तू उसी को ब्रह्म जान। जिस शब्द इत्यादि विषय की जगत् के मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं हैं। इसका भाव यह है कि कान इत्यादि इन्द्रियों की आवश्यकता ब्रह्म को अपने कार्यों के लिये नहीं; परन्तु कान इत्यादि ब्रह्म के बनाये हुये नियमों से सुनते हैं और कोई इन्द्रिय ब्रह्म की सहायता के बिना कुछ काम नहीं कर सकती।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ८॥

प० क्र०—(यत्) जो। (प्राणेन) प्राणों से। (न) नहीं। (प्राणिति) अनुमान किया जाता है। (येन) जिससे। (प्राणः) प्राण। (प्रणीयते) श्वास लेते हैं। (तत्) उस। (एव) ही। (ब्रह्म) ईश्वर। (त्वम्) तू। (विद्धि) जान। (न) नहीं। (इदं) यह। (यत्) जो। (इदम्) यह (उपासते) उपासना करते हैं।

अर्थ—वह ब्रह्म प्राणों की गति सदृश श्वास नहीं लेता; वरन् प्राण जिसकी सहायता से अपना कार्य करते हैं, उसी को ब्रह्म जान। क्योंकि परमात्मा की सहायता के बिना प्राण कुछ भी नहीं कर सकते। इस कारण हे जीव! तू उसी को, जो प्राणों को सहायता देता है, ब्रह्म जान। जिसकी मनुष्य उपासना करते हैं अर्थात् इन प्राणों को, जो जीवन-मरण का कारण हैं, ब्रह्म मत समझ। मूर्ख मनुष्य ही केवल इनकी उपासना करते हैं।

यह केन अर्थात् तलवकार उपनिषद् का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ। इस खण्ड में व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध से सब इन्द्रियों का परमात्मा की सहायता से कार्य करना, परन्तु परमात्मा को अपने कार्यों के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता का न होना बताया गया है; क्योंकि इस संसार से पृथक् ब्रह्म का ज्ञान होना विद्वान मनुष्यों के लिये बहुत ही कठिन है। जिह्वा, मन; आँख, कान और प्राण केवल मुख्य समझकर कहे गये हैं, इसी प्रकार सब इन्द्रियों से तात्पर्य हैं; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों में आँख, कान, सबसे उत्तम हैं और मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय और सब इन्द्रियों का स्वामी है और प्राण भी प्रत्येक प्रकार की वायु से उत्तम है। प्रयोजन यह है कि जिसको मन प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, उसको अन्य तुच्छ इन्द्रियाँ किस प्रकार अनुभव कर सकेंगी।

द्वितीय खण्ड

इस उपनिषद् में गुरु और शिष्य के प्रश्नोत्तर से शास्त्रार्थ आरम्भ किया गया है, जिससे समझने वाले उचित प्रकार से भाव समझ लें। प्रथम श्रुति में विद्यार्थी ने प्रश्न किया था; उसका उत्तर आठ श्रुतियों में गुरु ने दिया, और अब दूसरे प्रकार से समझाने के लिये गुरु उपदेश करते हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम । यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथनु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१।६॥

प० क्र०—(यदि) जो। (मन्यसे) तू मानता है। (सुवेद) भली प्रकार जानता हूँ। (इति) यह। (दभ्रम्) सूक्ष्म। (एव)

ही। (अपि) भी। (नूनम्) निश्चय। (त्वम्) तू। (वेत्थ) जानता है। (ब्राह्मण) ईश्वर का। (रूपम्) रूप। (यत्) जो। (अस्य) इसका। (देवेषु) विद्वानों में। (अथ) फिर। (नु) निश्चय। (मीमांस्यम्) प्रमाणों से विचारणीय। (एव) ही। (ते) तेरा। (मन्ये) मानता हूँ। (विदितम्) जाना हुआ है।

अर्थ—गुरु शिष्य से कहता है कि हे शिष्य ; यदि तुमको विचार है कि मैं ब्रह्म को सत्य प्रकार से जानता हूँ, तो इस बात को मैं नहीं मानता; क्योंकि जो ब्रह्म के जानने की प्रतिज्ञा करता है, वह ब्रह्म को नहीं जानता। ब्रह्म का स्वरूप ऐसा सूक्ष्म है कि उसके जानने की प्रतिज्ञा करना मेरे विचार में उचित नहीं। इसलिए शास्त्रीय और बुद्धि से उत्पन्न प्रमाणों से प्रत्येक समय ब्रह्म का विचार करता रहना, उसको मैं अच्छा जानता हूं। सारांश यह है कि जो मनुष्य इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि मैंने उचित प्रकार से ब्रह्म का स्वरूप जान लिया, वह सर्वथा नहीं जानता; क्योंकि सामान्य वस्तुओं के ज्ञान की भी मनुष्य प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, तब ब्रह्म के जानने की प्रतिज्ञा किस प्रकार ठीक हो सकती है। मनुष्य अल्पज्ञ है, इस कारण किसी वस्तु की अन्तर्दशा को जानकर भी अहङ्कार नहीं करना चाहिये। इस कारण जिनके हृदय मे उचित प्रकार से ब्रह्म जानने का अभिमान हो; उन्हें यह कुभाव छोड़ देना चाहिये; क्योंकि अभिमान होने पर उन्नति रुक जाती है। प्रत्येक मनुष्य को यथोचित रूप से ब्रह्म का विचार करना चाहिये। इसके लिये शास्त्रीय और बुद्धि योग सम्बन्धी प्रमाणों से कार्य लेना और ब्रह्म-विचार में रहना ही बुद्धिमत्ता का चिन्ह है।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२।१०॥

प० क्र०—(न) नहीं। (अहम्) मैं। (मन्ये) मानता हूँ (सुवेद) भली भांति जानता हूं। (इति) यह (नो) नहीं। (न वेद) नहीं जानता हूँ। (इति) यह। (वेद) जानता हूं। (च) और। (यः) जो। (नः) हममें। (तत्) उसे। (वेद) जानता हूँ। (तत्) उसे। (वेद) जानता हूँ। (नः) हमारे लिये। (नो) नहीं। (न वेद) नहीं जानता हूं। (इति) यह। (वेद) जानता हूं।

अर्थ—मैं ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानता हूं, मैं ऐसा नहीं मानता। और सर्वथा जानता ही नहीं ऐसा भी नहीं मानता। परन्तु यह ज्ञान है कि ब्रह्म है। और हममें से जिस किसी को मेरी इस बात का ज्ञान है, वह उस ब्रह्म को जानता है। वह बात क्या है कि न तो ऐसा कि मैं ब्रह्म को यथार्थ रूप जानता हूँ और न यह सोचे कि मैं उसको कुछ भी नहीं जानता। जो ऐसा ठीक मानता है, वह यथार्थ में ब्रह्म का ज्ञाता है; क्योंकि यह विचार होने पर कि मैं ब्रह्म को वास्तव में नहीं जानता, किसी दशा में ब्रह्म के जानने का अभिमान हो ही नहीं सकता और जो अभिमान से ऐसा कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूं, वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता क्योंकि अहङ्कार, अविद्यादि क्लेशों में से एक क्लेश है। ज्ञान प्राप्त होने का सच्चा प्रमाण यही है कि ज्ञाता को अहङ्कार तथा अविद्या न हो और अपने आत्मस्वरूप में शांति से परमात्मा का ध्यान करे।

प्रश्न—जो मनुष्य नहीं जानता, उसे भी ऐसा ही निश्चय होता है कि मैं नहीं जानता, तो इसके कहने से जानना कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर—सुनिये! वह यह भी मानता है कि मैं नहीं जानता। ऐसा भी नहीं मानता कि नहीं जानता, ऐसा न मानने से यह प्रकट होता है, कि वह ठीक नहीं जानता, ऐसा कहने से अभिमान दूर होता है। अतएव ईश्वर के जाननेवाले दोनों बातें नहीं कह सकते कि मैं ठीक जानता हूं; या नहीं जानते क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान केवल अनुभव से होता है, कोई इन्द्रिय उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकती।

जिसको ब्रह्मज्ञान के नियमों में सन्देह न हो, वह यह नहीं कह सकता कि मैं नहीं जानता। जिस प्रकार मिश्री खाने ही से उसका स्वाद जाना जाता है। यदि कोई प्रश्न करे कि मिश्री कैसी होती है; तो उत्तर होगा कि मीठी। अब पुन: प्रश्न करे कि मिठास क्या है, तो इसका उत्तर देकर वह इसी प्रकार निश्चय करा सकता है कि खाकर देख लीजिये। इसके अतिरिक्त निश्चय कराने का और कोई साधन नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होनेवाली वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है; दूसरे प्रकार से नहीं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है, वही इन्द्रिय उसको प्रत्यक्ष कर सकती है। अत: ब्रह्म-ज्ञान भी मन के पूर्ण शुद्ध होने पर होता है; उसको वाणी नही कह सकती।

प्रश्न—जब तुम यह कहते हो कि मन और बुद्धि से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता तो उसके जानने का और अतएव क्या साधन होगा?

उत्तर—ब्रह्म-ज्ञान शुद्ध बुद्धि तथा शुद्ध मन से होता है, विषयों में घूमने वाला मन ब्रह्म-ज्ञान की शक्ति नहीं रखता।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३।११॥

प० क्र०—(यस्य) जिस विद्वान् का मत। (अमतं) मन से वह नहीं जाना जा सकता। (तस्य) उसका। (मत) ज्ञान सत्य है; क्योंकि उसने ब्रह्म को जाना है। (मतं) जो मन से जानने के योग्य मानता है (यस्य) जिसका (न) नहीं। (वेद) जानता। (सः) वह (अविज्ञातम् नहीं जानना। (विजानतम्) ब्रह्म ज्ञान विशेषज्ञों का। (विज्ञातम्) ज्ञान होता है। (अविजानतां) ब्रह्म-ज्ञान का अभिमान रखने वालों को।

अर्थ—जो पुरुष ऐसा विचार रखता है कि ब्रह्म मन से नहीं जाना जाता वह वास्तव में ब्रह्म को जानता है और जो यह विचार रखता है कि ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा अथवा स्थूल पदार्थों द्वारा जान सकते हैं तो वह कदापि ब्रह्म को नहीं जानता जिनको ब्रह्म के जानने का अभिमान है, उनको ब्रह्म ज्ञान कुछ भी नहीं और जो ब्रह्म को जानते हैं वह किसी दशा में ब्रह्म ज्ञान का अभिमान नहीं करते और न कर सकते हैं।

इस श्रुति द्वारा झूठे योगी और ब्रह्म ज्ञानियों से सर्व साधारण को बचने के लिये स्पष्ट कह दिया है कि जो मनुष्य योग के जानने का मान करते हैं, वह कदापि ब्रह्म को नहीं जानते और न वह योग के तत्त्व को ही जानते हैं। लौकिक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि जिनके पास रत्न हैं, वह उनको सन्दूक में छिपाकर रखते हैं और जिनके पास कौड़ियाँ हैं, वह हाठ में पुकार पुकार के बेचते हैं। अतएव प्रत्येक मोक्ष के इच्छुक को चाहिये कि इस श्रुति के भाव को

विचार करके कलियुग के मिथ्यावादी ब्रह्म ज्ञानियों के धोके से बचकर आत्मिक शान्ति को प्राप्त करे और अपनी अज्ञानता से ऐसे लोगों को, जो योग और ब्रह्मज्ञान से पूर्ण अनभिज्ञ हैं योगी तथा ब्रह्म-ज्ञानी समझकर और उनसे अपनी आशा को पूरा होते न देख कर, ब्रह्म-ज्ञान से घृणा न करे। प्रत्येक आदमी को इस बात का विचार रखना चाहिये कि जो मनुष्य संसार पूजक हैं, उनसे ब्रह्म-ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं और जो मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान रखते हैं वह संसार में लिप्त पुरुषों से घृणा करते हैं। क्योंकि उनके मिलने से ब्रह्म की उपासना में विघ्न उपस्थित होता है। ईश्वर भक्ति ही ब्रह्म-ज्ञान को जान सकते हैं और ब्रह्म-ज्ञान ईश्वर भक्तों से मिलना ही माना गया है, क्योंकि सांसारिक पुरुषों से कुछ लाभ नहीं होता।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हिविन्दते।
आत्मना विंदते वीर्य्यं विद्यया विंदतेऽमृतम् ॥१२॥

प० क्र०—(प्रतिबोध विदितं) इन्द्रियों के विषयों को जानकर तदनुकूल बुद्धि हो जाने को बोध कहते हैं और उसे हटाकर ईश्वर में लगाने को प्रतिबोध कहते हैं, उसी से जानने का नाम प्रतिबोध विदित है। (मतं) उस ज्ञान से ब्रह्म जाना जाता है। (अमृतत्वं) जीवन मुक्ति। (विन्दते) प्राप्त करता है। (आत्मना) अपने स्वरूप से। (विंदते) प्राप्त होता है। (वीर्य्यम्) बल और शक्ति। (विद्यया) शिक्षा अथवा ज्ञान से। (विंदते) प्राप्त होता है। (अमृतम्) मुक्ति को।

अर्थ—जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों के विषयों को रोककर अपने आधीन कर लेता है, इन्द्रियों को कामनाओं से हटा मन को समाधि में लगाकर जब मानसिक प्रत्यक्ष करता है तो उसमें से

जीवन मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करता है और आत्मा के ज्ञान को प्राप्त होने से ही मनुष्य को आत्मिक बल प्राप्त होता है। जो मनुष्य आत्मिक शक्ति से रहित हैं और किसी धर्म-सम्बन्धी काम को यथार्थ नहीं कर सकता उनकी आत्मिक निर्बलता के दूर होने का उपाय आत्मज्ञान है; क्योंकि आत्मिक ज्ञान होने के साथ ही आत्मा की शक्ति का भी ज्ञान होता है। जब आत्मज्ञान में लगाकर मनुष्य योग-बल को प्राप्त करता है, तो उसे सत्य विद्या प्राप्त होती है और सत्य विद्या प्राप्त होने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

जो मनुष्य केवल प्राकृत विज्ञान द्वारा दुःखों से बचने की आशा रखते हैं, वह मनुष्य भूल करते हैं; क्योंकि प्राकृत विज्ञान से प्रकृति के साथ सम्बन्ध बढ़ जाता है, जिससे दुःख की अधिकता होती है न कि दुखों से बच सकता है। यह बात प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि आत्मिक बल के न होने की ही दशा में मनुष्य ईश्वर को नहीं जान सकता; इस कारण सब से पहले कर्म-उपासना और ज्ञान के द्वारा परमात्मा को जानना चाहिये। पीछे मुक्ति प्राप्त होगी। बिना मल विक्षेप और आवरण दोष दोष के दूर हुए आत्मिक बल और मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृत भवंति॥ ५। १३॥

प० क्र०—(इह) इस जन्म अथवा संसार में। (चेत्) यदि। (अवेदीत्) आत्मा को जान जावे। (अथ) उस दशा में। (सत्यम्) जीवन का यथार्थ बिल। (अस्ति) है। (चेत्) यदि। (न) नहीं। (इह) इस जन्म में। (अवेदीत्) आत्म-

ज्ञान को प्राप्त किया। (महती) बहुत है। (विनष्टिः) हानि हो। (भूतेषु भूतेषु) पाँच भूतों तथा जीव में। (विचिन्त्य) विचार की दृष्टि से देखकर। (धीराः) धैर्ययुक्त धर्मात्मा आगामी जन्म में। (प्रेत्य) मरकर। (अस्मात्) इस। (लोकात्) जन्म से। (अमृताः) अक्षय सुख या मुक्ति को। (भवन्ति) प्राप्त होते हैं।

अर्थ—यदि इस वर्त्तमान जन्म में मनुष्य अपने उद्देश्य मार्ग की ओर यथार्थ जिज्ञासा वाला हो गया, तो उसने अपने जन्म को सफल कर लिया; क्योंकि यदि मनुष्य-देह में जो कर्त्तव्य भोक्तव्य के साथ सम्बन्ध रखता है, मनुष्य परमेश्वर को जान ले, तो मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यदि इस शरीर को केवल भोगों के ध्यान में व्यय करे और रात-दिन परमात्मा को जानने के स्थान में केवल देह की पुष्टि में प्रयत्न करे तो इस दशा में बड़ी हानि होती है; क्योंकि इस शरीर के छूटते ही स्वतन्त्रता अर्थात् कर्त्तव्य की शक्ति समाप्त हो जाती है फिर जन्मान्तर पर्यन्त भोग-योनि अर्थात् ज्ञान से शून्य शरीर में मिटना पड़ता है तब फिर मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इस कारण धर्मात्मा लोग प्रत्येक स्थावर और जंगम पदार्थ कर्मों के फल और सर्वनियामक परमात्मा को ध्यान की दृष्टि से देखते हैं और कर्म करने में स्वतन्त्रता को प्रयोग में लाते हैं, तो इस शरीर को छोड़कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इस वाक्य का खुला आशय यह है कि जो मनुष्य उस समय में धर्म के विचार में लीन होकर परमात्मा को जानने का प्रयत्न करता है, वही फलीभूत होता है और जो इस जन्म में सांसारिक कामों में लगा रहता है, वह अपनी बहुत हानि करता है।

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड में ब्रह्म को जानने में इन्द्रिय आदि को अयोग्य और दूसरे खण्ड में ब्रह्म-ज्ञान के विधान और उसके अद्भुत होने को बतला कर अब ब्रह्म को एक अलंकार रूप में वर्णन करते हैं। इस खण्ड के तात्पर्य को ध्यान से विचार करना उचित है। केवल शब्दों पर ही ध्यान नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह एक अलंकार है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥१४॥

प० क्र०—(ब्रह्म) सबसे बड़े परमात्मा ने। (ह) निश्चय। (देवेभ्यो) पाँच भूत और इन्द्रियों से। (विजिग्ये) जय प्राप्त की। (तस्य) इस ब्रह्म को। (ह) निश्चय। (ब्रह्मणः) ब्रह्म की। (विजये) विजय में। (देवाः) देवताओं अर्थात् पाँच भूतों और इन्द्रियों ने। (अमहीयन्त) महत्ता को प्राप्त किया। (ते) वह। (देवाः) पंचभूत और इन्द्रियाँ। (ऐक्षन्त) विचार करने लगे। (अस्माकम्) हमारे। (एव) ही। (अयं) यह। (विजयः) जीत में है। (अस्माकम्) हमारी। (एव) ही। (अयं) यह। (महिमा) महत्ता है। (इति) यह स्वीकार किया।

अर्थ—परमात्मा की शक्ति से अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश आदि और ज्ञान इन्द्रियाँ अर्थात् नाक, कान, आँख, रसना, त्वचा आदि पाँचों कर्म-इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पाँव, जिह्वा, गुदा तथा उपस्थ इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में सिद्धि प्राप्त करती हैं। बिना ब्रह्म की सहायता के कोई इन्द्रिय अपने काम में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकती और न ये तत्त्व

कुछ कर सकते हैं। अज्ञानता से इन्द्रियों ने यह विचार कर लिया कि जहाँ तक हमें कामों में सिद्धि प्राप्त होती है वह हमारे ही शक्ति से होती है, इसमें कोई और बल सहायक नहीं है। इसी कारण जितनी प्रतिष्ठा और यश के काम करने से प्राप्त होती है, वह सब हमारे ही लिये हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ यह दिखलाया है कि प्रकृति में परमात्मा के व्यापक होने से संसार के सब कार्य पूर्ण होते हैं। जिस प्रकार शरीर के भीतर जीव के होने से शरीर के सब काम होते हैं और सब इन्द्रियाँ काम करती हैं, किन्तु विना जीवात्मा के इन्द्रियाँ तथा देह कुछ भी नहीं कर सकती, इसी भाँति ही चन्द्र, सूर्य, तारागण, विजली आदि प्रत्येक वस्तु परमात्मा में होने से सब कार्य करते हैं और जब परमात्मा रोक देते हैं, तो कोई भी काम नहीं कर सकते। आत्मा सीमित होने के कारण शरीर से निकलता और प्रवेश करता है। इसीलिये शरीर का काम करना और काम की शक्ति न रखना दोनों ही प्रतीत होते हैं। संसार में मूर्ख मनुष्य यह विचार करते हैं कि यह सब काम प्रकृति अपनी शक्ति से ही करती है, प्रकृति के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति काम करने वाली है ही नहीं। अतः उनकी अज्ञानता को दूर करने के लिये यह बतलाया गया है कि विना ब्रह्म की सहायता के भूतों में कुछ भी काम करने की शक्ति नहीं है और आगे अलंकारिक रूप से बतलाया है कि इन्द्रियाँ और भूतों के अभिमान को नाश करने के लिये परमात्मा ने क्या किया।

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानन्त, किमिदं यक्षमिति ॥२।१५॥

प० क्र०—(तत्) उस ब्रह्म ने। (ह) निश्चय। (एषाम्) इन देवताओं के विचार को। (विजज्ञौ) जाना। (तेभ्यः) उनको। (ह)

निश्चय। (प्रादुर्बभूव) विदित हुआ। (तत्) उसको। (न) नहीं। (वि) ज्ञेयतया। (अजानन्त) अवगत किया अथवा जाना। (किम्) क्या। (इदम्) यह। (यक्षम्) पूजनीय वस्तु आती है। (इति) यह।

अर्थ—वह परमात्मा, इन भूतों और इन्द्रियों के भावों को विशेष रूप से जानकर कि मनुष्य इन भूतों और सूर्य आदि को शक्तिवाला, और प्रकाशमान देखकर कहीं उन्हें मिथ्या ज्ञान न हो जावे और वह इन्हें अपने स्वार्थ प्राप्त करने के लिये पूज्य न समझने लग जावें। वह (ब्रह्म) भूतों के भीतर प्रकाशित हुआ, परन्तु भूतों ने इस शक्ति को, जो उनकी रोशनी और शक्ति को सिद्ध करने वाली थी, कुछ भी न जाना कि यह क्या वस्तु है। तात्पर्य यह है कि जिस समय समस्त इन्द्रियाँ सुख के लिये प्रयत्न करती हैं और मनुष्य यह समझते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियों से सुख मिलता है; जिस समय सुषुप्ति की दशा में परमात्मा जीवों में प्रकट होते हैं, वह सम्पूर्ण सुख, जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होते थे, दब जाते हैं। तब ,परमात्मा के उस आनन्दस्वरूप को जो सुषुप्ति की दशा में जीवको होता है, इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं और तब वह एक दूसरे को पूछती हैं।

तेऽग्निमब्रुवन् जातवद एतद्विजानीहि किमेत-यक्षमिति तथेति ॥ ३ । १६ ॥

प० क्र०—(ते) वे इन्द्रियाँ। (अग्नि) अर्थात् तेजस। इन्द्रियाँ (चक्षु) को। (अब्रुवन) कहने लगीं। (जातवेदः) स्थिर को जानने वाली। (एतत्) यह। (विजानीहि) तू जानती है। (किम्) कौन या क्या। (एतत्) यह। (यक्षम्) अनोखी वस्तु है। (इति) है। (तथा) ऐसा है। (इति) है।

अर्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों ने आश्चर्य में आकार आँख से पूछा कि हे प्रत्येक वर्त्तमान वस्तु के स्वरूप को जानने वाली अग्नि अर्थात् चक्षु तू जानती है कि यह वस्तु क्या है। उसके गुण क्या हैं! और उसकी शक्ति क्या है!

भाव यह है कि जिस समय सुषुप्ति की दशा में जीव ब्रह्म के योग से आनन्द प्राप्त करता है, यह आनन्द जो कि इन्द्रियों के द्वारा संसार की किसी वस्तु से प्राप्त नहीं हो सकता; शेष इन्द्रियाँ आँख से पूछती हैं कि तू बतला सकती है कि जिससे यह आनन्द प्राप्त होता है, वह क्या वस्तु है।

प्रश्न—श्रुति में तो अग्नि शब्द है, उसके अर्थ आँख किस प्रकार हुए।

उत्तर—कार्य और कारण गुणों से एक ही होते हैं। जैसे सोना और उसके बने हुए आभूषण में सोने के गुण विद्यमान होने से उसे सोने ही के भाव में मोल लेते हैं; ऐसे ही अग्नि और आँख में कार्य और कारण का सम्बन्ध है, अतएव दोनों एक ही हैं। आगे श्रुतियों में भी जहाँ वायु आदि का वर्णन आया है, ऐसा ही विचार कर लेना चाहिए।

तदभ्यद्रवत् तदभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अह-मस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ । १७॥

प० क्र०—(तत्) वह। (अग्नि) (अभ्यद्रवत्) प्रकट हुआ। (सामने हुआ) (तम्) उस। (अग्नि को) (अभ्यवदत्) ब्रह्म ने कहा (कः) कौन। (असि) है। (इति) यह (अग्नि) अग्नि। (वा) निश्चय पूर्वक। (अहम्) मैं। (अस्मि) हूँ। (इति) यह। (अब्रवात्) कहा। (जातवेदा) प्रत्येक दृश्य वस्तु

अर्थ—जब ब्रह्म को देखने के वास्ते सूक्ष्म अग्नि स्थूल अर्थात् आँख की आकृति होकर देखने के लिये गई, तब ब्रह्म ने उससे पूछा कि तू कौन है ? आँख ने कहा कि मैं अग्नि हूँ और जितनी संसार में वस्तुयें हैं उन सबकी ज्ञान कराने वाली हूँ अथवा प्रत्येक धन अर्थात् चमकदार वस्तु की उत्पन्न करने वाली प्रकृतिस्वरूप का कारण हूँ।

प्रश्न—जब कि ब्रह्म निराकार है, तो अग्नि से प्रश्न करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है। और जड़ अर्थात् ज्ञान-रहित अग्नि उसको किस प्रकार उत्तर दे सकती है ?

उत्तर—यह अलंकार है, जिसमें यह दिखाना है कि बिना ब्रह्म की सहायता के अग्नि आदि में कुछ भी शक्ति नहीं। जिस भाँति चुम्बक पत्थर के निकट होने से लोहा क्रिया करता है, उसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति है। सब भूत और इन्द्रियाँ जो कार्य करती हैं, बिना ब्रह्म के कुछ भी नहीं कर सकतीं। यह प्रश्नोत्तर केवल भावार्थ समझाने के लिये है, वस्तुतः कुछ नहीं। इनका केवल आशय वास्तविक है, शब्द वास्तविक नहीं। यह पूर्व कहा गया है कि इसका वास्तविक आशय समाधि दशा में जब इन्द्रियों की सहायता के बिना जीव ब्रह्म का अनुभव करता है, उस समय की प्रत्यक्ष बात-चीत करना है।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥ १८ ॥

प० क्र०—(तस्मिन्) उस। (त्वयि) तुझमें। (किम) क्या। (वीर्य्यम्) शक्ति। (इति) विचार किया। (अपि) और। (इदम्) यह। (सर्वम्) सम्पूर्ण संसार के पदार्थ। (दहेयं) जला सकती हूँ। (यत्) जो। (इदं) यह। (पृथिव्यांम्) सम्पूर्ण संसार में है।

अर्थ—ब्रह्म ने अग्नि से प्रश्न किया कि तेरी क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि इस संसार अथवा संसार के प्रत्येक भाग में जो कुछ दृश्य में आता है, चाहे वह किसी भाग में हो, मैं सबको जला सकती हूँ। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मेरी शक्ति से बाहर हो।

इसका यह अर्थ है कि यदि अग्नि की समस्त शक्ति एकत्र होकर प्रयत्न करे, तो यह संभव है कि संसार की प्रत्येक वस्तु को जला दे। यद्यपि बहुत सी वस्तुयें ऐसी हैं जो भौतिक अग्नि से नहीं जल सकतीं, परन्तु सम्पूर्ण अग्नि की शक्ति के सामने कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो न जल सके; किन्तु अग्नि का एकत्र होना, अग्नि के परमाणुओं के कारण से नहीं, वरन् परमात्मा की शक्ति से है। यदि परमात्मा अग्नि के परमाणुओं का संयोग न करे, तो कुछ भी न जल सके। इसके सम्बन्ध में कहते हैं।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्नशशाकदग्धुं सतत् एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥ १६ ॥

प० क्र०—(तस्मै) उस अग्नि में। (तृणं) एक तिनका। (निदधा) उसके सामने रख दिया। (एतत्) इसको। (दह) जलाओ। (इति) यह। (तत्) वह अग्नि। (उपप्रेयाय) उसके निकट गई। (सर्वजवेन) पूर्ण शक्ति से। (तत) उसको। (न) नहीं। (शशाक) सका। (दग्धुं) जला। (सः) वह। (ततः) उससे। (एव निववृते) पृथक् होकर कहा। (न) नहीं। (एतत्) इसको। (अशकम्) इसको। (विज्ञातु) जान।

(यत्) जो। (एतत्) यह। (यक्षम्) पूजने योग्य है।
(इति) यह।

अर्थ—ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तृण रख दिया, परंतु वह सूक्ष्म अग्नि संयोग अवस्था में न होने के कारण सम्पूर्ण शक्ति से भी उस तिनके को, जिसके जलाने के लिये ब्रह्म ने कहा था, न जला सकी। तब उसे छोड़कर अग्नि ने और देवतों से कहा कि मैं इस पूजने योग्य शक्ति को नहीं जान सकती।

प्रश्न—क्या यह बात सम्भव हो सकती है कि अग्नि से एक तिनका भी न जल सके, जो ढेर के ढेर जला देती है?

उत्तर—सूक्ष्म अग्नि तो प्रत्येक वस्तु में रहती है। वह किसी को नहीं जला सकती; परन्तु जिस समय परमात्मा उसको संयोग अवस्था में लाते हैं, तब ही उसमें जलाने की शक्ति आती है और जब परमात्मा अग्नि को सूक्ष्म दशा पर छोड़ देते हैं, तब उसमें जलाने की शक्ति कुछ भी नहीं रहती। अतएव अग्नि से तिनके का न जलना सम्भव है। भाव यह है कि प्रत्येक भूत में जो शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह सब परमात्मा की दी हुई है। यदि परमात्मा भूतों को सहायता न दें, तो जिस प्रकार मृतक शरीर कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भूत भी कुछ नहीं कर सकते।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेत-यक्षमिति तथेति ॥७॥२०॥

प० क्र०—(अथ) तत्र। (वायुं) वायु को। (अब्रुवन्) कहा। (वायो) हे वायु। (एतत्) यह। (विजानीहि) तू जानती है। (किम्) कौन अथवा क्या। (एतत्) यह।

यत्तम्) अनोखी वस्तु है। (इति) है। (तथा) ऐसा। इति) है।

अर्थ—जब अग्नि (तैजस पदार्थ) ब्रह्म को न जान सका अर्थात् आँख से ब्रह्म का ज्ञान न हुआ, तो देवताओं अर्थात् इन्द्रियों ने वायु की इन्द्रिय त्वचा से कहा कि तुम जानती हो पूजने योग्य क्या वस्तु है; क्योंकि जहाँ आँख से किसी शरीर को नहीं देखते, तो वहाँ उसको स्पर्श करके देखते हैं। यद्यपि अल्प ज्ञानी लोग इन्द्रियों को देखने आदि कामों में उन्हें स्वतन्त्र समझते हैं; परन्तु यह बात सत्य नहीं, किन्तु इन्द्रियाँ देखने में स्वतन्त्र नहीं; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय सहायता से ही चलती हैं।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८।२१॥

प० क्र०—(तत्) वह। (वायु)। (अभ्यद्रवत्) सामने आई। (तम्) उसको। (अभ्यवदत्) ब्रह्म ने कहा। (कः) कौन। (असि) है। (इति) यह कहा। (वायुः) वायु। (वा) निश्चय करके। (अहम्) मैं। (अस्मि) हूँ। (इति) यह। अब्रवीत्) कहा। (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाली वायु। (वा) निश्चय करके। (अहम्) मैं। (अस्मि) हूं। (इति) यह।

अर्थ—जब वायु ब्रह्म के सामने उसकी वास्तविक दशा ज्ञात करने को उपस्थित हुआ, तब ब्रह्म ने उससे पूछा कि तू कौन है ? उसने कहा "मैं वायु हूं, जो सम्पूर्ण आकाश में घूमने वाला मातरिश्वा कहलाता हूँ, वह मैं हूँ।" यहाँ वायु से आशय हवा की इन्द्रिय, त्वचा से है; क्योंकि त्वचा वायु के द्वारा शीत और

उष्ण को अनुभव करती है। बिना वायु के त्वचा को शीतोष्ण का ज्ञान नहीं होता। अतः त्वचा वायु की इन्द्रिय है, उसी वायु से यहाँ अर्थ लिया गया है।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदꣳ सर्वं माद-दीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥९। २२॥

प० क्र०—(तस्मिन्) उस। (त्वयि) तुझमें। (किं) क्या। (वीर्य्यम्) शक्ति। (इति) यह कहा। (अपि) विचार करो। (इदम्) यह। (सर्वम्) सम्पूर्ण वस्तुओं को। (आदि-दीयं) उड़ा दूँ। (यत्) जो। (इदम्) यह। (पृथिव्याम्) पृथिवी में देख पड़ती हैं।

अर्थ—जब ब्रह्म ने वायु से पूछा कि तुझ में क्या शक्ति है तब वायु ने उत्तर दिया कि जो कुछ संसार में वस्तुएँ हैं, उन सबको मैं उड़ा सकती हूँ अर्थात् जितनी छोटी-बड़ी वस्तुएँ संसार में दृष्टि पड़ती हैं उन सब को उठा सकती हूँ, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मेरी उठाने की शक्ति से बाहर हो।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स ततएव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१० ।२३॥

प० क्र०—(तस्मै) वायु में। (तृणं) एक तिनके को। (निदधौ) छोड़ दिया। (एतत्) उसको (आदत्स्व) उड़ादे। (इति) यह सुन कर। (तत्) वह वायु। (उपप्रेयाय) निकट गई। (सर्वजवेन) सम्पूर्ण शक्ति से। (तत्) वह। (न) नहीं। (शशाक) सकी। (अदातुम) उसको उठाना। (सः) वह। (ततः) उससे। (एव) है। (निववृते) पृथक् होकर।

(न) नहीं। (एतत्) उसको। (अशकं) सकी। (विज्ञातुम्) ज्ञान। (यत्) जो। (एतत्) यह। (यक्षम्) पूजा के योग्य है। (इति) यह।

अर्थ—वायु की इस प्रतिज्ञा को सुनकर वह प्रत्येक वस्तु को, जो संसार में है, उड़ा सकती है। ब्रह्म ने एक तिनका वायु के सम्मुख रखकर कहा कि इसको उड़ाओ अथवा उठाओ। वायु सम्पूर्ण शक्ति से उसको उठाने के लिए उस तृण के पास गई; परन्तु शक्ति व्यय करने पर भी उसे न उठा सकी। यह देखकर वायु उसी समय तिनके के पास से हट गई और कहा कि मैं नहीं जान सकती, यह क्या वस्तु है। आशय है कि स्पर्श इन्द्रिय अर्थात् त्वचा सम्पूर्ण शक्ति व्यय करने पर भी ब्रह्म को नहीं जान सकती। जबकि यह दो बलवान इन्द्रियाँ ब्रह्म के जानने में निष्फल हुईं, और कोई भौतिक वस्तु ब्रह्म के जानने के योग्य न मालूम हुई, तब सब इन्द्रियों ने मिलकर, जो इनका राजा इन्द्र अर्थात जीवात्मा है, उससे कहा कि हम तो इस पूजने योग्य तेज स्वरूप को नहीं जान सकते।

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात् तिरोदधे।११।२६

प० क्र०—(अथ) पश्चात् अर्थात् अग्नि और वायु की शक्ति ज्ञात होने के पश्चात्। (इन्द्रम्) इन्द्रियों के राजा जीवात्मा को। (अब्रुवन्) कहा। (मघवन्) हे ऐश्वर्य्य के स्वामी। (एतत्) यह, इसको। (विजानीहि) जानता है। (किम्) क्या। (एतत्) यह। (यक्षम्) तेजस्वरूप है। (इति) यह। (तथा) ऐसा। (इति) है। (तत्) वह जीव अभी। (अभ्यद्रवत्) ब्रह्म के सम्मुख गया। (तस्मात्) उस जीवात्मा से। (तिरः) ओट में। (दधे) हो गया।

अर्थ—जब चक्षु और त्वचा की शक्ति विदित होने के पश्चात् इन्द्रियों ने जीवात्मा से कहा कि हम तो उसे नहीं जान सकते, तू उसको विदित कर, तब जीवात्मा इन्द्रियों से पृथक् होकर ब्रह्म को देखने गया, परन्तु वह यक्ष अर्थात् पूजने के योग्य तेजस्वरूप इस जीवात्मा से अति निकट होने से छिप गया। जैसे आँख प्रत्येक वस्तु को देखती है, परन्तु उसके पास रहने वाला काजल उससे छिपा रहता है अर्थात् आँख उसे नहीं देख सकती, वैसे ही सुषुप्ति की दशा में सब इन्द्रियों को त्याग करके भी जीवात्मा ब्रह्म के जानने में असमर्थ रहा।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬहोवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ । २५ ॥

प० क्र०—(सः) वह जीवात्मा। (तस्मिन्) उसी। (एव) ही। (आकाशे) आकाश में। (स्त्रियम्) एक स्त्री। (आजगाम) आ गई। (बहु शोभमानां) अति शोभायुक्त। (उमाम्) बुद्धि। (हैमवतीं) सोने के भूषणों से शोभायमान। (ताम्) उसको। (ह) जीव ने। (उवाच) कहा। (किम्) क्या। (एतत्) यह। (यक्षम्) पूजने के योग्य (इति) है।

अर्थ—जब सुषुप्ति अवस्था के अनुसार इंद्रियों से पृथक जीवात्मा ब्रह्म को खोज करने लगा, तब समाधि की दशा में सब को बतलाने वाली सूक्ष्म बुद्धि उसे दृष्टि आई, जो ब्रह्म-विद्या अर्थात् परमात्मा के भूषणों से शोभायमान होने के कारण बहुत ही शोभा प्राप्त कर चुकी थी और प्रत्येक भाँति की सिद्धियों के सुवर्ण भूषण उस बुद्धि को मिल चुके थे। जब जीवात्मा ने उस बुद्धि को देखा, तो उससे पूछा कि यह पूजा

करने योग्य तेजस्वरूप वस्तु थी, जिसके जानने में प्रत्येक इंद्रिय अर्थात् देवता सम्पूर्ण अपनी-अपनी शक्ति व्यय करने पर भी व्यर्थ रहे, जिसको मैं भी न जान सका।

तात्पर्य यह है कि न इन्द्रियों से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है और न जीवात्मा ही उनके द्वारा परमात्मा को जान सकता है; केवल सूक्ष्म बुद्धि, जो समाधि की दशा में या पूर्ण वैराग्य होने पर पैदा होती है, उसी से ब्रह्म का ठीक ज्ञान हो सकता है, जिसका ज्ञान अगले खण्डों में आवेगा।

चतुर्थ खण्ड

अब बुद्धि ने जैसा ब्रह्म को बताया, उसका उपदेश करते हैं—

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥ १ । २६ ॥

प० क्र०— (सा) बुद्धि। (ब्रह्म) परमात्मा। (इति) है। (ह) निश्चयपूर्वक। (उवाच) बोला। (ब्रह्मणः) ब्रह्म की। (वा) निश्चय पूर्वक। (एतत्) यह। (विजये) जीत। (महीयध्वम्) महत्ता को प्राप्त करती है। (इति) अंत में। (ततः) उससे। (ह) निश्चय। (एव) ही। (विदाञ्चकार) जीवात्मा ने मालूम किया। (ब्रह्मेति) यह पूजा करने योग्य है।

अर्थ—ब्रह्म-विद्या ने, जो शुद्ध बुद्धि है, जीवात्मा को बताया कि सब देवता अर्थात् इन्द्रियों की जो सफलता है, वह ब्रह्म की

सफलता है। ब्रह्म के कारण से ही सब इन्द्रियों को यह महिमा मिली है; क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ अर्थात् ज्ञान से शून्य हैं और विना ज्ञान के किसी को सफलता हो ही नहीं सकती। इस कारण जब तक ब्रह्म उनकी सहायता न करे, तब तक ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। ब्रह्म जब सहायता करते हैं, तो जीव को मेधा नामी बुद्धि देते हैं, जिससे जीव अपने स्वरूप और ब्रह्म को जानकर मोक्ष प्राप्त करता है। जब तक मेधा बुद्धि प्राप्त न हो, तब तक किसी दूसरी शक्ति से हम ब्रह्म को नहीं जान सकते। इस लिये जहाँ तक हम परिश्रम कर सकते हैं, हमें वेदों के अभ्यास अर्थात् बार-बार विचारने और परमात्मा की उपासना से वह बुद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ । २७ ॥

प० क्र०—(तस्मात्) उस कारण से। (वा) निश्चय। (एते देवा) अग्नि वायु आदि। (अतितराम्) प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं। (इव) इसी भाँति (अन्यान्) अन्य। (देवान्) देवतों को (यत्) जो। (अग्नि) तेज अर्थात् चक्षु। (वायुः) वायु अर्थात् त्वचा (इन्द्रः) जीवात्मा। (ते) वह देवता। (हि) निश्चय-पूर्वक। (एनत्) यह। (नेदिष्ठम्) अति निकट होकर। (पस्पर्शुः) उसको स्पर्श करके विदित किया। (ते) वह देवता। (हि) निश्चय करके। (एनत्) उस ब्रह्म को। (प्रथमः) पहले। (विदाञ्चकार) मालूम करते या जानते हैं। (ब्रह्म) परमात्मा। (इति) यह है।

अर्थ—जीवात्मा, आँख और त्वचा सबसे पहले उस ब्रह्म को अति निकट स्पर्श करते हैं अर्थात् उसके गुणों को मालूम करते हैं और इनके कारण से अन्य इन्द्रियाँ भी ब्रह्म के गुणों से ज्ञानी हो जाती हैं। नेत्र और त्वचा को अन्य इन्द्रियों पर इसी कारण प्रभुत्व है कि वह और इन्द्रियों से पहले सृष्टि में से ईश्वर के गुणों को जानती हैं। इन्द्रियाँ स्वयम् ब्रह्म को जानने योग्य नहीं और न जीवात्मा ही स्वयं अकेला ब्रह्म को जान सकता है; किन्तु शुद्ध बुद्धि से जो कि मन के मल विक्षेप आवरण इन तीनों दोषों से पृथक् होने की दशा में, जो समाधि की दशा है, उसी समय ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है; अन्य अवस्था में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ ३ । २८ ॥

प० क्र०—(तस्मात्) जिस कारण। (वा) निश्चय। (इन्द्रः) जीवात्मा। (अतितराम्) अब अग्रगण्य बनता है (इव) भाँति। (अन्यान्) अन्यों। (देवान्) देवतों पर। (सः) वह ही जीवात्मा। (हि) निश्चय पूर्वक। (एनत्) इन सबको। (नेदिष्ठं) अति समीप से। (स्पर्श) अनुभव किया। (सः) वह। (हि) निश्चय करके। (एनत्) उसको। (प्रथमः) प्रथम। (विदाञ्चकार) जानता है। (ब्रह्म) परमात्मा। (इति) यह।

अर्थ—इन्द्रियाँ बिना जीवात्मा के ब्रह्म को अनुभव नहीं कर सकतीं। केवल जीवात्मा ही बुद्धि की सहायता से परमात्मा को जानता है और उसकी सहायता से इन्द्रियाँ परमात्मा की

बनाई हुई चीजों को ज्ञात करके उससे लाभ उठाती हैं; अतएव जीवात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों से बढ़कर है। एक-एक इन्द्रिय के पृथक् हो जाने से यह शरीर नितान्त व्यर्थ नहीं हो जाता; अन्धा आदि कहलाने पर भी अपने कार्य को करता चला जाता है; परन्तु जीवात्मा के पृथक हो जाने पर सम्पूर्ण इन्द्रियों की स्थिति में भी कोई कार्य नही हो सकता। कतिपय पुरुषों को यह संदेह होगा कि इन्द्रियों के विना जीवात्मा क्या काम कर सकता है; परन्तु विचारशील मनुष्य भली प्रकार से जानते हैं कि जो काम जीवात्मा का है, वह विना इन्द्रियों के भी पूरा हो सकता है और शेष काम शरीर के हैं, उनके पूरा करने को इन्द्रियों की आवश्यकता है, अर्थात् जीवात्मा अपने कार्य में किसी अन्य के अधीन नहीं है।

प्रश्न—जीवात्मा का कौनसा काम है, जो विना इन्द्रियों के पूरा हो सकता है? हम तो कोई काम भी इन्द्रियो के विना होता नहीं देखते।

उत्तर—जीवात्मा का काम आनन्द भोगना है, सो वह उसी दशा में हो सकता है, जब इन्द्रियों से जीव का सम्बन्ध न हो। इस वास्ते समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति दशाओं में, जबकि जीवात्मा परमात्मा के संयोग से आनन्द भोगता है, इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध नहीं रहता, और जिस अवस्था में जीवात्मा इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखता है, उस दशा में उसे ब्रह्मानन्द प्राप्त ही नही होता।

प्रश्न—क्या कारण है कि जीव को इन्द्रियों की स्थिति में आनन्द नहीं मिलता?

उत्तर—इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है; बाह्य पदार्थ सब प्राकृतिक हैं और प्रकृति में आनन्द गुण

मौजूद नहीं हैं; इसी कारण इन्द्रियों द्वारा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न—जबकि इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध से जीव को आनन्द नहीं मिलता, तो क्यों इन्द्रियाँ जीव को विषयों में लगाती हैं?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्राकृतिक वस्तुएँ हैं; इसी कारण वह अपनी जाति प्रकृति से ही सम्बन्ध रखती हैं। दलाल माल लेने वाले को झूठी दूकान पर ही ले जाता है, क्योंकि वहाँ उसे दलाली मिलती है।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४।२६॥

प० क्र०—(तस्य) उस ब्रह्म का। (एष) यह। (आदेश) उपदेश है। (यत्) जो। (एतत्) यह। (विद्युत) बिजली। (व्यद्युतत्) चमकती और छिप जाती है। (आ) इस भाँति। (इति) ऐसा। (इत्) ठीक। (न्यमीमिषत) आँख बंद होती और खुलती है (आ) उसी प्रकार। (इति) इस प्रकार। (अधिदैवतम्) ब्रह्म भी प्रकट होता और छिप जाता है।

अर्थ—उपरोक्त विषय को सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि वह परमात्मा, जो ज्ञानी तथा कर्मकाण्डी मनुष्यों की दृष्टि में सर्वत्र प्रत्यक्ष है, और अज्ञानी मनुष्य उसे नहीं जान सकते, इसी कारण उनसे छिपा है। उस ब्रह्म का ऐसा ही उपदेश है कि जिस प्रकार विद्युत् चमककर छिप जाता है, जिस प्रकार आँख बन्द होती देखती है इसी भाँति ब्रह्म के प्रत्यक्ष होने और छिप जाने को यहाँ अलंकार के रूप में वर्णन किया है।

भाव यह है कि न तो ब्रह्म को अज्ञानी मनुष्य ही समझ सकते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों से उसे देखना चाहते हैं और न कर्महीन ज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्म को अनुभव करते हैं केवल कर्मकांडी ज्ञानी मनुष्य ही जान पड़ते हैं। संसार में ब्रह्म की शक्ति विद्युत की भांति प्रकाश होकर छिप जाती है अर्थात् जिस समय मनुष्य एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में लगता है तो दोनों विषयों के मध्य के समय में उसका ब्रह्म के साथ में सम्बन्ध होता है।

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥५।३०॥

प० क्र०—(अथ) इसके बाद। (अध्यात्मम्) आत्मा विषयक। (यत) जो। (एतत्) यह। (गच्छति) चलता है (इव) ऐसे (च) और। (मनः) मनका। (अनेन) इससे। (च) और। (एतत्) यह। (उपस्मरति) समीप होकर याद करे। (अभीक्ष्णं) वारम्बार। (संकल्पः) मानसिक विचार।

अर्थ—इन्द्रिय और उनके सहायक देवताओं के जानने के पश्चात् मनुष्य को आत्मिक कामों के पूर्ण करने के लिये परमात्मा अर्थात् सबसे बलवान संसार की ओर मन की चंचलता को चलाने का विचार करना चाहिये और मन को प्रत्येक पल परमेश्वर की उपासना में लगावे और उसकी उपस्मृति करके आनन्द को प्राप्त करे। सारांश यह है कि बाह्यसम्बन्ध जो कि इन्द्रियों के द्वारा होते हैं, उनको पृथक करके मन के भीतर जो सर्वव्यापक परमात्मा है, उसके ध्यान में लवलीन हो जावे और मल, विक्षेप और आवरणों की जवनिका जो जीव और ब्रह्म के मध्य है, उसको कर्म उपासना और ज्ञान के सम्बन्ध से

दूर करके आत्मा को आत्मिक सन्मार्ग पर पहुँचावे अर्थात् मनुष्य को यह विचार दृढ़ता-पूर्वक कर लेना चाहिये कि मेरा मन सर्वदा ब्रह्म की ही ओर धावे और ब्रह्म को छोड़कर सांसारिक वासनाओं में, जो मनुष्यों को सन्मार्ग से पृथक् ले जाने वाली हैं न जावे ; किन्तु हर समय ब्रह्म ही के ध्यान में रहे।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं । वेदाभिहैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ । ३१ ॥

प० क्र०—(तत्) वह। (ह) प्रसिद्ध। (तद्वनं) दुःख से बचने के लिये रहने योग्य। (नाम) प्रसिद्ध। (तद्वनं) दुःख से बचने के कारण परमात्मा का नाम तद्वन। (इति) इस प्रकार। (उपासितव्यं) उपासना करनी चाहिये। (सः) वह (यः) जो। (एतत्) इस ब्रह्म को। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है। (अभि) नितान्त। (ह) निश्चय। (एनं) उसको। (सर्वाणि) सम्पूर्ण। (भूतानि) जीव या भूत। (संवांछन्ति) इच्छा करते हैं।

अर्थ—उपरोक्त गुणों से गुणी जो ब्रह्म है, जिसका कथन इस उपनिषद् में आया है, वही ब्रह्म दुःख से पृथक् रहने की इच्छा रखनेवालों को उपासना करने योग्य और प्रसिद्ध है ; क्योंकि प्रकृति सत् है, जीवात्मा सच्चित् है, केवल ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है। जिसको आनन्द की इच्छा हो, उसका उद्देश ब्रह्म की उपासना ही से पूर्ण हो सकता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और प्रकृति की उपासना करने से मनुष्य दुःखों से सर्वथा नहीं छूट सकता। मनुष्य यथार्थ ब्रह्म की उपासना करना जानता है।

अर्थात् ब्रह्म का सच्चा विधान जो योग है, उसको नियम पूर्वक करके ब्रह्म की उपासना करता है। संसार के समस्त विद्वान् ऐसे मनुष्य की मन से भक्ति करते हैं। जिस प्रकार प्रकृति संसार में धन की इच्छा रखने वाले धनी के पास जाती है; ऐसे ही ईश्वर-भक्ति के इच्छुक नियमपूर्वक योग करने वाले के पास जाते हैं। अब चेला अर्थात् शिष्य पुनः गुरु से प्रश्न करता है। यहाँ तक गुरु का उपदेश है। अब गुरु और चेले दोनों के प्रश्नोत्तर हैं।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ । ३२ ॥

प० क्र०—(उपनिषद्) ब्रह्म-विद्या। (भो) हे गुरु। (ब्रूहि) वर्णन कर। (इति) यह। (उक्त) जो कहा है। (ते) तुझको। (उपनिषद्) रहस्य। (ब्राह्मीं) परमात्मा सम्बन्धी। (वाव) निश्चय। (ते) तुझको। (उपनिषद) ब्रह्म-विद्या। (अब्रूम्) कह चुका। (इति) समाप्ति तक।

अर्थ—शिष्य ने गुरु से कहा—"हे गुरु! अब तुम मुझको ब्रह्म-विद्या का भेद बता दो।" तब गुरु ने कहा कि जो कुछ ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध से मनुष्य को ज्ञान हो सकता है, वह मैं तुमको बता चुका। तब शिष्य ने कहा कि जो कुछ आपने बताया है, इसमें जो कुछ शेष रह गया हो, उसको आप बतावें। गुरु ने कहा कि मैं ब्रह्म का उपदेश तुझको कर चुका, अब कुछ बताना शेष नहीं। निश्चय जितनी ब्रह्म-विद्या संसार में है, उसको मैं तुझको बतला चुका हूँ। अब इसमें कुछ बतलाना शेष नहीं है।

प्रश्न—जब कि गुरु ने चेले को सम्पूर्ण ब्रह्म-विद्या का उपदेश कराया था, तो शिष्य को ब्रह्म के सम्बन्ध में सन्देह क्यों रहा, जिससे उसने यह कहा कि और जो शेष है उपदेश करिये।

उत्तर—ब्रह्म-विद्या श्रवण अर्थात् गुरु से उपदेश सुनने, उसको युक्ति से रात-दिन विचारने, निध्यासन उस पर नियम-पूर्वक कर्म करने से होता है और गुरु उपदेश केवल श्रवण है, मनन और निध्यासन की कमी थी। इसलिये चेले को ब्रह्म-विद्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ, अतएव उसने गुरु से प्रश्न किया।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदा सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ । ३३ ॥

प० क्र०—(तस्यै) उसमें प्रवेश करने को। (तप) तप करना अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीतोष्ण का सहन करना। (दमः) मन को वश में रखना। (कर्म) वेदानुकूल कर्मों का करना। (इति) यह। (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा। (वेदा:) ऋग्, यजुर, साम, अथर्व चारों वेद। (सर्वांगानि) वेद के छः अङ्ग और छः उपाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह वेद के अङ्ग; न्याय-दर्शन वैशेषिक-दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग, मीमांसा, वेदान्त-दर्शन यह छः वेद के उपाङ्ग हैं। (सत्यम्) सत्य बोलना, उसके अनुकूल कर्म करना और सत्य स्वरूप परमात्मा के सहारे रहना। (आयतनम्) रहने का स्थान है।

अर्थ—ब्रह्म का पूर्ण उपदेश करके, उसके प्राप्त होने की आवश्यकीय सामग्री का उपदेश करते हैं अर्थात् ब्रह्म को जानने

के लिये, मल-दोष को दूर करने के लिये, तप और कर्म की आवश्यकता है अर्थात् जब तक तप न हो, वह इन्द्रियों की इच्छा को दबा नहीं सकता और जब तक वेदानुकूल कर्म नहीं करता, तब तक मन को बुरे कर्मों की इच्छाओं से रोक नहीं सकता। अतः प्रथम साधन तप और कर्म हैं, उसके पश्चात् विशेष दोष को दूर करने के वास्ते मन को रोकने की आवश्यकता है, जिससे वह चंचल न रहकर एक स्थान पर स्थिर हो जावे। उसके लिये ईश्वर-उपासना के नियम योग को काम में लाने की आवश्यकता है। पुनः आवरण दोष को दूर करने के लिये वेदों की शिक्षा की आवश्यकता है और वेदों के ठीक-ठीक आशय को समझने के वास्ते ६ अङ्ग और ६ उपांग के जानने की आवश्यकता है।

जब तक मनुष्य वेदों के अंग और उपांग को नहीं जानता, तब तक वह वेद को ठीक तौर पर नहीं जान सकता और जब तक वेदों को यथावत् समझ न ले, तब तक उसे ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु यह सब ज्ञान भी सत्य के साथ रहने से काम आता है, क्योंकि सत्य ही इन सबके रहने का स्थान है। जब तक सत्य न हो, तब तक कर्म, दम और वेदों का ज्ञान यथार्थ हो नहीं सकता। अतः सत्य सब साधनों में एक उत्तम साधन है।

यो वा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते। स्वर्गे लोके ज्येष्ठे प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥६।३४॥

प० क्र०—(यः) जो आदमी। (वै) निश्चय। (एता) इस ब्रह्म-विद्या को। (एवम्) इस नियम से। (वेद) जानता है। (अपहत्य) नाश करके। (पाप्मानम्) अनन्त जन्मों के

महापापों को अर्थात् अनन्त पापयुक्त स्वभाव को (अनन्ते) असीम। (लोके) लोक। (स्वर्गे) सुख के कोप । (ज्येष्ठे) सब से उत्तम परमात्मा में। (प्रतितिष्ठति) अवश्य स्थिर होता हैं अर्थात् अन्य वासनाओं से बचकर केवल परमात्मा में लग जाता है। (प्रतितिष्ठति) अवश्य स्थिर होता है। यहां दो बार आने का मतलब समाप्ति और विशेष ध्यान से है।

अर्थ—जो मनुष्य उक्त श्रुतियों में बताई हुई ब्रह्म-विद्या को यथार्थ जानता है अर्थात् पूर्ण विश्वास के सीमा तक पहुंचा देता है, वह मनुष्य बहुत समय से एकत्रित पापों के स्वभावों से बचकर अन्त को सर्व सुख-सागर परमात्मा में स्थिर होकर आनन्द भोगता है और जब तक मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान को अनियम जानने का परिश्रम करता है, तब तक उसे ब्रह्म का ज्ञान ही नहीं होता। जब तक ब्रह्म का ज्ञान न हो, तब तक सुख प्राप्त नहीं होता।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते केनोपनिषदे
भाषा भाष्ये समाप्तः।



कठोपनिषद्

प्रणम्य परमात्मानं, गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
कठोपनिषद् प्रपंचाख्यं, भाषा भाव सुनिश्चये ॥

मंत्र—उशन् हवै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

प० क्र०—(उशन्) मुक्ति की इच्छा वाला । (हवै) भूतकाल की घटना को स्मरण दिलाने के हेतु शब्द का प्रयोग है । (वाजश्रवसः) वाजश्रवस नामी विद्वान् । (सर्ववेदसम्) जो इसके पास बाह्य धन था । (ददौ) वह उसने दान कर दिया । (तस्य) उस विद्वान् का । (ह) प्रसिद्ध । (नचिकेता) यह नाम है । (नाम) उक्त नाम वाला । (पुत्रः) पुत्र । (आस) हुआ था ।

अर्थ—वाजश्रवस नामी ऋषि ने मोक्ष की इच्छा से अपना सम्पूर्ण धन, गौ आदि पशु जो कुछ था दान कर दिया । उस

ऋषि का एक पुत्र नचिकेता नामक था। उस प्राचीन कहानी को लोगों को मुक्ति के साधनों का उपदेश करने के लिये कहते हैं।

तꣳ ह कुमारꣳ संतं दक्षिणासु।
नियमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यतं ॥२॥

प० क्र०—(तम्) उस नचिकेता। (ह कुमारम्) कुमार बालक को। (सत्तम्) उपस्थित में। (दक्षिणासु) दक्षिणाओं के। (नीयमानासु) नियम बद्ध जाते हुए। (श्रद्धा) धर्म का विचार। (आविशेश) उत्पन्न हो गया कि मेरा पिता यह क्या करने लगा है। (सः) उस नचिकेता ने। (अमन्यतं) निज मन में ऐसा विचार किया।

अर्थ—बाल्यावस्था होते हुए भी उस नचिकेता के मन में धर्म की श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसने विचार किया कि मेरा पिता यह धर्म के स्थान में क्या अधर्म करने लगा है। क्योंकि यज्ञ की दक्षिणा में जो गौवें थीं, वह बूढ़ी थीं और बूढ़ी गौवों के दान से धर्म के स्थान में अधर्म होता है। दान इस कारण दिया जाता है कि औरों को लाभ पहुँचे। जिस दान से लाभ के स्थान में हानि पहुँचे और देने वाले को विदित हो कि इस दान के लेने से कोई लाभ नहीं होगा, किन्तु हानि पहुँचेगी तो वह दान पाप है। जैसा कि आगे प्रकट होगा।

पीतोदका जग्ध तृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तां स गच्छति तादद्त् ॥३॥

प० क्र०—(पीतोदकाः) युवावस्था में जिनका दुग्ध पिया जा चुका हो। (जग्धतृणा) घास जिन्होंने खाली हो। (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका हो। (निरिन्द्रियाः) जब संतान उत्पन्न करने से जो बहुत वृद्ध होगई हों। (अनन्दाः)

सुख और आनन्द से रहित उन्नतिहीन। (ते) वह। (लोकाः) शरीर-जन्म। (तान्) उन जन्मों को। (गच्छति) जाता है। (ताददत्) जो इस भाँति की बूढ़ी गौ दान करता है।

अर्थ—युवावस्था की दशा में जब गौ दूध देने योग्य नहीं और जंगल से घास चर कर अमूल्य दूध पिलाती हैं, तब तो इनका दूध पीते रहे, जब वह बहुत बूढ़ी होने के कारण दूध देने के योग्य न रही तब उनको किसी पुरोहित अथवा पण्डा को दान कर दिया। इस प्रकार का दान करने वाले मनुष्य उन योनियों अर्थात् जन्मों को प्राप्त करते हैं कि जिन योनियों में आनन्द का नाम भी सुनाई नहीं देता आनन्द मिलना तो दूर रहा।

प्रश्न—क्या दान करने से भी नर्क मिलता है? हम गौ-दान करने का बड़ा माहात्म्य प्रायः सुनते हैं।

उत्तर—यह कृतघ्नता है। गौ-दान करने वाले की न कि 'गौ-दान' की क्योंकि जब तक उससे लाभ मिला उसको प्राप्त किया और जब कि लाभ मिलने की आशा न रही, तब दूसरे के गले मढ़ दिया। यह बहुत बड़ा पाप है, कृतघ्नता से बढ़ कर कोई पाप नहीं।

प्रश्न—कृतघ्नता को इतना बड़ा पाप क्यों माना?

उत्तर—क्योंकि इस पाप से मूर्खों के मन में नेकी से घृणा उत्पन्न होती है। वह जानते हैं कि अमुक मनुष्य ने उपकार किया था उसको यह फल मिला। अगर हम उपकार करेंगे तो हमारी भी यही दशा होगी। अतः वह शुभ कामों से दूर रहते हैं। जिससे संसार में नेकी को बहुत हानि पहुँचती है। अतः संसार से भलाई दूर करना महा पाप है।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयम् तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

प० क्र०—(सः) उस। (नचिकेता) ने। (उवाच) कहा (पितरम्) पिता को। (तत) प्रिय। (कस्मै) किस का। (मां) मुझ को। (दास्यसीति) दोगे। (द्वितीयम्) अन्य को। (तृतीयम्) तीसरे को। (ह उवाच) उस बालक से पिता ने। कहा। (मृत्यवे) मौत को। (त्वा) तुझको। (ददामि) देता हूं। (इति) यह।

अर्थ—इस विचार से नचिकेता ने अपने पिता से कहा कि तुम मुझ को किसको दोगे। तब उसके पिता ने उत्तर दिया कि तुझ को मृत्यु को दूंगा। इसके दो अर्थ हो सकते हैं कि तूने उद्दंडता की है, इस कारण तुझ को जान से मार डालूंगा। या मृत्यु नाम किसी ऋषि का होगा, उस को दूंगा। यदि प्रथम का अर्थ लिया जावे तो ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि उस नचिकेता ने ऐसा अपराध नहीं किया था जो मृत्यु दण्ड के योग्य होता। प्रथम तो नचिकेता ने इस का फल विचारा था कि पिता जिस भूल को करने लगा है, इस का फल पिता को दुःख होगा। इस कारण इस ने कहा था कि मुझ को किस को दोगे। क्योंकि पुत्र से अधिक मूल्य की वस्तु दूसरी हो नहीं सकती। पुत्र को दक्षिणा में देने से बुरा गौ दान देने का पाप न होगा। क्योंकि अच्छा बुरा जो पास था सब ही दे दिया, यदि अच्छा न दिया केवल बुरा ही बुरा दिया तो पाप लगेगा। जबकि नचिकेता सच्चे मनसे कह रहा था तो उस के गले पाप किस प्रकार लग सकता है। जब इस का दोष नहीं तो साधारण मनुष्य भी

इस कठोर दण्ड को नियत नहीं कर सकता तो ऋषि क्यों करने लगा था, अतः पहला अर्थ ठीक मालूम नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि मृत्यु को दूंगा ऐसा किस प्रकार कहते हैं क्योंकि मृत्यु का अथ शरीर से जीव का वियोग है, शरीर तो यहीं आग में जला दिया जाता है, यदि गया तो जीव गया। जीव का नाम नचिकेता नहीं और न जीव के देने का ही उसको अधिकार है, अतः ऋषि के कहने से और आग के विषय से प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि ऋषि ने ऐसा शब्द कहा कि जिससे नचिकेता को दण्ड भी हो जावे अर्थात् वह डर भी जावे और ऋषि का कथन भी पूर्ण हो सके ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः । किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्यं करिष्यति ।।५।।

प० क्र०—(बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में । (एमि) प्राप्त करूंगा । (प्रथमः) प्रथम । (बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में । (इमि) प्राप्त करूंगा । (मध्यमः) मध्यम संख्या किसी से बुरा नहीं । (किम्) कौन सा । (स्वित) अधिकार । (यमस्य) मृत्यु का ही । (कर्त्तव्य) काम है । (यत) जो । (मया) मेरे द्वारा । (अद्य) आज । (करिष्यति) करेगा ।

अर्थ—पिताकी इस बातको सुन कर नचिकेता सोचने लगा कि पिता ने यह आज्ञा क्यों दी । बहुत से लड़कों में जो मेरे साथ पढ़ते हैं मैं प्रथम हूं और बहुत से लड़कों में मध्यम हूं । मैं बुरा किसी दशा में नहीं । फिर मृत्यु दण्ड का कौनसा काम है जो मेरे द्वारा प्राप्त होगा । जिसके वास्ते मुझे पिता ने यह आज्ञा दी । क्योंकि ऐसा कठोर दण्ड उसको देना चाहिये बुराई से लोग बच जायें जैसा मैं बुरा हूँ । या इस कारण से कि उस

की मृत्यु से दूसरे का उपकार हो, सो मृत्यु का कौनसा काम है जो आज मेरे मरने से पूर्ण होगा। इस कारण से नचिकेता डर गया और पिता को क्रोध में देख कर बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे। सस्य-मिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवा जायते पुनः ॥ ६ ॥

प० क्र०—(अनुपश्य) मन में विचार कर देखो। (यथा) जैसे थे। (पूर्वे) पहले मेधावी लोग अथवा विचार कर देखो जैसे पितादि। (प्रतिपश्य) सब चल दिये। (तथा) ऐसे (परे) जिस प्रकार वह अपनी बात को मानते हैं। (सामेव) ऐसे ही। (मनः) वर्त्तमान के विद्वान् भी बात पर अमल करते हैं, तुम अपने इस प्रण पर किस को दोगे। (पच्यते) यवादि के खेत के समान कटने वाला यह शरीर पककर नाश हो जाता है। (सस्यमिव) और उसी खेत की भाँति। (जायते) उत्पन्न होता है। पुनः दो बार।

अर्थ—पिता को क्रोधावस्था में देख कर नचिकेता को विचार उत्पन्न हुआ, कि क्रोध की अवस्था में मुझे मृत्यु के देने को कह तो चुका है, परन्तु अब उससे हिचकिचाता है, तब नचिकेता ने कहा—हे पिता! तुम अपने बाप दादादि बड़ों की ओर देखो कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा और अपने धर्म के वर्त्तमान काल के विद्वानों की ओर देखो, वह भी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते, जो वह कह देते हैं वह पूरा करते हैं। अतः तुम मुझको बिना किसी, चिंता के मृत्यु को देदो, क्योंकि इस प्रण को पूरा न करना आपके लिये अच्छा नहीं है। जिस प्रकार खेत उत्पन्न होता है तब हरा भरा मालूम होता है, ऐसे ही समय पर वह पककर शुष्क हो जाता है फिर दो बारा नाश

हो कर उत्पन्न हो जाता है। यही दशा इस शरीर की है। इस में उत्पत्ति और नाश दोनों ही होते हैं, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो उत्पन्न हो और नाशवान् न हो। इस कारण मेरी मृत्यु की चिंता न करो। क्योंकि यह शरीर अनित्य है। धनादि भी नहीं रहते और मृत्यु एक दिन अवश्य आती है। अतः धर्म को संग्रह करने का उद्योग करो। ऐसी बात का पूरा न करना ठीक नहीं। तुम मुझ को मृत्यु को देदो। नचिकेता की इस दृढ़ता को देख कर पुराने ब्रह्मचारियों की दशा का पता चलता है।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणोगृहान् तस्यै-ताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥७॥

प० क्र०—(वैश्वानरः) अग्नि सदृश जिस ब्रह्म चारी का मस्तक चमकता हो। (प्रविशति) प्रवेश किया है। (अतिथि) जिसके आने की कोई तिथि नियत नहीं। (ब्राह्मणः) ब्राह्मण कुल में ब्राह्मण के गुण कर्म स्वाभाव वाला। (गृहान्) घरों में। (तस्य) इसकी। (एताम्) धर्मात्मा लोग प्रतिष्ठा करते हैं। (शांतिम्) शान्ति। (कुर्वन्ति) करते हैं। (हर) प्राप्त करो। (वैवस्वतः) सूर्य के समान तेजस्वी नचिकेता के लिये। (उदकम्) जल।

अर्थ—नचिकेता के इन शब्दों को सुन कर उसके पिता ने मृत्यु नाम आचार्य के पास भेज दिया। और नचिकेता जो ब्रह्मचर्य्य के ठीक पालन करने के कारण अग्नि की भाँति तेज रखता था। जिसने ब्रह्मचर्य्य तेज को प्राप्त किया था। जिस समय मृत्यु नामी आचार्य के भवन में अतिथि के समान प्रवेश किया। तब इस अतिथि को घर में प्रवेश होते देखकर मृत्यु

नामी आचार्य की स्त्री ने जलादि देकर नचिकेता को शान्ति करना चाहा। परन्तु नचिकेता ने इस विचार से कि पिता ने मृत्यु के पास भेजा है और मृत्यु यहाँ पर नहीं मृत्यु के मिले विना कोई काम करने से पिता की आज्ञा पूर्ण नहीं होगी। अतः तीन दिन तक जब तक कि आचार्य नहीं आये विना अन्न-जल के उनके मकान पर निवास किया। सब के कहने पर भी पिता की आज्ञा के विरुद्ध करना उचित नहीं समझा।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य यहाँ मृत्यु का अर्थ जीवन नाश लेते हैं?

उत्तर—जिसके पिता का दशवाँ या जिसको दशवाँ कहते थे वह मृत्यु का चिह्न कैसे हो सकता है। क्योंकि मृत्यु कोई द्रव्य नहीं, किन्तु शरीर और आत्मा के वियोग का नाम है, और आगे जो इतिहास आता है उससे स्पष्ट शब्दों में प्रकट होता है। भला मृत्यु का कौन-सा घर है, जहाँ जावे, उसकी स्त्री आदि कौन-सी है। इसलिये जहाँ मृत्यु नाम से एक आचार्य ही थे।

आशा प्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृतांचेष्टापूर्ते पुत्र पशूꣳश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

प० क्र०—(आशा) लाभदायक वस्तु को इच्छा से मांगने का नाम आशा है। (प्रतीक्षे) जिस वस्तु का स्वरूप ठीक प्रकार नहीं जाना उसके प्राप्त करने का नाम प्रतीक्षा है। (सङ्गतम्) सत्संग से जो फल प्राप्त होता है। (सूनृताम्) दया से जो कहा जाता है। (इष्टा पूर्ते) यज्ञ आदि कर्म का फल तथा बावली, कुवाँ, तालाब, वाटिका, उपवन लगाना आदि

जो धर्म के काम हैं, इसका फल। (पुत्र) बेटे और शिष्य। (पशून्) गाय, भैंस, बैल, घोड़े आदि पशु। (सर्वाणि) सबको। (एतद्) सबके फल को। (वृङ्क्ते) नाश कर देता है। (पुरुषस्य) पुरुष के। (अल्पमेधसः) जिसकी बुद्धि बहुत थोड़ी हो। (यस्य) जिसके। (अनश्नन्) बिना खाये पिये। (वसति) रहता है। (ब्राह्मण) वेद का जानने वाला या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ। (गृहे) घर में।

अर्थ—जितनी लाभदायक वस्तु की अभिलाषा की है, प्रार्थना में की हो जितनी अनजानी वस्तुओं की बाट देखता है, जितना सत्संग करके फल प्राप्त किया हो, जितना भी अग्निहोत्रादि यज्ञ किये हों, जितनी बावली बनवाई, कुवें खुदवाये, तालाब बनवाये, बाग लगवाये और जो शुभ काम किये हो, अनाथालय बनवाये और अश्वादि जितने घर में पशु हैं इन सबको हानि पहुँचती है, जिस अल्प बुद्धि के मकान पर आया हुआ वेद का जानने वाला अतिथि बिना अन्न-जल पाये लौट जावे। आशय यह है कि जिस मूर्ख के घर में विद्वान् अतिथि बिना खाये पिये रात्रि को रहे, उसको महा पाप होता है। जिस प्रकार की आज्ञा अतिथि की सेवा की वेद ने प्रदान की है यदि इसी प्रकार मनुष्य उसका पालन करें तो संसार में से सब दोष दूर हो जावें और कोई देश भी अज्ञान से भरा हुआ दृष्टि न पड़े।

प्रश्न—क्या कारण है कि ब्राह्मण को भूखा रहने से इतनी हानि बताई ?

उत्तर—चूंकि ब्राह्मणों का जीवन विद्या और परोपकार के लिये है, इस हेतु जब तक विद्वानों और परोपकारों का

संस्कार होता है तब तक वह बिना किसी सामान के उपदेश करते हैं और जहाँ उनकी प्रतिष्ठा में कमी हुई वहाँ उपदेश के काम में विघ्न उत्पन्न हुआ। और उपदेश का काम बिगड़ने से दोष फैल जाते हैं। संसार में सदाचार को नियम में रखने वाले ब्राह्मण ही हैं।

प्रश्न—आज कल तो अधिकतर ब्राह्मण निकृष्ट काम करते हैं?

उत्तर—ब्राह्मणादि गुण कर्म से होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों का गुण कर्म स्वभाव नहीं वह ब्राह्मण नहीं कहला सकते।

प्रश्न—तुमने ब्राह्मणों की सन्तान को ब्राह्मण बताया है।

उत्तर—जहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम के भीतर किसी ब्रह्मचारी को ब्राह्मण कहा जावेगा, वह मा बाप के कारण से होगा और दूसरे आश्रमों में गुण कर्म से।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीगृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ६ ॥

प० क्र०—(तिस्रः) तीन। (रात्रीः) रात तक। (यत् अवात्सी) जो उपवास किया है। (गृहे) घर में। (मे) मेरे। (अनश्नन्) बिना खाये पिये। (ब्राह्मणः) हे ब्राह्मण। (अतिथि) पूजा के योग्य जिसके आने का दिन नियत न हो। (नमस्तेऽस्तु) मैं तुम्हारा मान और सत्कार करता हूँ इसे स्वीकार करो। (नमस्य) नमस्कार के योग्य (ब्रह्मन्) ब्राह्मण के धर्म से युक्त। (स्वस्ति) कल्याण। (मे) मेरा। (अस्तु) हो। (तस्मात्) इस कारण। (प्रति) एक पहर। (त्रीन्) तीन। (वरान्) वरेच्छा को। (वृणीष्व) माँग ले।

अर्थ—जब यमाचार्य ने घर पर एक ब्राह्मण को तीन दिन तक उपवास करने का समाचार सुना, तब उससे कहा—हे ब्राह्मण! तू जो तीन दिन तक मेरे घर में बिना खाये पिये रहा है और अतिथि का भूखा रहना गृहस्थ के लिये बड़ा पाप है। इस हेतु इस अतिथि पूजा के योग्य में तुम्हारी प्रतिष्ठा करता हूँ, मैं तुझको नमस्ते करता हूँ। तुम इस पाप से मुझे बचाने के लिये तीन वर माँगो, जिससे मेरा कल्याण हो। क्योंकि अज्ञात पात का प्रायश्चित्त होता है। मेरी अनुपस्थिति में जो तुमको कष्ट हुआ है इस पाप के बिना प्रायश्चित्त मेरा कल्याण नहीं हो सकता। अतः तुम मुझ से तीन वर माँगो। जिससे तुम्हारे मन को जो दुःख हुआ है वह दूर हो जावे, और मेरा पाप दूर हो जावे। जब तक तुम प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा नहीं करते, तब तक गृहस्थ धर्मानुकूल मेरा कल्याण कठिन है। एक एक रात्रि के दुःख के परिवर्त्तन में एक एक वर माँग लो।

मृत्यु के इस वाक्य को सुनकर नचिकेता तीन वर माँगने के वास्ते उद्यत हुआ, प्रथम वर यह माँगा।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

प० क्र०—(शांतसंकल्पः) जिस के मन की चंचलता शांत हो गई हो। (सुमनाः) प्रसन्न मन हो गया। (यथा) जिस प्रकार। (वीतमन्यु) क्रोध नष्ट हो गया हो। (गौत्तम) गौत्तम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता। (यामभि) मुझको। (मृत्यो) मृत्यु नाम वाले आचार्य। (त्वत्प्रसृष्टम्) तेरे भेजे

हुए। (मां) मुझको। (अभि) सम्बोधित। (वदेत्) कर। (प्रतीत) प्रसन्न होने का हाल पूछ चुप न रहे। (एतत्) यह जान कर वही नचिकेता है जिस को मृत्यु के पास भेजा था। (त्रियाणां) तीन वरों में से। (प्रथमम्) प्रथम (वरम्) आवश्यकीय वस्तु। (वृणे) माँगता हूँ।

अर्थ—नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि हे गुरु! जिस प्रकार गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता मन के विकारों से मुक्त हो जावे, इस के चित्त में जो चिंतादि हैं वह सब नष्ट हो जावें और ऊपर से प्रसन्न दृष्टि पड़े। और जब तुम्हारे भेजने से मैं जाऊँ तो मुझ से कुशल क्षेम पूछे। क्रोधादि के कारण चुप न रहे और मुझे जान करके कि यह वही नचिकेता है जिस को मृत्यु के पास भेजा था, सम्मुख होकर बोले। सब से प्रथम वर उन तीनों में से मुझे यह दीजिये। चूंकि नचिकेता के मन में आरम्भ से पिता की मंगल कामना थी। उसने जो कुछ कहा था अपने स्वार्थ से नहीं किन्तु पिता की मंगल कामना से था। अतएव वरों में भी प्रथम उस ने वही वर मांगा जिस से उस का पिता क्रोध से बच जावे। जिस जिस क्रोध से पिता ने पुत्र को मृत्यु को देने का प्रण कर लिया था। दूसरे पिता की शांति से मन को "शांति का" वर मांगा। क्योंकि जिस शांति के वास्ते पिता ने इतना पुरुषार्थ किया था और सब कुछ दान किया था उसी शांति के पुत्र ने इच्छा की और जाना कि मुझ से वह अप्रसन्न न रहे। भारत की पुत्र-भक्ति तो दुनिया में अनुपम है। कोई अयोग्य पुत्र भारत में कम मिलेगा जो पिता को दुःख देना चाहता हो, जिसके मन में उसको सुख पहुँचाने का विचार न हो।

नचिकेता के इस वर मांगने पर मृत्यु आचार्य यह कहते हैं।

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकि-
रारुणिर्मत्प्रसृष्टः । सुखँ रात्रि शयिता वीतमन्यु
स्त्वां ददृशिवान् मृत्यु मुखात् प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(यथा) जैस प्रेम से युक्त। (पुरस्तात्) जैसे पहले था। (भविता) हो जायेगा। (प्रतीत) यह जानकर कि वही नचिकेता हैं। (औद्दालकिः) और एक। (आरुणि) अरुण की सन्तान वाजश्रवस तेरा पिता। (मत्प्रसृष्टः) मेरे बताने से (सुखम) सुख से मन प्रसन्न हुआ। (रात्रीः) रात को। (शयिता) सोने वाला होगा। (वीतमन्यु) क्रोध से रहित होकर। (त्वाम्) तुझ नचिकेता अपने पुत्र को। (ददृशिवान्) देखेगा। (मृत्युमुखात) मृत्यु के मुख से (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ।

अर्थ—नचिकेता को मृत्यु आचार्य ने वर दिया कि जिस प्रकार तेरा पिता पहले प्रसन्न था, ऐसे ही तुझको पहिचानकर कि यह वही नचिकेता है प्रसन्न होगा और रात को पहले की भाँति सुख से सोवेगा और तेरे पिता का सब क्रोध दूर होगा। जितनी बातें नचिकेता ने मांगी थी उतनी ही यमाचार्य ने उसको दे दीं अब दूसरा वर नचिकेता ने मांगा।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न
जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोका-
तिगोमोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

प० क्र०—(स्वर्गे) सब से अधिक सुख जिस स्थान पर मिले उसे स्वर्ग कहते हैं। (लोके) यज्ञादि कर्म के फल से

देखने योग्य जन्म। (न) नहीं। (भयम्) भय। (किञ्चन्) किसी प्रकार का। (न) नहीं। (अस्ति) बुढ़ापे का। (न) नहीं। (तत्र) स्वर्ग में। (त्वम्) तुम बताओ। (न) न (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) भय है। (उभे) दोनों को। (तीर्त्वा) करके। (अशनाया) भूख। (पिपासे) प्यास से। (शोकातिगोमोदते) शोक से रहित होकर आनन्द भोगता है। (स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में।

अर्थ—स्वर्ग में किसी प्रकार का भय नहीं है, क्योंकि न तो वहाँ मृत्यु है और न बुढ़ापा है। जहाँ सुख तो हो और दुःख का कोई समान न हो और भय का कारण मृत्यु है यदि मृत्यु न हुई तो भय किस बात का, जहाँ बुढ़ापे का चिन्ह ही नहीं। क्योंकि बुढ़ापे को देखकर भय उत्पन्न होता है कि मैं मरूँगा, परन्तु बुढ़ापा नहीं, और भूक प्यास से दुःख होता है और दुःख से भय होता है परन्तु स्वर्ग में न भूख है न प्यास शीत है, न ऊष्णता, न मान है, न अपमान। तात्पर्य्य यह कि किसी प्रकार की ऐसी सामग्री नहीं जिससे कोई भय हो। अतएव शोक से रहित आनन्द और प्रसन्नता पूर्वक स्वर्ग लोक में रहते हैं। परन्तु स्वर्ग का सुख मुक्ति से फिर भी कम है, ऐसा विद्वानों ने सुना है। एवम् आप बतावें कि स्वर्ग और मुक्ति की वास्तविक दशा क्या है। जब कि स्वर्ग में कोई दुःख ही नहीं और प्रत्येक भाँति का सुख सम्पादित है। तो मुक्ति में उससे क्या विशेष बात है जिससे शास्त्रकार मुक्ति सब सुखों से उत्तम सुख मानते हैं। आप इसकी वास्तविक दशा (मूल तत्व) को जानने वाले हैं, इस कारण जो मूल बात है मुझसे कहें।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो! प्रब्रूहि तँ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

प० क्र०—(सत्वं) वह तू। (अग्निम्) अग्नि को। (स्वर्ग्यम्) जो स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण है। (अध्येषि) जानता है। (मृत्यो) मृत्यु नामी आचार्य। (प्रब्रूहि) बतला जिससे। (तम्) उस स्वर्ग के कारण अग्निहोत्रादि यज्ञ को। (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखने वाले। (मह्यम्) मुझ को। (स्वर्ग-लोकाः) जिन यज्ञ करने वालों को स्वर्ग का दर्शन हुआ है। (अमृतत्वं) मृत्यु से रहित अर्थात् शरीर के अभिमान से रहित हैं, वह कभी मरते ही नहीं, क्योंकि मृत्यु शरीर और जीव की वियोगता का नाम है। उन्होंने ज्ञान जीव और शरीर को प्रथम से पृथक् जाना है। (भजन्ते) भोग करते हुए। (एतत्) यह। (द्वितीयेन) दूसरे के कारण से। (वृणे) माँगता हूँ। (वरेण) वर के कारण से।

अर्थ—नचिकेता ने फिर कहा कि हे यमाचार्य! जिस अग्नि-होत्रादि यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त होता है, आप उस को जानते हैं, क्योंकि यज्ञों में प्रधान वस्तु जो अग्नि है, उसको आपसे पूछता हूं वर्णन कीजिये। और जो कर्मों के फल से स्वर्ग लोक में जाते हैं उनको अधिक काल तक सुख से जीवन मिलता है और वह सब प्रकार आनन्द भोगते हैं। क्योंकि थोड़े जीवन के सम्बन्ध से बहुत दिन का जीवन अमृत कहलाता है। यथा देर तक रहने वाली वस्तु को दृढ़ कहते हैं। यद्यपि कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नहीं, अतएव दूसरे वर से अग्निहोत्रादि स्वर्ग के कारण यज्ञों की साधक अग्नि को जानना चाहता हूँ। पहले

वर से तो नचिकेता ने पिता के सुख की इच्छा की, जो धर्म का सबसे बड़ा अर्थ अंग है, क्योंकि देव कार्यों में माता पिता और आचार्य को देवता माना है।

दूसरे वर में अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधनों को जानने की इच्छा की इस श्रेणीबद्ध प्रश्न करने में नचिकेता की बुद्धि का पता लगता है कि वह कैसा उत्तम ब्रह्मचारी था। ज्ञान का प्रमाण श्रेणी का ठीक प्रकार नियत करना ही है। नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर यमाचार्य देते हैं।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥१४॥

प० क्र०—(प्रते) विशेष रूप से तेरे लिये। (ब्रवीमि) कहता हूँ। (तदु) उसको। (मे) मुझसे। (निबोध) ठीक प्रकार समझ। (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण। (अग्निम्) अग्नि को। (प्रजानन्) जानता हुआ। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (अनन्त लोकाः) अनन्त। (अधिक) जीवन। (प्रतिष्ठाम्) सम्पूर्ण संसार के ठहरे रहने का जो कारण है अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से जगत् स्थिर है। सबके स्थान का कारण अग्नि। (त्वमविद्धि) जान तू। (एनम्) इस प्रत्यक्ष अग्नि को। (निहितम्) नियत होकर। (गुहायाम्) बुद्धि में।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं हे नचिकेता! मैं जो कुछ स्वर्ग के साधन अग्नि के विषय में जानता हूँ जो अग्नि अनन्त अर्थात् दीर्घ जीवन का कारण है, क्योंकि अनन्त प्राणों का

नाम है जो अग्नि से काम करते हैं और सम्पूर्ण संसार के नियत रहने का कारण यही अग्नि है। सम्पूर्ण गोले जिस केन्द्र की परिक्रमा कर रहे है वह सूर्य हैं, यदि सूर्य न हो तो सम्पूर्ण सूर्य सम्बन्ध बिगड़ जावे। हे नचिकेता! तू इस मेरे बताये हुए विषय को बुद्धि को स्थिर करके समझ। क्योंकि कठिन विषय चंचल मन की दशा में समझ में नहीं आते।

प्रश्न—आचार्य ने जो कहा कि मैं जानता हूँ, तो इसको सुनकर बुद्धि को स्थिर करके समझ गया। आचार्य को अभिमान था जो ऐसा कहा।

उत्तर—आचार्य को अभिमान था, किन्तु शिष्य-श्रद्धा को उस विद्या में स्थिर करने के वास्ते ऐसा कहा।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

प० क्र०—(लोकादिम्) लोकार्थ में दोष का कारण कौन है। (अग्निं) अग्नि विना दोप के कोई वस्तु दृष्टि नहीं पड़ती। (तम्) उस नचिकेता को। (उवाच) बहु प्रकार की युक्ति और उदाहरणों से समझाया। (या) जिस प्रकार। (वा) जितनी गिनती चार। (यथा) जिस प्रकार। (इष्टकाः) ईंट चुन कर अग्निहोत्र के लिये या दूसरे यज्ञों के अर्थ वेदी अर्थात् हवनकुण्ड बनवाना चाहिये। (स) वह यम। (च) और। (अपि) भी। (प्रत्यवदत्) नचिकेता ने उस को दोहरा दिया जैसा कि मृत्यु आचार्य ने कहा था वैसा ही नचिकेता ने अनुवाद कर दिया। (यथोक्तम्) कथनानुकूल सुन कर।

(अथ) इसके पश्चात्। (अस्य) इसको। (मृत्युः) आचार्य। (पुनः) फिर। (एव) भी। (आह) कहा। (तुष्टः) प्रसन्न होकर।

अर्थ—सम्पूर्ण लोक (प्रकाश) का कारण अग्नि है। जिस प्रकार प्रकाश समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है और बिना प्रकाश अर्थात् अग्नि के किसी वस्तु का आलोक नाम ही नहीं हो सकता। पृथ्वी लोक है, कब जब कि तेज से उस में रूप प्रवेश होगया है। यदि पृथिवी में अग्नि न हो तो कभी पृथिवी दृष्टि ही नहीं आ सकती। सूर्य, चन्द्र, तारागण जितने पदार्थ संसार में दृष्टिगोचर होते हैं, उन सब में अग्नि है। इस कारण लोक का कारण अग्नि है। यमाचार्य ने अग्नि के भेद और उस के काम बता दिये। और जितनी ईंटों का और जितना बड़ा और जिस भाँति का अग्निहोत्र का कुण्ड बनाना चाहिये सब यज्ञ का विधान बता दिया। इस बात को सिद्ध करने के लिये कि नचिकेता इस विद्या के समझने योग्य है अथवा नहीं जो कुछ यमाचार्य ने कहा है इस को नचिकेता ने ठीक प्रकार समझ लिया है। नचिकेता ने इस को यमाचार्य के सन्मुख द्वितीयावृत्ति में एक-एक शब्द ज्यों का त्यों सुना दिया। जिस से यमाचार्य को नचिकेता के पूर्ण उपकारी होने का पता लग गया। और इसने प्रसन्न होकर फिर कहना आरम्भ किया। पाठक! इस लेख से पता लगता है कि ब्रह्म-विद्या के परोपकारी ऐसे ही मनुष्य हो सकते हैं कि जिन की बुद्धि इतनी शुद्ध हो कि इनको कैसा ही कठिन विषय क्यों न समझाया जावे वह एक बार ही सुनने से समझ सकें। नचिकेता ने इस परीक्षा को उत्तीर्ण करके मृत्यु- आचार्य को प्रसन्न कर लिया। नचिकेता की बुद्धि का प्रमाण इस के धैर्य की अवस्था और स्मरण

शक्ति की योग्यता बताती है कि गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण ऐसे होते हैं।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चैमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

प० क्र०—(तम्) उस नचिकेता को। (अब्रवीत्) कहने लगा। (प्रीयमाणः) प्रेम से योग्यता को देखकर। (महात्मा) यमाचार्य जिस का आत्मा बड़े उच्च विचार वाला है। (वरम्) श्रेष्ठ पदार्थ। (त्वाम्) तुझको। (इह) उस दूसरे वर के भीतर। (अद्य) आज। (ददामि) देता हूं। (भूयः) फिर से। (तव) तेरे। (एव) ही। (नाम्ना) नामावली। (भविता) होगी अर्थात् तेरे ही नाम पर यह अग्नि-विद्या प्रसिद्ध हो जावेगी। (अयम्) यह। (अग्निम्) अग्नि-विद्या। (सृङ्काम्) माला को जो प्रतिष्ठा का चिन्ह है, जिसको सभा में सत्कार करते हैं, इस के गले में माला डाल देते हैं। (इमाम्) अनेक। (रूपाम्) इस बहुरंगों युक्त माला को जो अब तक रंगों से सुन्दर प्रतीत होती है। (गृहाण) ग्रहण कर जिससे बहुत दिन तक जीवे।

अर्थ—इस नचिकेता की स्मरण-शक्ति तथा योग्यता को देखकर यमाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुआ और प्रेम से महात्मा यमाचार्य बोला-हे नचिकेता! आज मैं तुम से बहुत ही प्रसन्न हूँ और बहुत से वर दूंगा। और यह अग्नि विद्या जिस में यज्ञ की विधि और साधनों का कथन है, तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। और यह माला जो कार्य-सिद्धि के समय प्रतिष्ठा के निमित्त दी जाती है जिसमें बहुरंग के मनके हैं जिस से तू सुख को भोगेगा स्वीकार कर।

प्रश्न—महात्मा किसको कहते हैं ? क्योंकि जीवात्मा एक देशी है, और एकदेशी के लिये यहां शब्द (महात्मा) आ नहीं सकता।

उत्तर—निस्सन्देह जीवात्मा एकदेशी है, परन्तु महात्मा शब्द बुद्धि के विचार से होता है, जिस की बुद्धि प्राकृतिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखती है। इसका अपना और पराया दो प्रकार का ज्ञान होने से विचार सीमायुक्त होता है। और जिसकी बुद्धि परमात्मा की ओर लग जाती है, उसकी आत्मा सारे संसार में परमात्मा के गुणों को देखने से सब को एकरस देखता है। अतः इस का विचार यहां होने से वह महात्मा कहलाता है।

प्रश्न—क्या जिन के विचार में अपना पराया मन हो वह महात्मा नहीं कहला सकते ?

उत्तर—गुण कर्म से तो महात्मा नहीं कहला सकते परन्तु नाम हो सकता है। जैसे कंगाल का नाम भी धनपति देखने में आता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाᳫं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

प० क्र०—(त्रिणाचिकेतः) जिस अग्निहोत्रादि का नचिकेता को उपदेश किया है और जिस ने उसका तीन बार अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम में अग्निहोत्र किया हो। (त्रिभिः) माता पिता और आचार्य तीन जिस

के गुरू हों। (एत्य) प्राप्त की हो। (सन्धि) जिस ने सत्संग किया हो। (त्रिकर्मकृत्) जिस ने तीन धर्म के स्कंध अर्थात् यज्ञ, पढ़ना और दान किये हों। (तरति) तर जाता है। (जन्म मृत्यु) जन्म और मृत्यु की। (ब्रह्मजज्ञं जिससे ब्रह्म अर्थात् वेद उत्पन्न हुए हैं इसको जिसने जाना है। (देवम्) प्रकाश स्वरूप परमात्मा। (ईड्यम्) स्तुति करने योग्य। (विदित्वा) जान कर। (निचाय्य) शास्त्र से निश्चय करके। (इमाम) इस ज्ञान को। (अत्यन्तम्) अत्यन्त। (प्रशांतिम्) सब दुःखों से रहित दशा को। (एति) प्राप्त होता है।

अर्थ—जिस मनुष्य ने नचिकेता को बतलाई विधि से तीन आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ में अग्निहोत्र किया है, जिस ने माता पिता और आचार्य तीन शिक्षा देने वालों के सत्संग से शिक्षा प्राप्त की हो, जिस ने धर्म के तीन भागों अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में पढ़ा हो, गृहस्थाश्रम में और बानप्रस्थ में दान किया हो, वह तर जाता है अर्थात् जन्म और मृत्यु से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। और जो वेद के बताने वाले को जानता है, सब के स्पर्श के योग्य है, जिसने इसको जान लिया, वह इस शास्त्र के अनुकूल कर्म से अत्यन्त शांति को प्राप्त कर लेता है ?

प्रश्न—वह नचिकेता को बताई हुई तीन प्रकार की अग्नि कौनसी है ?

उत्तर—यहाँ पर यह आश्रम हैं (प्राज्ञापूर्य) गृहस्थाश्रम में, (गार्हपत्य) तथा वानप्रस्थाश्रम नाम वाली अग्नि का आशय तीन प्रकार की अग्नि से है। प्रत्येक आश्रम में उसी के अनुकूल अग्निहोत्र करना चाहिये।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्यू पाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥ १८ ॥

प० क्र०—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता को बताई हुई विधि के अनुसार तीन आश्रमों के लिये तीन बार अग्नि नियत की है। (त्रयम्) तीन कर्म के लिये हों। (एतद्) उक्त कथन को। (विदित्वा) जान कर। (यः) जो। (एवं) इस विधि पर। (विद्वान्) जानने वाला। (चिनुते) संग्रह करता है, नियत करता है। (नाचिकेतम्) नचिकेता नामसे प्रसिद्ध अग्नि को। (सः) वह। (मृत्यु पाशान) मौत की सांकल से। (पुरतः) जीव और शरीर के वियोग से पहले ही। (प्रणोद्य) शरीर को छोड़कर मरने के पश्चात्। (शोकातिगः) शोक से छूट कर। (मोदते) सुख भोगता है। (स्वर्ग लोके) स्वर्ग लोक में अर्थात् दुख से रहित जन्म या स्थान में।

अर्थ—जिस ने तीन आश्रमों में अग्नि होत्र किया है, जिसने यज्ञ और दान के कर्म किये हैं, जिसने माता पिता और आचार्य से शिक्षा को प्राप्त कर के उस परमात्मा को जान लिया है और जो विद्वान इस प्रकार तीन आश्रमों में अग्निहोत्र के वास्ते तीन बार अग्नि को नियत करता है, वह अपने जीवन में और मृत्यु के पश्चात् मृत्यु बन्धनों से स्वतन्त्र होकर हर प्रकार के शोक से रहित होकर स्वर्ग लोक में सुख से जीवन व्यतीत करता है।

एषतेऽग्निर्नचिकेतः। स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीये वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

प० क्र०—(एष) उक्त कथन जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। (अग्नि) जिस अग्निहोत्रादि धर्म को तूने पूछा था। (स्वर्ग्य) जो स्वर्ग सुख के प्राप्त करने का कारण है। (अयम्) जिसको (वृणीथा) मांगा था। (द्वितीयेन) दूसरे। (वरेण) वर से जो मांगा था। (एतम्) इस। (अग्नि) अग्नि होत्र की विद्या को। (तव एव) तेरे ही नाम से। (प्रवक्ष्यन्ति)कहेंगे। (जनाः) विद्वान लोग उसी के अनुकूल कहते हैं। (तृतीयं) तीसरा। (वरम्) वरको। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (वृणीष्व) मांग।

अर्थ—यमाचार्य ने नचिकेता से कहा—हे नचिकेता! यह तेरी अग्नि-विद्या है जिसको तूने स्वर्ग प्राप्त करने के वास्ते साधन समझकर पूछा था दूसरे वर के कारण से यह अग्नि तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। क्योंकि जिस वस्तु का जो नाम आरंभ में रक्खा जाता है वही नाम उसका संसार में फैल जाता है। इस कारण इस अग्नि को सर्व साधारण लोग तेरे ही नाम से पुकारेंगे। अब तू तीसरा वर मांग ले। बहुत से लोग कहेंगे कि क्या यमराज के कहने से वह अग्निहोत्र की शिक्षा नचिकेता के नाम से कैसे हो सकती है। परन्तु जब यमाचार्य ने इसका नाम नाचिकेता अर्थात् नचिकेता से सम्बन्ध वाली रख दिया, अब जो उसे वर्णन करेगा। अब नचिकेता यमाचार्य से तीसरा वर मांगता है।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

प० क्र०—(मनुष्य) इस शरीर में रहने वाले जीवात्मा और मनुष्य की वियुक्त दशा में। (प्रेते) मरने के पश्चात्।

(या इयं चिकित्सा:) जो यह सन्देश उत्पन्न हो रहा है। (अस्ति) जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् है। (इति) यह पक्ष। (ऐके) एक ओर किया जाना। (नायम्) नहीं। (अस्ति) यह जीवात्मा। (इति) है। (एके) एक। (एतत्) यह एक ओर वाले मानते हैं। (विद्याम्) इस ज्ञान को निश्चय पूर्वक। (अनुशिष्ट:) मैं जान लूँ। (त्वया) तुम्हारे। (अहं) मैं। (वारणा एष:) वरों में से यह वर। (तृतीय:) तीसरा है।

अर्थ—नचिकेता कहता है—हे गुरु महाराज ! इस जीवात्मा के सम्बन्ध में मौत के पश्चात् जो सन्देह है, बहुत है। मनुष्य कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा नहीं रहता है अर्थात् जीव शरीर के पृथक् कोई पदार्थ नहीं। दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा रहता है अर्थात् शरीर से पृथक् जीवात्मा कोई पदार्थ यह पक्ष कि शरीरसे पृथक् जीवात्मा है या नहीं, इसको आप मुझे सिखलाएँ कि जिससे आपकी शिक्षा से मैं इसको निश्चयात्मक होकर जान सकूँ। तीन वरों में से मेरा यह तीसरा वर है। नचिकेता का यह वर तीन प्रश्नों को लिये है, या पवित्र जन्म है या नहीं। जीवात्मा शरीर से पृथक् है जो मृत्यु के पश्चात् भी रहता है, या शरीर का ही अङ्ग है जो मृत्यु के साथ ही जीव की भी समाप्ति हो जाती है। शरीर और आत्मा को पृथक् करने वाला परमात्मा है या नहीं। इस प्रश्न में जो ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में प्रश्न हुआ, इस पर यमाचार्य कहते हैं।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरानहि सुविज्ञे यमणुरेश धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामो परोत्सी रतिमा सृजैनम् ॥२१॥

प० क०—(देवैः) बड़ी बड़ी विद्या के प्रकाश करने वाले विद्वानों ने। (अत्र) इस आत्मज्ञान ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में। (अपि) भी। (विचिकित्सितम्) इस पर संदेह कर के विचार किया है कि क्या यह आत्मा है या नहीं। यदि है तो क्यों नहीं जाना जाता। यदि नहीं तो वेदों, शास्त्रों में क्यों लिखा है। इस प्रकार के अनेकों संदेह किये हैं। (पुरा) प्राचीन काल में। (नहिं) निश्चय नहीं। (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य अथवा प्रत्येक के जानने योग्य। (अणु) अति सूक्ष्म जिसको मोटी बुद्धि से नहीं जान सकते। (एव) यह आत्मज्ञान। (धर्मः) धर्म। (अन्य वरं) दूसरे वर को। (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (वृणीष्व) मांगले। (मामा) मुझ को। (अपरोत्सीः) मत दबाओ; जिस प्रकार ऋणी को ऋण-दाता दबाता है। (एनम्) इस वर को। (अतिसृज) त्याग दे।

अर्थ—नचिकेता की आत्म-विद्या के सम्बंध में प्रश्न सुन कर अधिकारी की पहिचान के लिये यमाचार्य ने कहा हे नचिकेता! इस आत्म-विद्या के सम्बंध में प्राचीन काल में बड़े बड़े विद्वानों ने अनेकों शंकायें उत्पन्न की हैं। कोई कहता है कि आत्मा है, तो दूसरा कहता है, यदि है तो उस के होने का प्रमाण क्या है? क्योंकि जो वस्तु होती है उसकी स्थिति के वास्ते प्रमाण होता है। आत्माके वास्ते प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं और बिना प्रत्यक्ष के अनुमानादि भी हो नहीं सकते। एक ओर उस की स्थिति जगत् कर्त्ता होने से अनुमान की जाती है। दूसरे योगियों का मानसिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है, इस के सम्बन्ध में बहुत वाद हो चुका है। यह आत्य-विद्या बहुत सूक्ष्म है। इस को सरलता से कोई प्राप्त नहीं कर सकता, और न प्रत्येक मनुष्य

इस को जान सकता है। इस कारण हे नचिकेता! तू इस वर को छोड़ कर दूसरा वर मांग ले, और मुझे अधिक कष्ट मत दे। इस पर नचिकेता कहता है।

देवैरत्रापि विचिकित्सं किलत्वञ्च मृत्यो यन्नसुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

प० क्र०—(देवै) विद्वानों ने। (अत्र) इस ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में। (अपि) भी। (विचिकित्सितम्) विचार किया है। अर्थात् विद्वानों ने इस विषय को निर्णय करने में बहुत उद्योग किया। (किलत्वंच) और आप ने भी विचार किया है। (मृत्यो) हे यमाचार्य! (यत्) जो। (न) नहीं। (सुविज्ञेयम्) अनायास जानने योग्य। (आत्थ) कहते हैं जिससे अनुमान होता है। (वक्ता) बताने वाला (त्वादृग) तुम्हारे समान। (अन्य) दूसरा। (न) नहीं। लभ्यः) मिल सकता। (न अन्य) नहीं दूसरा। (वरः) वर। (तुल्य) बराबर। (एतस्य कश्चित्) इस के कोई।

अर्थ—नचिकेता ने कहा—हे गुरु महाराज! आप यह कहते हैं कि इस विषय पर विद्वानों ने बहुत कुछ विचार किया है और आप ने भी इस को सोचा है, जिस से स्पष्ट विदित होता है कि यह विषय अति आवश्यकीय है। क्योंकि विद्वान् मनुष्य किसी व्यर्थ बात पर विचार नहीं करते। वह जानते हैं कि कौनसा विषय विचार करने योग्य है, और कौनसा नहीं। अतः जिस सिद्धान्त को उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचारा है वह सिद्धान्त प्रत्येक के जानने योग्य नहीं। साधारण मनुष्य की

बुद्धि इसको समझ नहीं सकती। जब यह सब बातें आप कह रहे हैं तो मुझे अनुमान होता है कि इस विद्या को बताने वाला आप से योग्य मिलना कठिन है। जब आप से अधिक ब्रह्म-विद्या का जानने वाला मिल ही नहीं सकता। और यह भी अनुमान हो गया कि इस के बराबर कोई दूसरा वर नहीं। भला इन दोनों बातों को जान कर किस प्रकार अन्य वर माँग लूँ या मुझे यह निश्चय हो कि ब्रह्म-विद्या उत्तम वस्तु नहीं, तो मैं इस को छोड़ सकता हूँ। अथवा यह निश्चय हो कि आप इस को दे नहीं सकते। परन्तु इन बातों का निश्चय होना कठिन है क्योंकि दुनिया में विद्वान् मनुष्य पदार्थों को तीन प्रकार के भेदों से प्रकट करते हैं। एक वह पदार्थ जो प्राप्त करने योग्य हैं अर्थात् जिनकी अभिलाषा होती है। अथवा जो कमी को पूरा करने और दोष को दूर करने का कारण स्वीकार किये जाते हैं। दूसरी वह वस्तु जो नष्ट करने योग्य, जो कमी और दोष को उत्पन्न करने वाली है, जिससे घृणा होती है। तीसरी वह वस्तु जिससे त्रुटि और दोष दूर होते हैं न बढ़ते हैं। किन्तु वह हमारे लिये लाभदायक व हानिकारक होने से पृथक है, न हमको उनके प्राप्त करने की आवश्यकता है और न नष्ट करने की; उनकी हमें कोई स्पृहा नहीं होती है । केवल उदासीन ही रहते हैं।

प्रश्न—प्राप्त करने योग्य कौनसी वस्तु है जिससे दोष दूर होते हैं और त्रुटि पूरी होती है?

उत्तर—जीवात्मा में अल्पज्ञान का दोष और आनन्द की कमी है। अतएव सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना से यह त्रुटि और दोष दूर हो जाते हैं। बिना परमात्मा की उपासना के न तो सत्य ज्ञान प्राप्त होता है और न आनन्द मिलता है।

प्रश्न—जब कि परमात्मा प्रत्येक जीव के भीतर सदैव व्यापक है, तो उसकी उपासना प्रत्येक काल हो रही है; फिर इसकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—परमात्मा की उपासना देश-काल के सम्बन्ध से मंतव्य नहीं, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध से है। जो परमात्मा को आनन्द और ज्ञान का भण्डार समझकर विश्वास रखता है, वह ईश्वर का उपासक है और जो प्रकृति को आधार रखता है, वह प्रकृति का उपासक है।

प्रश्न—कमी और दोष को बढ़ाने वाली कौनसी वस्तु है, जिससे घृणा होती है ?

उत्तर—प्रकृति से बनी हुई वस्तु ज्ञान की कमी के दोष को बढ़ाने वाली और आनन्द को न्यून करने वाली है। यदि प्रकृति उपासक सृष्टि न हो, तो मनुष्य के भीतर शान्ति बनी रहती है। यदि आनन्द न हो, तो प्रकृति की उपासना से अल्प ज्ञान और अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान हो जाता है विशेष आनन्द तो मिलता ही नहीं, किन्तु अशांति और बढ़ जाती है। अतः प्रकृति की उपासना हानिकारक है, जिसको दूर करना आवश्यक है।

प्रश्न—इस समय तो समस्त संसार यह कहता है, प्राकृतिक ज्ञान से धनादि प्राप्त किये बिना सुख नहीं हो सकता और तुम उसके विरुद्ध कहते हो।

उत्तर—यदि इस समय की प्रकृति उपासक क़ौम शांत और सुखी हैं; तो उनका पक्ष ठीक है। यदि प्रकृति उपासक जातियाँ दुःख से युक्त हैं, तो उनके पक्ष के सरासर असत्य होने में क्या सन्देह है। जहाँ तक पश्चिमी देशों की स्थिति का

पता लगता हैं, उनसे वह कहीं अधिक अशांति दृष्टिगत पड़ती है। कोई नृप दो चार कोस भी अकेला नहीं घूम सकता। जहाँ राजा भी अकेले न घूम सकें, उनको भी सदा शत्रुओं का भय लगा हुआ हो, ऐसी शांति का पक्ष मानना अविद्या ही है।

प्रश्न—अशांति तो भारत में भी है।

उत्तर—यह भी प्रकृति-उपासना की शिक्षा का कारण है। भारत में जब तक धार्मिक शिक्षा थी, तब तक अशांति का नाम नहीं था। जबसे वर्त्तमान शिक्षा चली है, तब से यहाँ भी अशांति आ गई। जो कुछ अशांति के कारण हैं, वह सब प्रकृति-उपासक मनुष्य की संगति और शिक्षा से आये हैं।

प्रश्न—उदासीनवृत्ति पैदा करने वाली, जिससे न हानि हो न लाभ, कौनसी वस्तु है?

उत्तर—जीवात्मा के वास्ते दूसरे जीव न तो लाभदायक ही हैं न हानिकारक, उनसे विरक्त रहना ही उत्तम है।

प्रश्न—यदि पशु आदि जीव न हों, तो मनुष्यों का जीवित रहना ही कठिन हो, आप उनको लाभ-हानि से पृथक् करते हैं?

उत्तर—पशु आदि की आवश्यकता शरीर की सहायता के लिये है न कि जीवात्मा के निमित्त, इस कारण ब्रह्म-विद्या में विचार तो जीव को आगे लेकर है।

नचिकेता ने कहा—"हे आचार्य! जिस विद्या के सम्बन्ध में विद्वानों ने परमात्मा का पक्ष किया है, उसका लाभदायक होना आवश्यकीय है, जिससे मैं उस वर को अपने हेतु माँगता हूँ। चूँकि आप इस बात को जानते हैं कि यह बहुत ही कठिनता से जानने योग्य है, जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आपने उन कठिनताओं को जाना है, जो इस मार्ग में रोक उत्पन्न

करती हैं। अतः जब कि आप जैसा आचार्य जिसकी उपमा और नहीं मिल सकती, मुझको वर देने का प्रण कर चुका है तो मैं दूसरा वर क्यों माँगूँ।" नचिकेता की अधिक परीक्षा के लिये यमाचार्य कहते हैं।

शतायुषःपुत्रपौत्रान् वृणीष्वबहून्पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

प० क्र०—(शतायुषः) सौ वर्ष की आयुवाले। (पुत्रपौत्रान्) पुत्र और पौत्र अर्थात् नातियों को (वृणीष्व) माँग ले। (बहून्) बहुत से। (पशून) पशुओं को। (हस्ति) हाथी। (हिरण्यमश्वान्) सोने के साजवाले घोड़े। (भूमेः) पृथिवी या कुल संसार की पृथिवी के। (महदायतनं) बहुत बड़े भवन को। (वृणीष्व) माँग ले। (स्वयं) अपनी। (च) और। (जीव शरदः) जीना। (यावद्) जितना तू। (इच्छसि) इच्छा करे।

अर्थ—यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि ब्रह्मविद्या के सिवाय तू यह माँग ले कि मेरे बेटे और पोते सौ सौ वर्षवाली आयु के हों और मेरे घर में बहुत से पशु, गाय, बैल, भैंस और हाथी और घोड़े हों, जिनका सम्पूर्ण ठाठ सोने का बना हुआ हो और भूमि जितनी चाहे मांग ले और बड़े बड़े भवन कोट, गढ़, बँगला और कोठियाँ जितनी चाहे मांग ले और अपनी आयु की वृद्धि अर्थात् जितने वर्षों तक जीने की इच्छा हो जीवन सुख से व्यतीत कर सके, यह मांग ले।

यमाचार्य के कहने से प्रतीत होता है कि वह उन इच्छाओं को बतलाया चाहते हैं, जो ब्रह्म-विद्या के मार्ग में रुकावट डालने

वाली हैं ; क्योंकि परीक्षा के स्थान पर वहीं प्रश्न किये जाते हैं, जिनसे उनके उत्तीर्ण होने में रुकावट समझी जाती है। संसार की वस्तुओं की आवश्यकता जितनी है वह भोग के अनुकूल परमात्मा बिना किसी इच्छा के देते हैं और इनकी इच्छा करना आत्मिक मार्ग में बहुत रुकावट डालना है ; क्योंकि जिस मन में शीत की इच्छा है, उसमें उसी समय ऊष्मा की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि वह दोनों इच्छाएँ आपस में विरोधी हैं, अतः विरोध-संग्रह कठिन है। जिस मन में सांसारिक धन की इच्छा है उसमें परमात्मा की इच्छा नहीं हो सकती और जिस मन में परमात्मा की उपासना का ध्यान है, उसमें संसार के धन की इच्छा नहीं हो सकती। यह तो सम्भव है कि धनवान भी हो, परन्तु यह सम्भव नहीं कि धन की इच्छा भी हो और ईश्वर की इच्छा भी हो ; क्योंकि धन के साथ ईश्वर की इच्छा का विरोध नहीं, किंतु धन की इच्छा के साथ ईश्वर की इच्छा का नहीं विरोध है। ईश्वर के इच्छुक को भी पूर्व कर्म के अनुकूल धन प्राप्त होता है और धन की इच्छा वाले को भी उतना ही धन मिलता है जितना उसके भोग में है। इस कारण ईश्वर की इच्छा वाले को न उसके आने में प्रसन्नता होती है, न जाने में दुःख होता है ; परन्तु धन के इच्छुक को धन के आने में प्रसन्नता और जाने में दुख होता है, यही उनकी पहिचान है। जनक और रामचन्द्र धनवान् और राजे थे ; परन्तु उनके मन में धन की अभिलाषा नहीं थी अतः जब रामचन्द्र को यह कहा गया कि कल तुमको राज मिलेगा, तो वह प्रसन्न नहीं हुए ; जब कहा गया कि वन को जाओ तो वह अप्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि वह इस बात को जानते थे कि होना वही है जो भोग है, फिर दुःख सुख किस बात का ? जनक की कथा

प्रसिद्ध है कि उनके शरीर में विरक्तता होने से वह प्रसन्न न होते थे।

प्रश्न—क्या कारण है कि जनक को शरीर दाह में कष्ट नहीं होता था ? हम तो ऐसा होना सम्भव नहीं समझते।

उत्तर—मूर्खों के विचार में यह बात असम्भव है ; क्योंकि उन्हें शरीर और जीव के सम्बन्ध अज्ञात हैं। कोई तो यहाँ तक बढ़ गए हैं कि कार्यों में शरीर को जीव का साझी समझते हैं और दण्ड भोगने के समय शरीर के साथ होने को आवश्यक मानते करते और इसी युक्ति-भरोसा पर पुनर्जन्म से इनकार करते हैं, परन्तु जो लोग जानते हैं कि जीव के लिए शरीर किराया-गाड़ी है जिसकी उस समय तक आवश्यकता है जब तक मार्ग पर नहीं पहुँचते या जो यह समझते हैं कि शरीर एक कारागार है, जो कर्मों के कारण से मिलता है, वह इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करते क्योंकि किराये की गाड़ी नियत मार्ग पर छोड़नी ही पड़ती है और आत्मिक नियत मार्ग यहीं तक है कि हम प्रकृति के सम्बन्ध से पृथक् होकर और शरीर के अहंकार को त्याग करके परमात्मा की उपासना में लग जावें। इसलिये परमात्मा के ज्ञान में लग जाने की अवस्था में फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या है जिसके जाने से भय हो

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामनां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

प० क्र०—(एतत्तुल्यं) उपरोक्त भोगानुकूल। (मन्यसे) जो तेरी इच्छा हो। (वरम्) वर को। (वृणीष्व) माँगले। (वित्तं) धन को। (चिरजीविकाम्) नियत होने वाली आयु।

(महाभूमौ) पृथिवी के राजा होने को। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (त्वम्) तू। (एधि) प्राप्त कर। (कामानाम्) कामनाओं से। (त्वा) तुझको। (कामभाजम्) इच्छानुकूल प्राप्त होने वाली अवस्था को। (करोमि) करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्य तुझको देता हूँ।

अर्थ—आचार्य ने कहा—हे नचिकेता! इसके बराबर सांसारिक सुख के प्राप्त होने योग्य जो कुछ तू चाहता है, माँग ले, जितनी तुझे धन की इच्छा हो माँग। मैं तुझको दे सकता हूँ। यदि तू नियत आय चाहे अर्थात् मासिक या वार्षिक या जितनी तुझको आवश्यकता हो माँग ले। यदि तू भूमि का बड़ा भाग राज्य का चाहे, तो मिल सकता है। हे नचिकेता, जो तेरी अभिलाषा हो, वह तू बता दे; मैं तुझको इस योग्य कर दूँगा कि जो तेरी इच्छा हो, वही पूरी हो जावे। तू ब्रह्म-विद्या के विचार को त्याग कर, तू सांसारिक सुख माँग। तेरी कोई आवश्यकता न होगी, जो पूर्ण न हो। इतना लोभ एक युवा ब्रह्मचारी को अपने मार्ग से पतित करने के वास्ते पर्याप्त से अधिक है; परन्तु यमाचार्य नचिकेता का दृढ़ विश्वास देखकर और भी लोभ देता है।

**ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामा
ँश्छन्दतःप्रार्थयस्व । इमा रमाः सरथाः सतूर्या
नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः
परिचारयस्व नचिकेतो ! मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥**

प० क्र०—(ये ये कामा) जो जो कामनायें। (दुर्लभाः) अत्यन्त दुर्लभ हैं। (मर्त्यलोके) इस संसार में, जिसमें मरने वाले मनुष्य रहते हैं। (सर्वान्) सबको। (कामान्) जो तुझको

कामानाएँ हों। (छन्दतः) अपने लाभार्थ जानकर इच्छानुकूल। (प्रार्थयस्व) माँग ले। (इमाः) यह। (रमाः) स्त्रियाँ (सरथः) रथारूढ़। (सतूर्याः) जिनके साथ गाने-बजाने के सामान मौजूद हों, बाजे बज रहे हैं। (न) नहीं। (हि) निश्चय करके। (इदृशाः) इस प्रकार का। (लम्भनीयाः) प्राप्त हो सकती हैं। (मनुष्यैः) मनुष्यों को। (आभि) इन पतिव्रताओं के साथ। (मत्प्रत्ताभि) जो मेरी दी हुई हैं। (परिचारयस्व) सुख को भोग। (मरणं) मृत्यु के सम्बन्ध में आत्मज्ञान। (मा) मत। (अनुप्राक्षी) पूछ।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं—नचिकेता! जो-जो पदार्थ इस भूमि पर हैं, अत्यन्त ही अलभ्य हैं। जिनके सम्पूर्ण मनुष्य अभिलाषी हैं, उन सब पदार्थों को निज इच्छानुकूल माँग ले। यह मत विचार कर कि मेरे पास कोई वस्तु नहीं। यह स्त्रियाँ, जो अत्यन्त सुन्दर और रथों पर आरूढ़ हैं, जिनके साथ बाजे और गाने की समस्त सामग्री विद्यमान है, जो सामान मनुष्यों को किसी प्रकार भी नहीं प्राप्त हो सकता सम्पूर्ण मनुष्य जिनकी अभिलाषा करते हैं, वह उनको नहीं मिलतीं और तू इन मेरी दी हुई पतिव्रता और सुन्दर स्त्रियों के साथ संसार के सुखों को भोग; परन्तु मृत्यु के पश्चात् आत्मा की जो दशा होती है, उसके सम्बन्ध में मत प्रश्न कर। इसके उत्तर में नचिकेता, जिसको ब्रह्मचर्य आश्रम के संस्कारों ने बलवान् बना दिया था; जिसके मन में इस प्रकार की इच्छाओं का उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन था, जो संसार के सुखों की वास्तविक दशा को भली प्रकार जानता था और जिसको विदित था कि मुक्ति-मार्ग में यही रुकावटें हैं, उत्तर देता है।

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां-जरयंति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

प० क्र०—(श्वो भावाः) अनित्य हैं। (मर्त्यस्य) मृत्यु धर्म वाले मनुष्यों के। (यत्) जो। (अन्तक) दुष्टों को दंडवत् कर पापों का अन्त करने वाला। (एतत्) यह सर्व विषय। (सर्वेन्द्रियाणां) सम्पूर्ण इन्द्रियों को। (जरयंति) नष्ट कर देते हैं। (तेज) तेज अर्थात् शक्ति को। (अपि) और। (सर्वं) सब। (जीवितम्) जीवन। (अल्पम् एव) थोड़ा ही है। (तव एव) आपकी ही रही। (वाहाः) रथादि सवारियों सहित स्त्रियां (तव) आपकी ही हो। (नृत्य-गीते) नृत्य और गाना।

अर्थ—यमराज की बात को सुनकर नचिकेता ने उत्तर दिया कि महाराज, जितने संसार के विषय हैं, सब ठहरने वाले नहीं और मरने वाले मनुष्य के तेज यमराज के नियम के अनुकूल यह विषय नाश करते रहते हैं, जिससे सब इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं। यदि आप कहें कि यह सम्पूर्ण जीवन भर, तो यह जीवन बहुत ही थोड़ा है। यदि इसको बढ़ा भी लिया जावे और यह जब तक सृष्टि रहे, तब तक भी बना रहे, तो भी मुक्ति के दस सहस्त्र भाग में होते बहुत ही थोड़ा रहेगा। इस कारण रथादि वाहनों में बैठने वाली स्त्रियाँ आपको ही फलीभूत हों, वह आपकी ही बनी रहें। मुझे इनकी नितान्त आवश्यकता नहीं और न मैं नाचने और गाने को उत्तम समझता हूँ। इसको आप अपने पास ही रक्खें। मुझे तो सिवाय

ब्रह्मविद्या अर्थात् मृत्यु के पश्चात् जो आत्मा की गति होती है, उसके जानने के और किसी वस्तु की जरूरत नहीं। नचिकेता ने कहा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्त-मद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (वित्तेन) धन से। (तर्पणीयः) तृप्त होता। (मनुष्यः) मनुष्य। (लप्स्यामहे) प्राप्त हो जावेंगे। (वित्तम्) धन को आपकी कृपा से। (अद्राक्ष्म) दर्शन करके। (चेत्) यदि। (त्वा) आपकी दया होगी। (जीविष्याम) जीवित रहूँगा। (यावात) जब तक। (ईशिष्यसि) परमात्मा की इच्छा होगी अर्थात् जितनी आयु परमात्मा ने दी है जीवित रहूँगा। (त्वम्) आपमें। वरस्तु वही एक वर। (मे) मेरे लिये। (वरणीयः) प्राप्त करना है। (स एव) वही।

अर्थ—नचिकेता ने कहा—महाराज ! कोई मनुष्य चाहे कितना ही धन प्राप्त कर ले, कभी उस धन से तृप्त नहीं होता अर्थात् धन की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। जिस प्रकार भोजनादि से पेट भर जाता है, फिर भी खाने की इच्छा बनी रहती है, इसी प्रकार धन में इच्छा पूर्ण नहीं होती। जितना धन मिलता जावे, उतनी इच्छा बढ़ती जाती है। सौ वाला सहस्त्र में सुख समझकर सहस्त्र की इच्छा करता है, तो सहस्राधीश लक्ष की इच्छा रखता है। और लक्षपति करोड़पति होने की इच्छा रखता है। चूँकि धन मानुषी आवश्यकता नहीं, किंतु तृष्णा है, इस कारण इसकी कभी समाप्ति नहीं होती। यदि मनुष्य धन को

देखकर प्राप्त कर लेता है, तो सुख नहीं होता। इसलिये जितना अन्न भोग में है, वही मिल जावेगा और जितना जीवन कर्मानुकूल परमात्मा ने दिया है, उस समय तक मैं जीवित रहूँगा। मुझे इसमें अधिक जीने की इच्छा नहीं। अब आप न तो मुझे धन दें, क्योंकि उससे तृष्णा बढ़कर दुःख होता है, सुख नहीं हो सकता ; और न आयु दें, क्योंकि जितना जीवन परमात्मा ने दिया है, मेरे लिये वही पर्याप्त है। आपसे तो मुझे केवल वही वर अर्थात मृत्यु के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है, जीव और ब्रह्म का ज्ञान जिसका नाम ब्रह्म विद्या है, वही ना है। अतः आप मुझको उसे दीजिये।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानातिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

प० क०—(अजीर्यताम्) जिसमें व्यय और हानि नहीं होती। (अमृतानाम्) जो मृत्यु और नाश से रहित हैं अर्थात् न तो घटती और न बढ़ती है। (उपेत्य) प्राप्त करके। (जीर्यन्) शरीरादि की बुढ़ापे को प्राप्त करके (मर्त्यः) मौत जिसका धर्म है। (क्वधःस्थः) जो पृथ्वी पर पंचगति में स्थित होता है। (प्रजानन्) सत्असत् के ज्ञान वाला मनुष्य। (अभिध्यायन्) वास्तव में दुःख का कारण जानने वाला। (वर्णरति प्रमोदान) सुन्दर स्त्रियों के सम्बन्ध मे प्राप्त होने वाले सुखों को। (अति दीर्घे) बहु काल तक रहने वाले। (जीवित) जीवन में। (कः) कौन। (रमेत) प्रसन्न होवे।

अर्थ—नचिकेता ने कहा—हे महाराज ! त्रुटि और नाश से रहित और पदार्थों को जिनके बिगड़ने का कभी संदेह ही न हो,

प्राप्त करने और नाश होने वाली भूमि पर मोक्ष-सुख के सामने बहुत ही बुरी दशा में नियत है। ज्ञानयुक्त मनुष्य, जिसको यह सांसारिक सुख विचारने से दुःख रूप ही मालूम होते हैं, जो यह जानता है कि इनसे सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं, वह इनमें किस प्रकार फँस सकता है। जिनमें थोड़ी देर तक रहना भी बुद्धिमान् को स्वीकार न हो, तो बहुत जीवन केवल विषयों के भोगने के वास्ते माँगना किस बुद्धिमान् को स्वीकार होगा।

प्रश्न—क्या विषय दुःखरूप हैं? सम्पूर्ण संसार के मनुष्य तो इन्हें सुख मानते हैं।

उत्तर—जो मनुष्य दुःख और सुख की वास्तविक दशा से अज्ञात हैं, वही विषयों को सुख मानते हैं और जो मनुष्य इनकी वास्तविक दशा से जानकार हैं, वह इनको सुख मानने के स्थान में पूर्ण दुःख मानते हैं; क्योंकि वह परमानन्द की प्राप्ति के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावटें हैं।

प्रश्न—तुलसीदास-जैसे भक्त ने भी कहा है कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ, जो सोने और स्त्री की इच्छा न रखता हो।

उत्तर—तुलसीदासजी ने आपको यह इस प्रकार नहीं बताया, किन्तु यह दिखलाया है कि यह दो चीजें ऐसी बलवान् हैं कि इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी धोका खा जाते हैं। अतएव यमाचार्य ने नचिकेता के परीक्षा के वास्ते सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ सन्मुख रक्खे, परन्तु नचिकेता बुद्धिमान् था। वह इन वस्तुओं के लोभ में फँसकर अपने उद्देश्य से नहीं गिरा। अब नचिकेता कहता है।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्तिमृत्यो यत्सांप राये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २६ ॥

प० क्र०—(यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान में । (इदम् यह) प्रश्न कि वह है या नहीं । (विचिकित्सन्ति) शंका की जाती है कि वह है, तो कहाँ है और क्यों है । (मृत्यो) हे यमाचार्य । (यत्) जो । (साम्पराये) मोक्ष की गति के सम्बन्ध में विचार है कि मोक्ष में जीव के साथ कौनसे पदार्थ रहते हैं । (महति) महा शंका है । (ब्रूहि) कहो । (नः) मुझको (तत्) उसके उत्तर को । (यः) जो । (अयम्) आत्म-विषय का । (वरं) वर । (गूढम्) गूढ़ । (अनुप्रविष्टः) आत्मज्ञान के अनुकूल है अर्थात् जिसके जानने की आत्मा को जरूरत है । (न) नहीं । (अन्यम्) दूसरा । (तस्मात्) उससे पृथक् । (नचिकेता) नचिकेता । (वृणीते) माँगता है ।

अर्थ—नचिकेता ने कहा—हे यमाचार्य ! जिसमें इस प्रकार के शंका समाधान होते हैं कि परमात्मा है या नहीं है; तो कहाँ है और किस प्रमाण से जाना जाता है; नहीं है, तो क्यों सम्पूर्ण संसार उसको मानता है; यदि है, तो वह कैसा है—मिला हुआ है अथवा पृथक है, घिरा हुआ है अथवा रहित है, कर्ता है अथवा कर्तृत्व-शून्य है, एक-देशी है या सर्व-व्यापक । अतिरिक्त इसके जो मुक्ति के सम्बन्ध में बहुत बड़ी-बड़ी शंका हैं, कोई कहता है—मुक्ति होती है, कोई कहता है—नहीं होती, कोई कहता है—मुक्ति नित्य है, कोई कहता है—अनित्य है, कोई कहता है—मुक्ति में सूक्ष्म शरीर रहता है, कोई कहता



अथ द्वितीय वल्ली ।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः तयोः श्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयोवृणीते० ॥१।२०॥

प० क्र०—(अन्यत्) अन्य है। (श्रेयः) मोक्ष के प्राप्त करने का साधन जो कल्याण कारी कर्म है। (अन्यत्) उससे पृथक् अन्य है। (उप्रेयः) जो अत्यन्त प्रिय प्रतीत होता है अर्थात् स्त्री धनादि सांसारिक सुखों का कारण। (उभे) यह दोनों कर्म (नानार्थे) नाना प्रकार के फलों वाले कर्म। (पुरुषम्) जीवात्मा को। (सिनीत) इच्छा की डोर में बांधते हैं। (तयो) उन में से (श्रेय अददानस्य) मोक्ष के साधन करने से। (साधु) मोक्ष प्राप्त होता है। (य उ) और जो। (प्रेय) प्रेय का स्वीकार करता है। अर्थात् बहुत सुख से। (हीयते) खाली रह जाता है।

अर्थ—जगत में दो प्रकार के कर्म हैं। एक वह जिनके आरम्भ में कोई कष्ट अनुभव नहीं होता, किन्तु बहुत ही मनोहर प्रतीत होते हैं। परिणाम जिसका ठीक नहीं इसको प्रेय-

मार्ग अर्थात् सांसारिक सुखों का मार्ग कहा जाता है, जिस पर आज कल पश्चिमी जगत चल रहा है।

दूसरा वह मार्ग जिसके आरम्भ में और कोई सुख नहीं मिलता किन्तु विशेष दुःख भोगना पड़ता है, परन्तु अन्त में महासुख प्राप्त होता है जिसको मोक्ष कहते हैं, प्राप्त होता है। इसी का नाम श्रेय मार्ग है। जिस पर चलने वाले श्रेष्ठ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों की इच्छा जीवात्मा को डोर में बांध लेती है।

इनमें से जो श्रेय मार्ग है उसका साधन करता है वह तो अपने कार्य में सफल होता है अर्थात् दुखों से छूट कर नित्य महाकल्प तक रहने वाले सुख को प्राप्त करता है। और जो प्रेयमार्ग को स्वीकार करता है वह इस मार्ग में असफल रहता है। जिस प्रकार जगत में बोना और खाना दो प्रकार के कर्म हैं। जिस प्रकार गिरना और चढ़ना दो प्रकार की गति है। अब जो गिरता है उसको आरम्भ में कोई कष्ट नहीं होता परन्तु जिस समय गिरने के स्थान भूमि पर पहुँच जाता है, तब कठिन चोट आती है और किसी २ समय तो मृत्यु तक हो जाती है।

दूसरे जो चढ़ता है उसको आरम्भ में कष्ट होता है; क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का सामना करना पड़ता है, बहुत ही बल लगता है जिससे थकावट पैदा होती है, परन्तु नियत मार्ग पर पहुँच कर बहुत ही सुख मिलता है। खाने वाला उपस्थित को नष्ट करता है और बोने वाला उसके सैकड़ों गुणा अधिक बना लेता है। एक का आरंभ अच्छा और अन्त बुरा है, दूसरे का आरंभ वैसा बुरा नहीं होता परन्तु परिणाम बहुत ही शुभ है। इन दोनों मार्गों में अपने

साहस और पुरुषार्थानुकूल चलते हैं। जो आत्मिक बलहीन मनुष्य है वह प्रथम सुख को आनन्द करते हैं जिससे वह सुख के मार्ग को प्राप्त करने से गिर जाते हैं और जो अन्तिम हैं जिनका आत्मिक बल बलवान् है वह आरंभ के कष्टों की चिन्ता न करके उस मार्ग पर चलते हैं जिनका परिणाम बहुत उत्तम होता है। जिनमें बहुत ही सुख प्राप्त होता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ २। ३१॥

प० क्र०—(श्रेयश्च) कल्याण और (प्रेयश्च) जगत् सुख। (मनुष्यम्) विचार करने योग्य मनुष्य को। (एतः) प्राप्त होते अर्थात् जगत् में इनसे सम्बन्ध करना पड़ता है। (तौ) इनमें से। (सम्परीत्य) इसको अधिक ध्यान की दृष्टि से अन्वेषण करके। (विविनक्ति) इनकी दशाओं की तुलना की जाती है जिसमें। (धीराः) बुद्धिमान मनुष्य। (श्रेयो) शुभ मार्ग। (हि) निश्चय करके। (धीराः) विद्वान् धीर पुरुष। (प्रेयसः) मनोहर से अन्त में सुख देने वाले मार्ग को। (अभिवृणीते) स्वीकार करता है। (प्रेयः) सांसारिक मार्ग को। (मन्दः) कम बुद्धि मनुष्य। (योगक्षेमाद्) निर्धनादि के भय से बचने और सांसारिक सुख का कारण समझकर (वृणीते) स्वीकार करता है।

अर्थ—उपर्युक्त दो प्रकार के मार्गों मे मनुष्यों का सम्बन्ध होता है। इनमें से जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं, जिनको सत्यासत्य का ज्ञान है, जो गूढ़ विचार युक्त, निरालसी, पुरुषार्थी और परिश्रमी हैं और जो दूरदर्शी हैं वह तो श्रेयमार्ग को। जिसमें

यद्यपि इस समय सुख है परन्तु भविष्य में सुख के स्थान में दुख की आशा है) छोड़ कर श्रेय मार्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो लोग कम बुद्धि और बुद्धिहीन हैं, जिनको इतना ज्ञान और साहस नहीं कि वह धैर्य से इस मार्ग पर चल सकें। जिसका फल देर में मिलता है, वह बाह्य कष्टों के बचने के विचार और शारीरिक सुख का कारण जान कर सांसारिक सुख अर्थात् धन सम्पत्ति और राजपाट और स्वराज्य की इच्छा में जा गिरते हैं।

प्रश्न—क्या धन दौलत, स्वराज्य की इच्छा करना मूर्खों, आत्मिक बलहीनों का काम है? हम तो बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों को इसमें लिप्त पाते हैं, जिनकी विद्या की संसार में धूम है।

उत्तर—निःसन्देह जो लोग अपनी सत्ता से अनभिज्ञ हैं जिनको मैं कौन हूँ और मेरा क्या है, इस बात का भी सत्य ज्ञान नहीं। जो यह भी नहीं जानते कि मेरे लिये लाभदायक क्या है और हानिकारक क्या है। उनको कोई चाहे कितना ही महायोग्य कहे परन्तु वास्तव में वह अज्ञानी हैं। क्योंकि सांसारिक धन-सम्पत्ति और स्वराज्य शरीर के लिये लाभदायक, न कि आत्मा के लिय? इनके सम्बन्ध से आत्मा को हानि पहुँचती है। अतः इनको बुद्धिमान् और योग्य कहना ऐसा ही है जैसा कि नाई का नाम*राजा रख दिया है।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ २। ३२॥

---

* पञ्जाब में नाई को राजा कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार कोली को संयुक्त प्रान्त में राजा कहते हैं।

प० क०—(सत्वं) वह तूने मेरे बहुत लोभ दिखाने पर भी। (प्रियान्) प्रिय बेटे और पोतों के। (प्रियरूपां) सुन्दर रूपयुक्त स्त्रियों को। (च) और। (कामान्) वासनाओं को (अभिध्यायन) सब प्रकार के दुःख रूप विचार कर के। (नचिकेताः) हे नचिकेता। (अत्यस्राक्षीः) त्याग कर दिया है। (न) नहीं। (एतान्) इस। (सृङ्काम्) माला को। (वित्तमयीम्) भोगने योग्य धन से युक्त है। (न) नहीं। (अवाप्तः) प्राप्त किया है। (यस्याम्) जिसमें। (मज्जन्ति) लिप्त हो जाते हैं। (बहवो) बहुत से। (मनुष्यः) मनुष्य।

अर्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! मैंने तुमको संतान अर्थात् बेटे पोतों का लोभ दिया और प्रिय आकृति वाली सुन्दर स्त्रियों का लोभ दिया और समस्त जगत् के सुखों का प्रलोभन दिया। परन्तु तूने इनको दुःखरूप विचार करके स्वीकार नहीं किया और मैंने तुझे इस सांसारिक धन के क्रम का जिसमें प्रायः मनुष्य लिप्त हैं, उसका भी लोभ दिया। परंतु इनमें से तूने किसी वस्तु को प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। और भी जितनी (एषणा) अर्थात् राज्य और प्रभुत्व की इच्छा है उसका लोभ दिया। परन्तु तूने उसे भी स्वीकार नहीं किया। सारांश यह है कि जितनी बाधाएँ आत्मज्ञान के मार्ग में हैं उन सबको पेश किया। परन्तु तू किसी बाधा से नहीं रुका और न किसी वासना में लिप्त हुआ, अतः तेरी पूरी बुद्धि प्रशंसा योग्य है।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥ ४ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—(दूरम्) दूर हैं। (एते) यह। (विपरीते) एक दूसरे के विरुद्ध। (विपूची) दो विपरीत वस्तुओं को प्रकट करने वाली। (अविद्या) पारमार्ग जिसका आरम्भ सुखमय और परिणाम निकृष्ट। (या च) और जो। (विद्या) श्रेय मार्ग जिसका आरम्भ शुष्क परिणाम और अंततः कल्याणकारक। (ज्ञाता) मालूम किया है। (अस्मिन्) यह। (विद्या) श्रेय मार्ग की। (नचिकेतः) नचिकेता को। (मन्ये) जानने वाला। (न) नहीं। (त्वा) तुझको। (कामा) वासनाएँ या लाभदायक पदार्थ। (बह्वोः) बहुत सी। (आलोलुपंतः) अपने जाल में नहीं फँसाते।

अर्थ—हे नचिकेता! यह मैंने भली प्रकार जान लिया है कि यह विपरीत गुण अर्थात् अविद्या और विद्या इन दोनों में से जो एक दूसरे के विरुद्ध है। दूसरी अविद्या को छोड़ कर विद्या (अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना रूप जो सत्यज्ञान है) तू उसी को जानता है। हे नचिकेता! तुझको संसार के धनादि पदार्थ तथा विषय-भोग अपने जाल में फँसा नहीं सकते। वास्तव में तू अविद्या की शक्ति से दूर निकल गया है, अब तू अविद्या में फंस नहीं सकता। क्योंकि तूने इनका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। और जिसको ज्ञान हो जाता है वह उत्तम को छोड़ कर अनुत्तम को प्राप्त नहीं हो सकता।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम् मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नयिमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥ २४ ॥

प० क्र०—(अविद्यायाम्) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान। (परिमार्ग अंतरे) उसके अंतर। (वर्त्तमानः) लिप्त होने की

दशा में। (वयम्) अपने को। (धीराः) ज्ञानवाला। (पंडितम्) सत् असत् का विचार करने वाला। (मन्यमानाः) मानते हुए। (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिल मार्ग पर अर्थात् धोके से काम लेते हुए। (परियन्ति) नीच गति को प्राप्त होते हैं। (अंधेन) अन्धे को। (एव) है। (नीयमाना) पीछे लगा हुआ। (यथा) जैसे। (अन्धाः) अन्ध ।

अर्थ—अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान प्राप्त करने में लगे हुए अपने आप को धैर्यवान् और ज्ञानी कहने वाले नीच गति को पहुंच जाते हैं। यथा किसी अन्धे के पीछे लगकर अन्धा कुऐं में जा गिरता है। क्या ही उपदेश है कि जो परिमार्ग अर्थात् सांसारिक विषयों में फंस हुए अपनी आत्मिक दशा को बिगाड़ रहे हैं। अर्थात् किसी समय भी इन बातों को नहीं विचारते कि मैं क्या हूँ, मेरे को क्या लाभदायक है और हानिकारक है। किन्तु ऐसा विचारने वालों को अज्ञ और मूर्ख मनुष्य कहकर इनके ज्ञान को जो सत्य और सुख का कारण है तमोमय कह कर अर्थात् भ्रम बता कर अपने ज्ञान को सत्य बताते हैं। उनकी वही अवस्था है जैसे एक अन्धे के पीछे लग कर दूसरा अन्धा कुऐं में जा गिरता है। ऐसे सौन्दर्य प्रकृति पूजकों का अनुसरण करते हुए मनुष्य बहुत ही नीच गति को पहुँच गये हैं। जिनको अपनी सत्ताका तो ज्ञान नहीं परन्तु प्रतिज्ञा संसार के विज्ञान जानने की करते हैं। यह लोग स्वयम् भी कष्ट पाते हैं और अपने अनुयायी सहस्रों को वैदिक धर्म के स्थान में विषयों में फंसा कर पाप कराते हैं। क्योंकि संसार की जितनी ऐहिक प्रत्यक्ष सुखद वस्तु हैं, इन सब का सम्बन्ध शरीर से है। जो पैदा हुआ वह नाश होने वाला है। अतः जो शरीर सहस्रों परिश्रम करने पर जीवित नहीं रहता तथा जो आत्मा

कभी नहीं मरता तो आत्मा को छोड़ कर शरीर का दास बनना मूर्खता नहीं तो क्या है। ऐसी कोई सांसारिक वस्तु नहीं जो आत्मा के लिये लाभदायक हो। नित्य आत्मा के लिये अनित्य वैषयिक पदार्थ किस प्रकार लाभदायक हो सकते हैं। नित्य के वास्ते अनित्य किसी दशा में लाभदायक नहीं हो सकता। आत्मा के वास्ते विद्या और तप दो ही कल्याणकारक वस्तुएँ हैं।

विद्या, परमात्मा की पवित्र सत्ता से कभी विकार को नहीं प्राप्त होती। अर्थात् सर्वदा एक सी रहती है। कोई प्रेयमार्ग का मनुष्य उस विद्या को नहीं जान सकता जिस से श्रेयमार्ग की ओर पहुँचता है। श्रेयमार्ग पर वही मनुष्य जाते हैं और अविद्या की बेड़ियों को काट कर विद्या के अमृत का स्वाद लेते हैं। जिनको चारों ओर अमृत ही अमृत मालूम होता है। वह किसी एक ओर बँधे हुए नहीं होते। कि संसार के उपकार को ही अपना उद्देश्य जानते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते ॥ ६ । २५ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (सम्परायः) मुक्ति के साधन। (प्रतिभाति) मन में स्थिर नहीं होते अर्थात् इन में मन नहीं लगता। (बालम्) अज्ञानी मनुष्यों का। (प्रमाद्यन्तम्) मुक्ति से निश्चिंत होते हैं। (वित्तमोहेन) जिनकी विद्या सांसारिक पदार्थों के प्रेम में लिप्त होने के कारण। (मूढम्) नितान्त अन्धकारमय होगया है। (अयम् लोकः) यह जो प्रत्यक्ष दृष्टि आ रहा है यही संसार या शरीर है अर्थात् यह जो सांसारिक

विषय हैं, यही हैं। (नास्ति) नहीं है। (परः) अब दूसरा जन्म या परमार्थ। (इति) यह। (मानी) मानने वाले। (पुनः पुनः) वार-वार। (वशम्) वश में आते हैं। (आपद्यते) प्राप्त होते हैं। (मे) मेरे अर्थात् मेरे नाम वाली मौत के।

अर्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! जो अज्ञानी पुरुष जिनको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं। जो यह नहीं जानते कि हम क्या हैं। इनको धन का स्नेह अन्धा होने के कारण मुक्ति के जो साधन हैं वह मन में स्थिर नहीं होते। यद्यपि वह अन्य दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, धनिक के धन को नाश होता हुआ देखते हैं। राजाओं की सन्तान को मरता हुआ और राजाओं को कष्ट और आपत्ति में लिप्त देखते हैं। बड़े-बड़े वीरों को हमारे से निर्बल होता हुआ देखते हैं। इन सब बातों को देखते हैं और बुद्धि पर परदा पड़ने के कारण उनको मुक्ति के साधनों की ओर प्रेम नहीं होता। क्योंकि जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक ज्ञान होता है उसका कर्म संसार में देखा जा सकता है। परन्तु जहाँ पर निश्चयात्मक ज्ञान न हो, वहाँ कर्म नहीं हो सकता। अतः निश्चयात्मक ज्ञान मेधावी बुद्धि से होता है। जैसे रूप का ज्ञान आँख से होता है। जब तक आँख ठीक होती है तब तक तो उसको सत्य ज्ञान होता है। जहाँ आँख में कमल वायु की बीमारी का दोष आया तो पदार्थों के तत्व रूप के देखने के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को वह पीला ही पीला देखते हैं। ऐसे ही जिसको मेधा बुद्धि होती है उसको तो यह सांसारिक पदार्थ आत्मा के वास्ते नियत मार्ग में बाधाएँ मालूम होती हैं। जिससे वह वैराग्य प्राप्त करता है। क्योंकि संसार के सर्व पदार्थ शरीर के वास्ते हैं, कोई भी सांसारिक वस्तु ऐसी नहीं जिसका सम्बन्ध शरीर को छोड़

कर आत्मा से हो। शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है वह सब अपवित्र है। आँख से कीचड़ निकलता है जो अपवित्र है। कान से मैल निकलता है वह भी अपवित्र है। नाक से जो निकलता है वह भी मैला ही है। मुँह से थूक निकलता है वह अपवित्र है। मल मूत्र भी अत्यन्त अपवित्र है। स्वेद से भी गन्ध आती है। सारांश, शरीर में से जो कुछ निकलता है वह सबका सब दुर्गन्धयुक्त होता है। उसमें से कोई भी पवित्र नहीं परन्तु जब तक शरीर के भीतर होता है तब तक उससे गन्ध नहीं आती, क्योंकि भीतर शुद्ध करने वाली शक्ति आत्मा उपस्थित है। जब तक आत्मा है तब तक तो शरीर अपवित्र नहीं, परन्तु जहाँ आत्मा शरीर से पृथक् हुआ तो यह सम्पूर्ण शरीर ऐसा अशुद्ध होता है कि जिस घर में एक दिवस पड़ा रहे तो अड़ोस पड़ोस के मकानों की भी वायु को बिगाड़ देता है। कई दिवस तक होम करके वायु को शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। ब्राह्मण पातक समझकर उसी मकान में बना हुआ भोजन खाने से मना कर देते हैं। जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वास्तव में शरीर तो अपवित्र है। वह तब ही तक अशुद्ध नहीं प्रतीत होता, जब तक पवित्र करने वाला आत्मा उसके भीतर विद्यमान है। और आत्मा अवश्य एक दिन इस शरीर को त्याग देता है। चाहे हम कुछ ही खायें, केसर और कस्तूरी ही हमारे भोजन में मिली हो तो भी मृतक शरीर दुर्गन्ध के अतिरिक्त सुगंध नहीं फैला सकता। हम जो कुछ भोजन करते हैं वह सब शुद्ध होता है, परन्तु शरीर के संग से वह सब मैला होता है। अतः जो मेधा बुद्धि रखते हैं, वह तो इस अपवित्र शरीर की अपेक्षा शुद्ध आत्मा से अधिक प्रेम करते हैं। परन्तु जिनकी बुद्धि पर अविद्या का परदा पड़ा हुआ

है, वह आत्मा को न जानते हुए यह मानते हुए दृष्टि पड़ते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् तो है ; परन्तु आगे दूसरा जन्म नहीं। यद्यपि मृत्यु का भय उनको निशि दिन स्मरण कराता है कि उन्होंने मृत्यु देखी है क्योंकि जिस वस्तु को देखा नहीं अर्थात् किसी इन्द्रिय से प्रतीत न किया हो उनमें राग द्वेष दोनों का प्रकट होना असम्भव है। और मृत्यु से घृणा करते हुए भी इस बात को नहीं मानते कि मृत्यु पूर्व देखी हुई है। निदान इस लोग जो अविद्या के कारण प्रत्यक्ष पदार्थों पर ही आसक्त हैं। जिनको आत्मिक विद्या से कोई प्रेम नहीं, वह क्रम से बन्धन में पड़ते हैं अर्थात जन्म लेते हैं और मरते रहते हैं। वास्तव में उस आदमी से कोई बड़ा अभागा नहीं हो सकता जिसको अपनी सत्ता का ज्ञान न हो। परंतु अविद्या भी एक विचित्र वस्तु है, लाखों मनुष्य हैं जो अपनी सत्ता और गुणों से अनभिज्ञ होते हुए भी यह समझते हैं कि हमारी समता कोई भी नहीं रखता। जिस प्रकार अन्धा सूर्य की सत्ता को नहीं देख सकता। यदि वह यह पक्ष करे कि सूर्य नहीं है, तो उसका यह पक्ष सिवाय उसके अन्धेपन का प्रमाण होने का और क्या हो सकता है। ऐसे ही जो मनुष्य पवित्र जन्म और ईश्वर को अपनी अल्प विद्या और अनभिज्ञता के कारण न जानते हुए मोक्ष के साधनों से वञ्चित रह कर और संसार के प्रेम में फँस कर दूसरों के जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि स्वयं तो डूब रहे हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं।

श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः। ७। २६ ॥

प० क्र०—(श्रवणाय) सुनने के लिये। (अपि) भी। (बहुभिः) बहुत से मनुष्यों को। (यः) जो परमात्मा। (न) नहीं। (लभ्यः) मिलता। (शृण्वन्तः) सुनते हुए। (अपि) भी। (बहवः) बहुत से मनुष्य। (यत) जिसको। (न) नहीं। (विद्य) जान सकते। (आश्चर्य) आश्चर्य युक्त। (अस्य) उस परमात्मा का। (वक्ता) उपदेश देने वाला अर्थात ब्रह्म-विद्या का बताने वाला बहुत कठिनता से मिलता है और उसका मिलना आश्चर्य युक्त है। (कुशलः) अत्यन्त सावधानी से। (अस्य) इस ब्रह्म-विद्या का। (लब्धा) प्राप्त करने वाला अर्थात् मेधा बुद्धि वाला इस विद्या को प्राप्त कर सकता है। (आश्चर्य) अत्यन्त अलभ्य है (अस्य) इस ब्रह्म-विद्या का (ज्ञाता) जानने वाला। (कुशलानुशिष्टः) बहुत ही योग्य आचार्य की शिक्षा से इसका ज्ञान प्राप्त करने वाला।

अर्थ—यमाचार्य बताते हैं कि जिस ब्रह्म-विद्या को श्रवण के वास्ते भी बहुत से मनुष्यों को अवसर नहीं मिलता। अर्थात् न तो योग्याचार्य मिलता है और न प्रबल इच्छा ही उसके जानने की होती है। प्रायः मनुष्य इस ब्रह्म-विद्या को पढ़ते और सुनते हैं तो भी इसकी वास्तविक दशा को भले प्रकार नहीं जान सकते। क्योंकि जगत् में नियम ही यह है कि प्रथम तो रत्नों की दुकानें ही बहुत कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक भी अति कम होते हैं, इस कारण लाखों करोड़ों दीनों को तो रत्नों के नाम तक भी नहीं मालूम और बहुत से मोल लेने की भी शक्ति नहीं रखते हैं। और रत्न परीक्षकों की दुकानें भी मिल जाती हैं तो वह पहिचान नहीं सकते। ऐसे ही बहुत लोग ब्रह्म-विद्या की इच्छा भी रखते

हैं, ब्रह्म-विद्या के पास जाकर भी अल्पविद्या के कारण से ब्रह्म-विद्या की पहिचान नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्म-विद्या के जानने वाले आचार्य जो इसका उपदेश करें बहुत थोड़े मिलते हैं।

पूर्ण विद्वान् मनुष्य इस विद्या को प्राप्त कर सकता है इस विद्या को जानना सरल नहीं है। क्योंकि जब तक ब्रह्म श्रोत्रिय अर्थात् ब्रह्म-विद्या को जानने वाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् परमात्मा का पूर्ण विश्वासी आचार्य उपदेश करने वाला न मिले, तो इसको कोई जान ही नहीं सकता और आचार्य की खोज महा कठिन है। क्योंकि जो ब्रह्म-विद्या को जानते हैं वह कहते नहीं और जो कहते हैं वह जानते नहीं। अतएव इसका पता लगना कठिन है। क्योंकि जो कहे कि मैं ब्रह्म-विद्या को जानता हूं वह वास्तव में जानता नहीं, इस लिये इससे शिक्षा पाना व्यर्थ है। और जो जानने का प्रण न करे, हम किस प्रकार समझ सकते हैं कि यह जानता है, इससे शिक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्म-विद्या के पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही कठिनता से दृष्टि पड़ते हैं।

यमाचार्य ने इस कथन से यह प्रकट किया है कि नचिकेता तू बड़ा ही बुद्धिमान् है, जो ब्रह्म-विद्या को सीखना चाहता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ । ३७ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (नरेण) मनुष्य द्वारा। (अवरेण) जो उस मार्ग तक न पहुंचा हो। (प्रोक्तः) बताते हैं। (एषः)

यह ब्रह्म-विद्या । (सुविज्ञेयः) सरलता से जाना जा सकता है । (बहुधा) बहु प्रकार के मनुष्य । (चिन्त्यमानः) विचारने से । (अनन्य प्रोक्ते) अन्य के बताये बिना अर्थात् जो आचार्य अपनी उपमा न रखता हो उस के उपदेश के बिना । (गति) जान लेना । (अत्र) इस आत्मा के भीतर या ब्रह्म-विद्या में । (नास्ति) नहीं है । (अणीयान्) क्योंकि वह बहुत ही सूक्ष्म है । (हि) निश्चय करके । (ह्यतर्क्यम्) जिस में युक्तियों का पूर्ण प्रवेश नहीं है । (अणु प्रमाणात्) सब से सूक्ष्म होने के कारण ।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता ! यह ब्रह्मज्ञान उन मनुष्यों के उपदेश जो परमार्थ ज्ञान से शून्य हैं, जिनको प्राकृतिक पदार्थ विद्या का ही ज्ञान है, जानने योग्य नहीं । यद्यपि योगी लोग और संसार के भक्ति मार्ग वाले इसको बहु प्रकार से विचार करते हैं । उनकी शिक्षा से इस ब्रह्म-विद्या का जानना सरल नहीं । अतिरिक्त ब्रह्म-श्रोत्रिय अर्थात् वेदों के अतिरिक्त विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ ईश्वर के विश्वासी आचार्य के और इस प्रकार विद्या में गति अर्थात् प्रवेश नहीं हो सकता । और न अपने आप बिना अन्य के उपदेश के उसको कोई जान सकता है । आशय यह है कि न तो अल्पविद्या वाले गुरु से इसका ज्ञान हो सकता है और न बिना गुरु के ब्रह्म-विद्या को जान सकते हैं । क्योंकि ब्रह्म के सूक्ष्म होने से ब्रह्म-विद्या भी सूक्ष्म है और इसमें तर्क को पूरा पूरा अधिकार नहीं । क्योंकि तर्क हेतु और उदाहरण को लेकर चलता है । इस स्थान पर हेतु और उदाहरण मिलना दुस्तर है, क्योंकि जहां से हेतु और उदाहरण मिलता है वह सब स्थूल जगत् में से मिलते हैं, जिसका कि मिला हुआ होना उचित है । और पृथक्

में मिलावट का उदाहरण दोष है। अतः परमात्मा के अति सूक्ष्म होने से इसको केवल ब्रह्म- श्रोत्रिय गुरु की शिक्षा के द्वारा ही ठीक प्रकार जान सकते हैं।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ६। ३८॥

प० क्र०—(न) नहीं। (एषा) यह मेरी दी हुई बुद्धि या ज्ञान। (तर्केण) तर्क द्वारा। (अति) ब्रह्म-विद्या। (अपनेया) त्यागने योग्य। (प्रोक्त) कही हुई। (अन्येन एव) दूसरे अर्थात् तर्क के जानने वाले से पृथक् वेद के जानने वाले आचार्य की भी। (सुज्ञानाय) अच्छे ज्ञान के लिये। (प्रेष्ठ) सब से प्रिय। (याम्) जिसको। (त्वम्) तू। (आपः) प्राप्त कर चुका है। (सत्यम्) सत्य। (धृति) धैर्य। (वत्) वाले। (अति) हो। (त्वादृक्) तेरे जैसा। (न) हमारा। (भूतात्) हो। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (प्रष्टा) शिष्य अर्थात् पूछने वाला।

अर्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! तू मेरी दी हुई उस विद्या को तर्क कर के नष्ट न कर क्योंकि यह तर्क से भी बलवान वेद के जानने वाले आचार्य का उपदेश है। तर्क में भूल हो सकती है, यथा हेतु का स्थान हेत्वाभास अर्थात् धोका देखने में आता है। परन्तु वेद का उपदेश सत्यज्ञान के वास्ते है। हे प्रिय पुत्र ! जिस ब्रह्म-विद्या को तूने प्राप्त किया है उस को सत्य और धैर्य के साथ काम में ला और क्रिया से पूर्ण होकर आचार्य ने कहा— हे नचिकेता ! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि तेरे जैसा और भी विद्यार्थी मुझ को मिले। क्योंकि ऐसे अधिकारी विद्यार्थी

के पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है। आशय यह है कि जिस समय किसी गुरू को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, तो उसको इतनी प्रसन्नता होती है कि जिसकी सीमा नहीं।

प्रश्न—मनु ने कहा है कि जो तर्क से जाना जावे वही धर्म है, यहाँ पर यमाचार्य तर्क को त्यागते हैं।

उत्तर—इस मार्ग पर पहुँच कर तर्क काम नहीं देता। क्योंकि इस सूक्ष्म पदार्थ के वास्ते जिन पदार्थों की आवश्यकता है। वह तर्क से नहीं मिल सकता। मनु ने धर्म अर्थात् कर्तव्य के सम्बन्ध में तर्क का उपदेश किया है परन्तु यह विज्ञान का मार्ग है। इस कारण इन दोनों में विरोध नहीं। जैसे ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम में यज्ञोपवीत पहिनते हैं और संन्यास में उतारते हैं, परतु आश्रम-भेद के कारण से दो प्रकार के उपदेश होने में कोई विरोध नहीं।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवंतत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽ- ग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १०॥ ३९॥

प० क्र०—(जानामि) जता हूँ। (अहम्) मैं। (शेवधि) धन सम्पत्ति को। (अनित्यम्) अनित्य। (इति) यह। (न) नहीं। (हि) निश्चय करके। (अध्रुवैः) स्थिर न रहने वाले धनादि से। (प्राप्यते) प्राप्त होता है। (ध्रुवम्) अचल अर्थात् नित्य। (तत्) वह ब्रह्म। (ततः) इस कारण ब्रह्म की अभिलाषा को त्याग करके। (मया) मैंने। (नचिकेतः) हे नचिकेता जिस अग्नि का तुझको उपदेश किया है। (चितः) यज्ञ किया। (अग्निः) अग्नि द्वारा। (अनित्यैः) स्थिर न

रहनेवाले। (द्रव्यै) द्रव्यों से अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर से। (प्राप्तवान्) प्राप्त किया है। (अस्मि) मैंने। (नित्यम्) उस नित्य ब्रह्म को।

अर्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैं इस संसार में जो धन ऐश्वर्य और प्रभुत्व है उसको अनित्य अर्थात् स्थिर न रहने वाला जानता हूँ। और यह भी जानता हूँ कि इस धनादि से जो स्थिर रहने वाला नित्य ब्रह्म है वह प्राप्त नहीं हो सकता। इस कारण हे नचिकेता! जिस अग्निहोत्र या यज्ञ का मैंने तुमको उपदेश किया है, निष्काम भाव से इस यज्ञ को कहा है, जिस करके मैं अनित्य द्रव्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर के द्वारा प्राप्त होता हूँ। परन्तु उस नित्य ब्रह्म का आशय यह है कि यदि कोई धनादि से परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तो उसे वह प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु यदि वह निष्काम परोपकार रूप यज्ञ में उस धन वैभव को लगावे तो उसके अंतःकरण शुद्ध हो जाने से इन्द्रियाँ वश में आ जावेंगी। और इन्द्रियों के अधीन होने से वह शुद्ध ब्रह्म जाना जा सकता है। इस कारण हे नचिकेता! मैंने इन अनित्य पदार्थों के त्याग से उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ ११॥ ४०॥

प० क्र०—(कामस्य) इच्छानुकूल भोग के। (प्राप्तम्) प्राप्त होने को। (जगतः) प्राणिमात्र की। (प्रतिष्ठाम्) सम्पूर्ण जगत स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न होता है। (क्रतो)

अश्वमेघादि यज्ञ की। (अनन्तम्) जिसका अन्त न हो अखंड (अभयस्य) अभय अर्थात् स्वतंत्रता की। (पारम्) सीमा जहाँ कुछ भी भय न हो। (स्तोम महत्) जिसकी प्रशंसा सब मनुष्य करते हों। (उरुगायं) जिसकी प्रशंसा बहुत से लोग करते हों। (प्रतिष्ठाम्) इस प्रतिष्ठा को। (दृष्ट्वा) देख कर। (धृत्या) धैर्य से। (धीरः) ध्यान करने वाले। (नचिकेताः) हे नचिकेता तूने। (अत्य स्राक्षीः) त्याग कर दिया है।

अर्थ—हे नचिकेता ! यद्यपि जगत् स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न हुआ है और स्थित है; तो भी तेरे अंतःकरण में उसकी इच्छा नहीं। यद्यपि यज्ञ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक अनन्त और अखंड हैं। यद्यपि निर्भयता और स्वतंत्रता की सीमा तक पहुँच सकता है। यद्यपि जगत् में सर्व साधारण लोग प्रशंसा करते हैं। यद्यपि कवि लोग जिसकी प्रशंसा की कविता, यह भी उत्तम है। परन्तु हे नचिकेता ! तूने इन सब को तुच्छ समझकर ध्यान के द्वारा मूल तत्व को जान करके धैर्य से त्याग किया है जिससे तेरे ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है। क्या इस कथा को देख कर भी कोई कह सकता है कि भारत के मनुष्य असभ्य थे ?

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥ ४६ ॥

प० क्र—(तम्) जो बहुत सुनने वालों को भी कठिनता से मिलता है उस परमात्मा को। (दुर्दर्शम्) जो महा कठिनाई से देखा जा सकता है। (गूढम्) जो इन्द्रियों की शक्ति से बाहर होने के कारण छिपा हुआ है। (अनुप्रविष्टम्) जो शरीर

के भीतर रहने वाले जीव के भी भीतर प्रवेश कर रहा है। (गुहाहितं) जो मेधा बुद्धि के भीतर स्थिर है। (गह्वरेष्ठम्) जो ऐसे स्थान पर रहता है जहाँ पहुँचना दुस्तर है। (पुराणम्) जो अनादि काल से है। (अध्यात्मयोगात्) बाहर की इन्द्रियों को रोक कर चित्त को एक जगह एकत्र करने से। (अधिगमेन) जो जान जाता है ऐसे। (देवम्) प्रकाश स्वरूप को। (मत्वा) जान कर है (धीरः) ध्यान करने का स्वभाव रखने वाला धीर पुरुष। (विद्वान्)। (हर्ष शोकौ) हर्ष और शोक को। (जहाति) त्याग देता है अर्थात् उसे लाभ हानि ही नहीं मालूम होती जिससे हर्ष शोक प्राप्त हो।

अर्थ—जिस परमात्मा को यह लोग उसकी प्रशंसा सुनकर भी नहीं जान सकते, उस कठिनता से देखने योग्य परमात्मा के जानने में स्वाभाविक ध्यान वाला विद्वान् जगत् के राग-द्वेष और शोक से मुक्त हो जाता है। वह परमात्मा कहीं दूर नहीं किन्तु इन्द्रियों की शक्ति से परे होने के कारण छिपा हुआ है। जैसे आँख से काजल कहीं दूर नहीं होता परन्तु बहुत ही पास होने से दृष्टि में नहीं आता। ऐसे ही जीवात्मा (ब्रह्म) जो शरीर में प्रवेश कर रहा है वह उस जीवात्मा के भी भीतर विद्यमान है। केवल बुद्धि अर्थात् मन के भीतर ही उसका प्रतिबिम्ब कायम हो सकता है अथवा ज्ञान से ही देख सकते हैं क्योंकि वह ऐसे स्थान पर भी है जहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि वह सदैव से सब में व्यापक है, परन्तु तो भी उसको कठिनता से जान सकते हैं। केवल वह लोग जो मन को शुद्ध और स्थिर कर के उस के प्रतिबिम्ब को देख सकते हैं अर्थात् मन के एकाग्र होने से इस के आनन्द को जानने से उसे जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या भक्तों को परमात्मा का दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—जो ज्ञान उत्पन्न करके मन को निष्काम कर्म से शुद्ध करले, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करे और अहंकार के आवरण को दूर कर सके, वही परमात्मा को जान सकता है। बिना ज्ञान की भक्ति के उसका जानना असम्भव है।

प्रश्न—इस समय बहुत से मनुष्य कहते हैं अमुक मनुष्य परमेश्वर के पास गया और उस से अकाल पुरुष ने यह कहा, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि वह किसी एक स्थान पर रहता है और भक्तों से बातें भी करता है।

उत्तर—जो कोई उस के पास जाता है अपने भीतर ही जाता है। दूसरे स्थान पर जाकर देखना असम्भव है हां किसी महात्मा ने स्वप्न देखा हो तो सम्भव है और स्वप्न में या भंग की तरङ्ग में बातें भी की हों परन्तु वास्तव में है या नहीं।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(एतत्) उपरोक्त परमात्मा या ब्रह्म-विद्या को। (श्रुत्वा) सुन कर या आचार्य से पढ़ कर। (सम्परिगृह्य) ठीक ठीक जान कर। (मर्त्यः) मरण धर्मवाला मनुष्य। (प्रवृह्य) आत्मिक बल की उन्नति कर के। (धर्म्यम्) अपने धर्म से। (अणुम्) मोक्ष। (एतम्) उस परमात्मा को। (आप्य) प्राप्त हो कर। (स) वह। (मोदते) खुश होता है। (मोदनीये) आनन्द स्वरूप परमात्मा को लाभ उठाना

है। (लब्ध्वा) प्राप्त कर के। (विवृत्) स्पष्ट। (सद्मः) शीघ्र। (हे नचिकेतः) हे नचिकेता। (मन्ये) मानता हूँ।

अर्थ—उपर्युक्त परमात्मा या ब्रह्म-विद्या को आचार्य से पढ़ कर और सब प्रकार जान कर, मरण धर्मवाला मनुष्य आत्मिक बल की उन्नति कर के, अपने धर्म के योग्य मोक्ष रूपी उस परमात्मा को प्राप्त हो कर, वह प्रसन्न होता है। हे नचिकेता! आनन्द स्वरूप उस परमात्मा को पाकर प्रत्यक्ष शीघ्र ही होना है, यह मैं मानता हूँ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मा त्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥ ४३ ॥

प० क०—(अन्यत्र) पृथक्। (धर्मात्) धर्म से। (अन्यत्र) पृथक्। (अधर्मात्) अधर्म से। (अन्यत्र) पृथक्। (अस्मात्) इस प्रत्यक्ष से। (कृता कृतात्) कार्य और कारण वाले संसार से। (अन्यत्र) पृथक्। (भूतात) भूत काल से। (भव्यात्) आने वाले से। (यत) जो। (तत्) उसको। (पश्यसि) उस को देखता है। (तत्) उस को। (वद) कहिये।

अर्थ—हे आचार्य! जिसको धर्म अर्थात् जो कुछ करने योग्य काम हैं और अधर्म जो कुछ करने योग्य नहीं हैं। इनसे पृथक् आप जानते हैं और जो कुछ इस प्रत्यक्ष जगत् में जिस को कार्य और कारण के सम्बन्ध से देखते हैं, प्रत्येक कार्य अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कारण विदित होता है। और कारण के गुणों के अनुकूल ही कार्य में गुण पाये जाते हैं। जो इस कारण कार्य के सम्बन्ध से पृथक् है, जो बीत

गया उस शब्द से जिस काल को और आने वाला है, इस शब्द से जो तीन काल होते हैं इन तीन कालों से जो पृथक् है। क्योंकि काल का सम्बन्ध अनित्य वस्तु से होता है? अतः जो नित्य पदार्थ हैं. जिन में किसी प्रकार का विकार या परिणाम नहीं होता, जिनको आप इन गुणों से युक्त गुणी जानते हैं उन को मुझे बतावें। वेद की श्रुति से प्रकट है कि परमात्मा किसी वस्तु का प्राकृतिक कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में उसकी गणना कारण में होती है, अतः इस कारण से पृथक बताकर सिद्ध कर दिया कि परमात्मा जगत् का प्राकृत कारण नहीं और उससे यह भी प्रकट है कि परमात्मा को जान कर ही शान्ति हो सकती है। यदि जगत् का प्राकृतिक कारण आनन्द स्वरूप परमात्मा होता, तो जगत् में आनन्द मिल सकता, परन्तु जगत् का प्राकृत कारण परमात्मा नहीं, अतः उससे आनन्द भी नहीं मिल सकता। अतः जो इस जगत् से पृथक् है उसकी खोज आनन्द के इच्छुकों को अवश्य है। अब यमाचार्य उपदेश करते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(सर्ववेदाः) ऋक्, यजु, साम और अथर्व चारों वेद। (यत्) जिस। (पदम्) ब्रह्म के प्रकाश करने वाले शब्द को। (आमनन्ति) वार वार कहते हैं। (तपांसि) तप। (सर्वाणि) हर प्रकार के यम नियम आदि। (च) और। (यत्) जिसको। (वदंति) कहते हैं। (यत्) जिसकी। (इच्छन्तः) इच्छा रखते हुए। (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्म-

चर्य व्रत को। (चरन्ति) अमल में लाते हैं। (तत्) इस। (ते) तेरे मिलने योग्य। (पदम) शब्द को अर्थात् ब्रह्म के नाम को। (संग्रहेण) संक्षेप से। (ब्रवीमि) कहता हूँ। (ओ३म्) ओ३म्। (इति एतत्) यह परमात्मा का सब से उत्तम नाम है।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! जिस शब्द को सब वेद परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन बताने के लिये बार बार कहते हैं, जिसके प्राप्त करने के लिये वेदों ने हर प्रकार के तप और साधन बताए हैं अर्थात् पहले पढ़ने में जितना कष्ट होता है फिर अंतःकरण की शुद्धि के लिये अनेकों प्रकार के व्रत करने में और यज्ञ आदि की की सामग्री के एकत्रित करने और निष्काम परोपकार करके अन्तःकरण को ठीक करके इसको एक ओर लगाने के लिये अभ्यास और वैराग्य के साधनों को ठीक करने में जिस प्रकार के तप बताये हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम धारण किया जाता है अर्थात् समस्त इन्द्रियों को रोक कर ब्रह्म अर्थात् वेद के नियम की पूरी-पूरी आज्ञा पालन करते हुए वेदों की शिक्षा पाते हैं; जिससे वह अज्ञान बाधा जिसके कारण अपने में व्यापक परमात्मा को भी जान नहीं सकते, जिस प्रकार दर्पण से ही आँख और आँख का अंजन दृष्टि पड़ता है, इसी प्रकार मन रूपी दर्पण से ही जीवात्मा का ज्ञान हो सकता है। विना मन के शुद्ध हुए उसको देख नहीं सकते, परन्तु जैसे अँधेरी रात में कुछ दृष्टि नहीं आता; चाहे आँख में अंजन दीखता हो अथवा आँख को किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान को प्रकाश की दशा की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के लिये जिस प्रकार की आवश्यकता है, वह वेद-विद्या है; जिसके यथावत् प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रय है। बिना ब्रह्मचर्याश्रम के वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जिस पद अर्थात् शब्द के जानने के वास्ते उपर्युक्त साधन किये जाते हैं, उस साधन को संक्षेप से तुझे बताता हूँ। वह पद केवल ओ३म् है अर्थात् आकार से व्यापक होने का, उकार से प्रकाशक होने और मकार से बुद्धिमता और प्रकाश स्वरूप का प्रमाण तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामों का पता ओ३म् से लग जाता है। अधिक व्याख्या माण्डूक्य में देखो।

एतद्ध्येवाक्षरंब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरंपरम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

प० क्र०—(एतद्) यह आकार, उकार, मकार से बना हुआ जो अक्षर। (हि) निश्चय करके। (एव) ही। (अक्षरम) नाश रहित। (ब्रह्म) सबमें व्यापक। (एतद्) यही। (एव) ही। (अक्षरम्) नाश रहित (परम) नियत मार्ग अथवा मोक्ष का ज्ञान है। (एतद्) इस। (एव) ही। (अक्षरम्) ओ३म् को। (ज्ञात्वा) जानकर। (यः) जो मनुष्य। (यत्) जो वस्तु। (इच्छति) इच्छा रखता हो। (तस्य) उसका। (तत्) वह वस्तु मिल जाती है।

अर्थ—यमाचार्य उपदेश करते हैं कि हे नचिकेता! ओ३म् अक्षर है। यही सबसे बड़ा और नाश रहित ब्रह्म है और यही मनुष्य-जीवन का नियत मार्ग या सबसे बढ़कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अंतिम सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिये ही आवश्यकीय हैं। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री

नियत स्थान पर पहुँचने के लिये होती है, ऐसे ही शरीर इन्द्रिय मन आदि सब पदार्थ ओ३म को जानने के लिये ही हैं जिस प्रकार समस्त रसोई की सामग्री का आशय केवल पेट भरना ही होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों की प्रति केवल परमात्मा के जानने के लिये हैं और जो मनुष्य उस अक्षर को जाना जाता है अर्थात् जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है उसको जो कुछ इच्छा होती है, वह सब पूर्ण हो जाती है। प्रथम तो ओ३म को जानने के पश्चात् किसी इच्छा का होना ही कठिन है, क्योंकि नियत मार्ग पर पहुँचने से प्रथम मार्ग की सामग्री दृष्टि गोचर होती है, कोई ऐसा नहीं होता, जिसकी इच्छा शेष है, उसी ओ३म को आदि जगत् से मनुष्य सबसे उत्तम नाम कहते चले आये हैं। इस नाम के ज्ञान से हर प्रकार का कष्ट स्वयं दूर हो जाता है। सम्पूर्ण सुखों का स्रोत यही मुख्य नाम है। जो लोग ओ३म के उपासक हैं, उनको हर्ष शोक भयादि से कोई सम्बन्ध ही नहीं। जिस स्थान मे सूर्य का प्रकाश हो, वहाँ किसी प्रकार का अन्धकार हो ही नहीं सकता ऐसे ही जिस किसी ने ओ३म् को जान लिया है उसको अविद्या हो नहीं सकती। जहाँ अविद्या नहीं है, वहाँ दुःख किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि अविद्या से राग द्वेप में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति अर्थात् बुरे-भले कामों के करने से पाप-पुण्य होते है। और पाप पुन्य से जन्म-मरण होते हैं जिससे दुःख होता है। जहाँ अविद्या नहीं वहाँ राग-द्वेप हो ही नहीं सकता, जहाँ राग-द्वेप नहीं वहाँ दुख किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते अतः एक ओ३म् के स्वरूप का जान लेना ही सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त हो जाना है।

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एत-दालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ । ४६ ॥

प० क्र०—(एतद्) ओ३म् की उपासना ही। (आलम्बनं) साधन। (श्रेष्ठ) सर्वोत्तम साधन। (एतद्) यही। (आलम्बनं) साधन। (परम्) सब से अन्तिम परमात्मा की प्राप्ति के लिये है। (एतद्) इस। (आलम्बनं) साधन को। (ज्ञात्वा) ज्ञान के अनुकूल कर्म करके। (ब्रह्म-लोके) ब्रह्म के दर्शन को। (महीयते) महिमा को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

अर्थ - 'ओ३म्' की उपासना सर्वश्रेष्ठ मुक्ति का साधन है, और साधन में वह सब 'ओ३म्' की उपासना के योग्य बनने के वास्ते ज्ञान की आवश्यकता है; परन्तु इसलिये कि उपासना के योग्य बन जावें अर्थात् अविद्या जो उपासना के मार्ग में बाधा डालने वाली है, दूर हो जावे, कर्म की आवश्यकता है। इसलिये हमारा मन जो मैला है, लग नहीं सकता। इसमें लगाने के लिये शुद्ध मन की जरूरत है और विना निष्काम कर्म के मन शुद्ध हो नहीं सकता और विना मन की शुद्धि के "ओ३म्" की उपासना सम्भव ही नहीं। अतः जितने साधन हैं, वह सब इससे पहले ही होते हैं। ब्रह्म के जानने के लिये यह सबसे अन्तिम साधन है। जिसने इस साधन को जान लिया है वह ब्रह्मलोक के सुख अर्थात् ब्रह्म-दर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १७ । ४८ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (जायते) उत्पन्न होना। (म्रियते) मरना। (विपश्चित्) ज्ञान स्वरूप परमात्मा। (न) नहीं। (अयं) सर्वज्ञ परमात्मा। (कुतश्चित) किसी कारण। (बभूव) उत्पन्न हुआ है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं, क्योंकि यह नित्य है। (कश्चित्) कोई उसके सन्तान बेटा आदि भी नहीं। (अजः) अजन्मा। (नित्यः) नित्य। (शाश्वतः) अनादि है। (अयम्) यह परमात्मा। (पुराणः) सनातन, किन्तु एक रूप है। (न) नहीं। (हन्यते) नाश होता है। (हन्यमानः) नाश होता है। (हन्यमानः) नाश होने से। (शरीरे) शरीर के।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! यह जीवात्मा और परमात्मा न तो उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं; क्योंकि ज्ञान स्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा मिश्रित नहीं, इसलिये इनका कोई कारण नहीं, जिससे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की जावे और न यही कि किसी के रूपान्तर से बने हैं, जो इनसे उत्पन्न हो।

उपादान कारण—यह दोनों उत्पत्ति से पृथक् हैं और नित्य हैं। एक राजा है, दूसरा उसकी प्रजा है और सर्वदा एक रहवे हैं। छः विकार—उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, रूप बदलना, घटना और नाश हो जाना, इनसे यह दोनों पृथक् हैं; क्योंकि यह विकार-युक्त हैं और संसार में पाये जाते हैं।

जो कुछ उत्पन्न होता है, वह कर्म अर्थात् काम करने से उत्पन्न होता है। काम करने से दो गुण उत्पन्न होते हैं—एक संयोग दूसरे वियोग। यह दो गुण मिश्रित में रहते हैं, दो अणुओं के मिलने से संयोग उत्पन्न होता है। अणु में संयोग ही है अर्थात् मृत्यु और उत्पत्ति शरीर के लिये हैं। उसमें रहने

वाले जीव और ब्रह्म शरीर के नाश होने से नाश नहीं होते और उत्पत्ति से उत्पन्न नहीं होते।

प्रश्न—जबकि जीव और ब्रह्म शरीर में रहते हैं, तब उनका शरीर से संयोग क्यों न स्वीकार किया जावे और जीव शरीर को छोड़ता भी है, इस कारण उसमें वियोग क्यों न स्वीकार किया जावे।

उत्तर—संयोग गुण-कर्म के स्वभाव से उत्पन्न होता है ब्रह्म स्वतन्त्र है, उस पर कर्म का प्रभाव हो नहीं सकता अर्थात् ब्रह्म में गुण मानना ठीक नहीं। दूसरे जीव भी कर्म करने में स्वतन्त्र है उसमें भी संयोग तथा वियोग का मानना उचित नहीं अर्थात् संयोग और वियोग उपादान कारण में ही कर्त्ता के कर्म प्रभाव से होते हैं, क्योंकि ब्रह्म और जीव उपादान कारण नहीं इस कारण उनमें संयोग और वियोग के न होने से छः विकार नहीं अर्थात् यह विकार शरीर में ही हो सकते हैं। ब्रह्म और जीव विकारों से पृथक् एक रस है और जब तक इनसे पृथक् कोई उपादान कारण न हो, जिस पर इनके कर्म का प्रभाव हो तब तक शरीर उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—सब मत वाले यह मानते हैं कि संसार में ईश्वर ही उपादान कारण है, अन्य कोई वस्तु उपादान कारण नहीं है, फिर दुनियाँ की उत्पत्ति ईश्वर के बिना किससे हो सकती है।

उत्तर—परमेश्वर सबका कारण है, क्योंकि कर्त्ता के कार्य से ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का बोध होता है। परमाणुमय प्रकृति है और स्वरूपहीन दीन जीवात्मा है। परमेश्वर ज्ञान स्वरूप है क्योंकि यह नियम है कि विशेषण के विशेष्य की उत्पत्ति नहीं होती और न विशेष्य से विशेषण की अर्थात् ज्ञान स्वरूप पर-

मात्मा विशेष्य नहीं हो सकता। सब अनादि हैं और शेष सब गुण हैं।

ईश्वर का गुण ज्ञानमय है। किसी ने उसको कर्त्ता बतलाया है। अगर वह संसार का उपादान कारण है, तो किसी दशा में संयोग और वियोग के प्रभाव से उत्पन्न नहीं हो सकता। संयोग और वियोग का प्रभाव स्वतंत्र पर नहीं होता और परतंत्र पर होता है अर्थात उपादान कारण होने के लिये उसका परतंत्र होना आवश्यकीय है और कर्त्ता के कर्म के लिये स्वतंत्र होना आवश्यकीय है। यह दोनों परस्पर विपरीत हैं, जिनका मिश्रित होना असम्भव है। अगर कहो कि उसको विकृत मान कर किसी अंश में ले लेंगे, जैसे कि आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र, फल भोगने में परतंत्र है, लेकिन परमात्मा की दशा सम्भव नहीं। इस कारण परमात्मा एक-रस है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यतेहतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।१६।४८

प० क्र०—(हन्ता) मारने वाला। (चेत) यदि हो। (मन्यते) मानता है। (हन्तुम्) मैं आत्मा को मार सकता हूँ। (हतः) मरा हुआ। (चेद) यदि हो। (मन्यते) मानता है। (हतम्) मरा हुआ। (उभौ) दोनों अर्थात् मरने और मारने वाले, जानने वाले। (तौ) वह दोनों आत्मा। (न) नहीं। (विजानीतः) जानते हैं। (न) नहीं। (अयम्) यह जीवात्मा और परमात्मा। (हन्ति) मारने में। (न) नहीं (हन्यते) मरते हैं।

अर्थ—जब कोई मनुष्य जगत में मरता है तो लोग कहते हैं कि इसको परमेश्वर ने मार दिया, अमुक मनुष्य ने मारा

यह विचार अज्ञानी मनुष्यों का है; क्योंकि ईश्वर न तो अपनी इच्छा से कोई काम करता है कि उसको मारने वाला कहा जावे। वह तो स्वभाव से करता है। अतः उसका प्रभाव कर्मों के अनुकूल पड़ता है। जिसके जैसे कर्म हैं, उस पर ईश्वर के न्याय का प्रभाव वैसा ही पड़ता है, अर्थात् जिसके कर्म मरने के हैं, वह ईश्वर के न्याय-नियम से मरता है, और जिसके कर्म मृत्यु के योग्य नहीं, वह नहीं मरता। इस कारण ईश्वर को मारने वाला कहना अज्ञानता है। जीव को किसी को मारने की शक्ति न ीं, अतः जीव और ब्रह्म का मारने वाला समझना भूल है। आत्मा को मरने और मारने वाला समझने वाले दोनों अज्ञानी हैं न तो आत्मा मरता है और न किसी को मारता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों को बताकर अब अकेले परमात्मा को बताते हैं।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो- र्निहितोगुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० । ४६ ॥

प० कृ०—(अणोः) सूक्ष्म। (अणीयान्) सूक्ष्म। (महतः) बड़ों में भी। (महीयान्) बड़ा। (आत्मा) वह व्यापक परमेश्वर। (अस्य) इस। (जन्तोः) इस प्राणी जीव के। (निहितः) नियत है। (गुहायम्) बुद्धि में। (तम्) उसको। (अक्रतुः) इच्छा से कर्म न करने वाला। (पश्यति) जो जानता है, अर्थात् जिसको यह विद्या है कि परमात्मा अपनी इच्छा से काम नहीं करता। (वीतशोकः) वह शोक से पृथक् जीव को मालूम होता है। (धातुः प्रसादात्) सत् असत् के

धारण करने वाली बुद्धि। (महिमानम्) महत्ता को। (आत्मनः) आत्मा की।

अर्थ—वह परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यह नियम है कि सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुण नहीं जा सकते और स्थूल के भीतर सूक्ष्म के गुण आ सकते हैं. अतः सब से सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा में किसी का गुण नहीं जा सकता। वह सब में व्यापक है। महान् से भी महान् होने के कारण सब उसके भीतर हैं। अतः कोई उसके राज्य से बाहर भी भाग कर नहीं जा सकता। वह प्रत्येक मनुष्य के मन के भीतर उसके संकल्प को देख रहा है। मनुष्य समझता है कि छिपकर पाप करता हूँ, परन्तु दण्ड देने वाला उसके भीतर व्यापक होने से देख रहा है। उससे हमारा कोई कर्म गुप्त नहीं रह सकता, जिससे झूठे साक्षी या वकीलों के कारण हम उसके दण्ड से बच सकें। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुःख नहीं देता, क्योंकि वह न्यायकारी और दयालु है; उसका न्याय प्रत्येक के लिये एक समान है। वह बिना कारण किसी को मित्र, शत्रु नहीं जानता, न उसके राज्य में किसी प्रकार का अन्याय हो सकता है। वह स्वभाव से ही कर्मों का फल देता है।

जो मनुष्य संसार की चिन्ताओं से स्वतन्त्र होकर मन को शुद्ध कर लेते हैं, वही उसको मेधा बुद्धि के कारण देख सकते हैं। जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार का दोष है या जिनका मन संसार की चिन्ताओं में लिप्त हो रहा है, उनको इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—श्रुति ने अणु से भी अणु अर्थात् छोटे से भी छोटा बताया है तुमने इसका अर्थ सूक्ष्म से सूक्ष्म क्यों किया ?

उत्तर—श्रुति का अर्थ यहाँ अणु से सूक्ष्म का ही है, क्योंकि जो सबमें छोटा है, वह बड़ों से बड़ा नहीं हो सकता। अतः यहाँ भी अर्थ सत्य है कि वह छोटों से छोटा नहीं, किन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

प्रश्न—श्रुति ने तो बताया है कि कोई उसका करना-होना नहीं मानता, तुम इच्छा से करना होना अर्थ करते हो।

उत्तर—श्रुति का अर्थ तो इच्छुक के प्रतिकूल है; क्योंकि दूसरी श्रुति ने उसमें स्वाभाविक करना स्वीकार किया है। यदि यहाँ करने का विरोध किया जावे, तो सत्य नहीं; क्योंकि परमात्मा का लक्षण जगत् उत्पन्न करने, स्थिर रखने और नाश करने वाला स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—मन के शुद्ध करने के लिये जगत् की चिन्ता से स्वतन्त्रता की क्यों आवश्यकता है?

उत्तर—जीवात्मा काम करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है। जो मनुष्य इस बात को समझ जाते हैं, वह भोग के लिये पुरुषार्थ नहीं करते, किन्तु सर्वदा करने में लगे रहते हैं। यदि भोग की चिन्ता है, तो संसार का उपकार नहीं हो सकता। अतः संसार के उपकार के लिये भोग की चिन्ता से मुक्ति रहना जरूरी है। दूसरे भोग की चिन्ता करना अविद्या है। जहाँ अविद्या है, वहाँ विद्या नहीं आ सकती, जैसा कि कहा है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१। ५०॥

प० क्र०—(आसीनः) स्थिर होने पर भी। (दूरम्) बहुत दूर। (व्रजति) जहाँ कोई जावे, वहाँ आगे ही उपस्थित पाया

जाता है। (शयानः) वह स्वप्नावस्था में तमोगुण के परदे से ढँप जाता है। (याति) मन के काम करने से मन में ठहरा हुआ भी काम करता हुआ मालूम होता है। (सर्वतः) सब जगह पर जाता हुआ। (कः) कौन। (तम्) उसको। (मदामदम्) अपने आनन्द से पूर्ण, विषयों के भोग से पृथक् (देवम्) प्रकाशस्वरूप को। (मदन्यः) मेरे सिवाय। (ज्ञातु-मर्हति) जान सकता है।

अर्थ—अब यमाचार्य नचिकेता के अन्तःकरण में श्रद्धा स्थापित करने के लिये, जिससे उनकी शिक्षा से वह लाभ उठा सके, कहते हैं—हे नचिकेता! वह परमात्मा गति से पृथक् है, क्योंकि वह वस्तु गति कर सकती है, जिसकी उपस्थित से कोई स्थान रिक्त हो। परमात्मा पहले ही से सर्वव्यापी है, अतएव कहाँ गति करे, तो भी इतना बड़ा है कि कहीं चले जाओ, वह पहले ही से उपस्थित होगा और जिसके नियम के भीतर स्वप्न की अवस्था में तमोगुण से आवरण में आने के कारण वह जीवात्मा शरीर के भीतर रहता हुआ सब जगह जाता हुआ प्रतीत होता है जो अपने आनन्द से परिपूर्ण है; परन्तु संसार के विषयों को नहीं भोगता; सुतराम् आनन्दस्वरूप और विषय-सुख से पृथक् जो प्रकाशस्वरूप परमात्मा है, उसको मेरे सिवाय कौन जान सकता है। आशय यह है कि मैंने परमात्मा को जान लिया है।

प्रश्न—पहले केनोपनिषद् में सिद्ध कर चुके हैं कि जो कहता है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता; जो कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जान सकता है; फिर यमा-चार्य ने उसके विरुद्ध क्यों कहा।

उत्तर—यमाचार्य ने अभिमान नहीं किया कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, किन्तु नचिकेता की श्रद्धा स्थापित करने के लिये कहा।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ । ५१॥

प० क्र०—(अशरीरम्) शरीर-रहित्। (शरीरेषु) शरीरों में। (अनवस्थेषु) स्थिति रहितों में। (अवस्थितम्) ठहरा हुआ। (महान्तम्) बड़े। (विभुम्) व्यापक। (आत्मानम्) जीवात्मा और परमात्मा को। (मत्वा) मान के। (धीरः) बुद्धिमान्। (न) नहीं। (शोचित) शोक करता है।

अर्थ—उस परमात्मा के शरीर नहीं अर्थात् न तो स्थूल शरीर है न सूक्ष्म; परन्तु तो भी वह प्रत्येक शरीर में रहते हैं। यद्यपि वह काम करता हुआ जगत् के अन्दर रहता है, लेकिन फिर भी न काम करता हुआ पाया जाता है। उनकी बड़ाई की सीमा नहीं, किन्तु वह सबसे बड़े हैं। कोई संसार में ऐसी वस्तु नहीं जो इनसे पृथक् हो। वह प्रत्येक के बाहर और भीतर विद्यमान हैं। न भीतर होने से हम भीतर से किसी काम को कर सकते हैं और न हर जगह मौजूद होने से उनके राज्य से भागकर बाहर कहीं जा सकते हैं। जब तक हमको उसका ज्ञान नहीं तब ही तक हम पाप कर्म करते हैं। जहाँ उसका ज्ञान हुआ, पाप करने की शक्ति नहीं रहती; क्योंकि जीव स्वभाव से भययुक्त है। जहाँ पाप का विचार आता है, तुरन्त भीतर से भय, संदेह और लज्जा उत्पन्न हो जाती है। पहले जो आदमी एक पुलिस के सिपाही की उपस्थिति में पाप करने से डरता है, यदि उसको दंड देने वाले के सामने खड़ा होना मालूम

हो जावे, तो किस प्रकार पाप कर सकता है। यद्यपि मनुष्य जानता है कि पुलिस के सिपाही को घूस से प्रसन्न करके वह बच सकता है, झूँठी साक्षी द्वारा बचने का विचार हो सकता है, वकीलों के द्वारा क़ानून के धोके में बचने की आशा हो सकती है; जब इतनी आशाओं पर भी वह पुलिस की उपस्थिति में पाप से बच सकता हो, तो जिस अवस्था में उसको पूर्ण विश्वास हो कि जिस परमात्मा ने दंड दिया है, जिसको घूस देकर प्रसन्न नहीं कर सकता, जहाँ मिथ्या साक्षी से काम नहीं चल सकता, जहाँ बुद्धिमान वकील किसी क़ानूनी धारा से बचा नहीं सकता; फिर मनुष्य किस प्रकार वहाँ पाप कर सकता है। जब पाप न करे, तो शोक और भय किस प्रकार हो सकता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳस्वाम् ॥ २३ । ५२ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (अयम्) यह। (आत्मा) सारे शरीर में व्यापक परमात्मा। (प्रवचनेन) बहुत सा उपदेश करने या विचार करने से। (लभ्यः) मिल सकता है। (न) नहीं। (मेधया) बुद्धि से मिलता है। (न) नहीं। (बहुना) बहुत सुनने से मालूम होता है। (यम्) जिसको। (एव) ही। (एषः) यह आत्मा। (वृणुते) प्रकाश करता है। (तेन) उससे। (लभ्यः) मालूम होता है। (तस्य) उसके लिये। (एषः) यह। (आत्मा) यह परमात्मा। (वृणुते) प्रकाश करता है। (तनुम्) स्वरूप को। (स्वाम्) अपने।

अर्थ—यह परमात्मा बहुत सा व्याख्यान करने और व्यवस्था करने से नहीं मिल सकता, न वह बुद्धि से जाना जाता है और न बहुत से ग्रन्थों को पढ़ने अर्थात् गुरु से सुनने से जाना जाता है, जिसको अधिकारी जानकर उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश करता है, उसीसे ज्ञेय हो सकता है अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र और ब्रह्म के आधार पर अपने गुरु के उपदेश से ही ब्रह्मज्ञान होता है; क्योंकि जो मार्ग पर पहुंच चुका है, वह उस मार्ग के लिये आप आया कहलाता है। यदि उसके कहने पर उसीके अनुकूल कर्म किया जावे, तो परमात्मा का प्रकाश प्रकट होता है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाश न करे, तब तक कोई उसको देख नहीं सकता। जैसे, जब तक सूर्य अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं करता- तब तक आँख उसको किसी दूसरे की सहायता से देख नहीं सकती। ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को परमात्मा की सहायता से ही जान सकता है, अन्य की सहायता से जानना असम्भव है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥५ ३॥

प० क्र०—(न) नहीं। (अविरतः) ढाँपा हुआ। (दुश्चरितात्) बुरे कर्मों से। (न) नहीं। (अशान्त) जिसके मन में शान्ति न हो। (न) नहीं। (समाहितः) जिसकी शंकाओं का समाधान। (अशान्तमानसः) जिसका मन चंचल हो। (वा) और। (अपि) भी। (प्रज्ञानेन) वेद विद्या और सत्य ज्ञान से। (एनम्) परमात्मा को। (आप्नुयात्) प्राप्त कर सकता है।

अर्थ—जिसका मन दुराचारों से ढँप रहा हो अर्थात् अज्ञान का प्रतिबिम्ब ठीक न पड़ता हो, जिसमें शान्ति न हो, अर्थात्

क्लेश चिन्ता आदि से अशान्त हो, जिसको निश्चय न हो, बात-बात में शंका उत्पन्न होती हो और शंका के कारण आगे की ओर एक पग चलना भी कठिन हो, मन ऐसा चंचल हो कि एक पल भी स्थिर न रह सकता हो; ऐसा आदमी बहुत कहने-सुनने से तथा वेद-विद्या और सत्य-ज्ञान से भी उस परमात्मा को नहीं जान सकता। परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण शुद्ध और निर्मल होना चाहिये। कोई भीरु, स्वार्थी मिथ्यावादी, दुराचारी पुरुष परमात्मा के जानने का अधिकारी किसी दशा में नहीं हो सकता और न परमात्मा अहंकारियों को दृष्टि आ सकते हैं। जिसके मन में श्रद्धा और निश्चय नहीं, वह किसी दशा में कर्मकान्डी नहीं हो सकता। यदि किसान को संदेह हो कि खेत बीज बोने के योग्य है या नहीं, तो वह उस खेत में कभी बीज नहीं बोता। अतः कोई मनुष्य शंका के होते हुए कर्म नहीं करता। इस कारण जब तक ब्रह्म-ज्ञान में जो बाधाएँ हैं, वह दूर न हो जावें; तब तक कोई मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान को नहीं जान सकता। ब्रह्म के अति निकट होने से पाँच प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता है—प्रथम दर्पण हो, दूसरे प्रकाश हो, तीसरे दर्पण शुद्ध और निर्मल हो, चौथे दर्पण स्थिर हो और पाँचवें बीच में कोई आवरण न हो। जब पाँचों आश्रमों को नियमपूर्वक पूरा करने से विघ्न दूर हो जावें, तब ब्रह्म-ज्ञान हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५।५४॥

प० क्र०—(यस्य) जिस परमात्मा का। (ब्रह्म) ब्राह्मण अर्थात् विद्या। (क्षत्रं) क्षत्रिय अर्थात् बल। (उभे) दोनों अर्थात् विद्या

और बल। (भवतः) होते हैं। (ओदनः) चावल पके हुए। (मृत्युः) मरण अर्थात् शरीर से जीव का वियोग। (यस्य) जिसकी। (उपसेचनम्) चावल में डालने योग्य घी की भांति से। (कः) कौन। (इत्थावेद) इस प्रकार जानता है। (यत्र) जिस स्थान में। (सः) वह है।

अर्थ—जो परमात्मा प्रलय के समय बल और विद्या अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मणों को अपने में प्रवेश कर लेता है, केवल ब्राह्मण उसके दिए हुए ज्ञान वेद से बड़ाई पाते हैं। जब वेद उसका ज्ञान है, तो उसी के भीतर प्रवेश होना चाहिये। जब वेद परमात्मा में मिल गया, तो ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं? दूसरे क्षत्रिय हैं, इनमें जो बल है, वह भी परमात्मा के दिए हुए बल से होता है। जब परमात्मा ने अपने बल को अपने से बाहर नहीं जाने दिया, तो क्षत्रिय कैसे हो सकते हैं। यह कैसे परमात्मा में प्रवेश करते! इनके प्रवेश होने का साधन मृत्यु है। मरण अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मण का नाश करके उन शक्तियों अर्थात् विद्या और बल को परमात्मा में प्रवेश कर देती है। जिस स्थान में वह परमात्मा है, कौन जान सकता है कि वह कहाँ है; क्योंकि कहाँ का शब्द एक-देशी के वास्ते प्रयोग होता है। परमात्मा अनन्त है, उनके लिये इस शब्द का प्रयोग हो नहीं सकता। परमात्मा के सर्वत्र होने से यह जानना कि वह कहाँ है, बहुत ही कठिन है।

इति द्वितीया वल्ली।



अथ तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ । ५५ ॥

प० क्र०—(ऋतम्) जो वस्तु जैसा हो, उसको वैसा ही जानना अर्थात् तत्व ज्ञान। (पिबन्तौ) जीव और परमात्मा भोगते हुए। (सुकृतस्य) अपने किये का फल अर्थात् जीवात्मा अपने किये के फल को भोगता है और ब्रह्म फल देता है। (लोके) इस शरीर में। (गुहाम्) बुद्धि के भीतर। (प्रविष्टौ) प्रवेश करके। (परमे) सबसे उत्तम। (परार्द्धे) हृदय के आकाश में। (छायातपौ) छाया और धूप की भाँति, जैसे जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ है, इसलिये ब्रह्म को धूप और जीव की छाया कह सकते हैं। (ब्रह्मविदः) अर्थात् वेद को जानने वाले। (वदन्ति) बताते हैं। (पञ्चाग्नयः) जो पाँच प्रकार की अग्नि अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से अलग हैं अर्थात् वानप्रस्थ हैं और। (ये च त्रिणाचिकेताः) जिन गृहस्थों ने तीन प्रकार की अग्नि का विचार किया है।

अर्थ—गृहस्थी और वानप्रस्थी मनुष्य, जिन्होंने पाँच इन्द्रियों के आधीन करने का यत्न किया है, अथवा कर्म-काण्ड के वास्ते

तीन प्रकार की अग्नि का संग्रह किया है; वह कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों साथ-साथ रहते हैं। जो अपने कर्मों का फल भोगने वाले जीव में जब बुद्धि में प्रवृष्ट होकर वृत्तियों को भीतर ले जाता है अर्थात् बाहर के विचारों से बे सुध हो जाता है, समाधि सुषुप्ति और मुक्ति की दशा में शरीर में सबसे उत्तम स्थान, जो हृदय के भीतर आकाश है, उस स्थान में ब्रह्म को जानते हैं। जीव यदि छाया है, तो ब्रह्म धूप है, जीव अल्पज्ञ है, तो ब्रह्म सर्वज्ञ है; जीव ब्रह्म में किसी प्रकार की दूरी नहीं। ब्रह्म की खोज में किसी दूर के स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं, केवल मन की वृत्तियों को बाहर की प्रकृति से हटाकर भीतर ले जाने की आवश्यकता है। इस दृश्य के बाहर आने अर्थात् प्रकृति की उपासना से दुःख और भीतर जाने अर्थात् सुषुप्ति की दशा का दृश्य दिखाकर परमात्मा हमको नित्य उपदेश करते हैं, जो प्रत्यक्षादर्श है। जब जागो तो हर प्रकार का दुःख सामने है, जब सो जाओ, तो सब दुःख भाग जाते हैं। इसके देखने से भी यदि मनुष्य न समझे, तो इससे अधिक क्या मूर्खता हो सकती है।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् अभयं
तितीर्षतां पारं नाचिकेतथं शकेमहि ॥ २ ॥ ५६ ॥

प० क्र०—(यः) जो जीवात्मा। (सेतुः) पुल। (ईजानां) यज्ञ करने वालों का। (अक्षरम्) नाशरहित। (ब्रह्म) परमात्मा। (यत्) जो। (परम्) सब से सूक्ष्म और बड़ा है। (अभय) निर्भय जो किनारा है। (तितीर्षताम्) जिसे तरने की इच्छा वाले विद्वान् ही। (पारम्) परले पार। (नाचिकेतम्) ज्ञान स्वरूप जीवात्मा। (शकेमहि) हम जान सकें।

अर्थ—जो परमात्मा यज्ञ करने वाले प्राणियों को इस सागर से तारने के वास्ते सेतुरूप है, जो नाशरहित सूक्ष्म और सबसे बड़ा है, जो हमको इस भवसागर से तारने में समर्थ है, जो चेतनस्वरूप है; जो मनुष्य उस सर्वज्ञ के नियम अर्थात् वेद-विरुद्ध काम करता है, वह कभी सुख नहीं पा सकता। हम संपूर्ण संसार को धोका दे सकते हैं, परन्तु परमात्मा को कोई धोका नहीं दे सकता, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु में व्यापक होने से प्रत्येक काम को स्वयम् प्रत्यक्ष करता है और जिसको किसी प्रकार के साक्षी के होने की आवश्यकता नहीं है, जब उसने स्वयम् देख लिया, तो और साक्षियों से क्या लाभ। इस कारण भव के सागर से तरने के लिये परमात्मा की आज्ञानुकूल दूसरों को सुख पहुँचाने वाले यज्ञ करने चाहिए।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेवतु। बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥ ५७॥

प० क्र०—(आत्मानं) आत्मा को अर्थात् अपने को। (रथिनम्) गाड़ी का सवार। (विद्धि) विचार करो। (शरीरम्) शरीर को। (रथम्) सवारी अर्थात् गाड़ी। (एव) निश्चय। (तु) समझो। (बुद्धिन्तु) बुद्धि को। (सारथिं) गाड़ी चलाने वाला। (विद्धि) विचार करो। (मनः) मन को। (प्रग्रहम्) वागें अर्थात् लगाम समझो। (एव) भी। (च) और।

अर्थ—यह शरीर एक गाड़ी है, जिस पर बैठकर जीवात्मा-रूपी सवार अपने नियत मार्ग "ओ३म्" की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है; परन्तु गाड़ी बिना रथवान अर्थात् चलानेवाले के चल नहीं सकती। इसी कारण इस शरीररूपी गाड़ी का सारथी

बुद्धि है। जिस गाड़ी का हाँकने वाला चतुर हो, वह गाड़ी इष्ट मार्ग पर पहुँच जाती है और जिस गाड़ी का सारथी शराबी हो, वह गाड़ी गढ़ों में जा गिरती है। ऐसे ही जिस मनुष्य की मेधा बुद्धि है, वह तो मनुष्य-जन्म की बाद को पूरा कर सकता है और जिसकी बुद्धि बुरी है, वह बार-बार नीच योनियों में जन्म लेता है और अविद्या में फँस कर बुराई को भलाई विचार करता हुआ इस जन्म को नष्ट कर देता है। रथवान को गाड़ी के घोड़ों या कल के पुरजों को आधीन में रखने के लिये घोड़े के मुँह में लगाम की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार इस शरीर की गाड़ी बुद्धि को, जो इनके हाथ में बागें हैं, यदि मन बुद्धि के वश में रहता है, तो सम्पूर्ण काम सत्य होते हैं, यदि मन बिगड़ जाता है और बुद्धि की आधीनता से निकल जाता है, तो सम्पूर्ण दोष आ घेरते हैं। अतः इस चित्र में यह प्रकट कर दिया है कि मनुष्य का मन और बुद्धि ठीक हो, तभी वह कामयाब हो सकता है। यदि मन में दोष है अर्थात् मन मैला है या चंचल है, तो गाड़ी किसी दशा में भी नियत मार्ग पर नहीं जा सकती। यदि बुद्धि सारथी के सामने विद्या का प्रकाश नहीं तो इस गाड़ी को निकृष्ट मार्ग में डालकर नष्ट कर देता है।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४। ५८॥

प० क्र०—(इन्द्रियाणि) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। (हयानि) घोड़े। (आहुः) कहलाते हैं। (विषयान्) इन्द्रियों के जो विषय हैं। (तेषु) उनमें। (गोचरान्) मार्ग जिसमें यह रथ घोड़ों से चलता है। (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्)

आत्मा जब इन्द्रियों और मन से मिलता है अर्थात् उस योग को। (भोक्ते) भोगने वाला अर्थात् भोगता है। (इति) यह। (आहुः) कहा है। (मनीषिणः) मन को शुद्ध करके आधीन रखने वाले विद्वानों ने।

अर्थ—जब शरीर को गाड़ी और बुद्धि को सारथी और मन को बाग (लगाम) बताया, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वह घोड़े कौनसे हैं, जिनको चलाने के लिये बागों और सारथी की आवश्यकता है, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रियाँ, इस प्रकार की गाड़ी के घोड़े हैं अर्थात् ५ ज्ञान इन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा तथा ५ कर्म इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पाँव, जिह्वा, गुदा, लिङ्ग इन्द्रिय ; यह दस इन्द्रियाँ जीव को शरीर के साथ ज्ञान और कर्म-मार्ग में ले जाने वाली हैं। जितने इन्द्रियों के विषय हैं, वही इस गाड़ी के मार्ग हैं। जब आत्मा इन्द्रिय और मन से योग करता है, तो उसको विद्वान् मनुष्य भोक्ता कहते हैं। यदि मनुष्य इस अलंकार को ठीक समझ जावे, तो वह संसार में धोखा नहीं खा सकता। जब मालूम हो गया कि यह शरीर गाड़ी है और आत्मा गाड़ी में बैठकर मार्ग की ओर जाने वाला है, तो जो मनुष्य यह भी नहीं जानता कि इस गाड़ी में बैठ कर किस मार्ग पर जाना है, तो उसको कौन बुद्धिमान् कह सकता है? यदि गाड़ी मार्ग की ओर चलती है, तो उन्नति, यदि मार्ग के विरुद्ध चलती है, तो मार्ग के दूर हो जाने से अवनति कहलाती है। जिसको मार्ग का ज्ञान नहीं उसे उन्नति या अवनति करने का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? यह भी प्रत्येक मन जानता है कि गाड़ी को अपना बताने वाले दो होते हैं, एक साईस दूसरा रईस। एक अमीर की पाँच गाड़ियां हों, तो प्रत्येक गाड़ी का साईस अपनी गाड़ी को

अपनी बतलावेगा और स्वामी अपनी कहता है। यदि साईस से कहा जावे कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है, तुम अपनी गाड़ी क्यों कहते हो, तो वह कहता है कि मेरा गाड़ी से यह सम्बन्ध है कि घोड़े भले प्रकार चराये जावें, गाड़ी खूब धोई जावे निदान शरीर की गाड़ी के साईसों से प्रश्न किया जावे कि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है, तो वह स्पष्ट उत्तर देंगे कि "खाओ पीयो आनन्द उड़ाओ अब तो आराम से गुजरती है" आकबत की खबर खुदा जाने, अर्थात ऐसे मनुष्यों का उद्देश यह होता है कि जो कुछ आनन्द है वह सांसारिक पदार्थों में है, आगे कुछ भी नहीं। इन्द्रियों के विषय भले प्रकार भोगो अर्थात् घोड़े खूब चराओ और शरीर को खूब सजाओ अर्थात् गाड़ी को खूब धोओ। वह अपने आप को गाड़ी के लिये विचार करते हैं। जो मनुष्य रात-दिन शरीर के लिये प्रयत्न करते हैं वह इस गाड़ी के साईस हैं। यदि स्वामी से प्रश्न करें कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है, तो वह कहता है कि मुझे गाड़ी पर बैठकर कचहरी जाना है, गांव जाना है, वह गाड़ी को अपने लिये ममत्व रखता है। जो आत्मा शरीर को अपने मार्ग के लिये विचार करते हैं, वह स्वामी हैं और जो अपने शरीर के लिये विचार करते हैं वह साईस हैं। जो देश अधिक साईस रखता है, वह गिरा हुआ देश है और जिस देश में स्वामी अधिक हैं वह उत्तम देश है।

प्रश्न– आजकल तो सभ्य देश वही कहलाता है, जिसमें खाओ पीयो आनन्द उड़ाओ, इस विचार के मनुष्य अधिक हों

उत्तर—आज-कल मनुष्य अधिकतर अज्ञानी हैं न वह अपनी सत्ता से जानकार है और न वह अपने उद्देश्य-मार्ग का ही ज्ञान रखते हैं। केवल पशुओं की भांति वर्तमान प्रत्यक्ष

जगत को जानते हैं जिस प्रकार पंजाब में नाई का नाम राजा विवाह के स्वार्थियों ने रख दिया है ऐसे ही मूर्खों ने उन देशों का नाम सभ्य देश रख दिया परन्तु वास्तव में वह साईसों का देश है।

प्रश्न—साईस कभी स्वामी पर अधिकार नहीं पा सकता; हम देखते हैं कि ऐसे देश संसार में अधिकार रखते हुए दृष्टि पड़ते हैं।

उत्तर—साईस फिर आदमी है जो घोड़ों पर प्रभुत्व रखता है। अतः वह उन आदमियों पर जो धर्म-शून्य होने से पशुओं की भांति हैं, अधिकार रखते हैं। इस समय ऐसा कोई देश नहीं जिसमें स्वामी बसते हों। हर देश में थोड़े मनुष्य ऐसे हैं कि जो शरीर के तत्व ज्ञाता हैं।

यस्त्वविज्ञान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ।५६॥

प० क्र०—(यस्तु) जो मनुष्य। (अवज्ञानवान) जो ज्ञान से रहित मनुष्य सर्वदा इन्द्रियों के विषयों में फँसा। (भवति) होता है। (अयुक्तेन) जिसका मन बुद्धि के अनुकूल काम नहीं करता। (मन सा) मनसे। (सदा) सदा। (तस्य) उसकी। (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ। (अवश्यानि) बेकाबू अर्थात बुद्धि की शक्ति से बाहर। (दुष्टाश्वाः) बुरे घोड़ों की भाँति। (सारथे, जैसे बुरे घोड़े कोचवान के आधीन न रहकर गाड़ी को सड़क के नीचे गिरा देते हैं ऐसे ही स्वाधीन इन्द्रियाँ मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़कर उसे नष्ट कर देते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य अज्ञानी होता है और जिसका मन सदा बुद्धि के हाथ से बाहर रहता है, कभी मन स्थिर नहीं होता,

सर्वदा अनियमित चलता है। जैसे दुष्ट घोड़े वाग के ढीले हो जाने से स्वामी को गाड़ी के नीचे गिरा देते हैं, वह नियत मार्ग पर नहीं पहुँचता; इसी प्रकार जिनका मन बुद्धि के आधीन नहीं, वह मन सदा अनियमित काम करता है और जिसका मन अनियमित चले, उसकी इन्द्रियाँ कभी ठीक मार्ग पर न चलकर उसको विषयों के गढ़े में गिरा देती हैं, इसलिये सबसे आवश्यकीय काम कोचवान् अर्थात् बुद्धि को ठीक रखना है। यदि बुद्धि ठीक न हो तो कितना ही परिश्रम क्यों न करें मार्ग पर नहीं पहुँच सकते। यदि बुद्धि ठीक हो तो थोड़े परिश्रम से भी कार्य सिद्ध हो सकता है और दूषित बुद्धि से कोई काम ठीक नहीं हो सकता है।

प्रश्न—क्या सब की बुद्धि एक सी है या अलग-अलग भाँति-भाँति की ?

उत्तर—बुद्धि दो प्रकार की है—एक साधारण बुद्धि, दूसरी मेधाबुद्धि। मेधाबुद्धि तो सब मनुष्यों की एक है और साधारण में अन्तर है।

प्रश्न—साधारण बुद्धि में भेद का क्या कारण है ?

उत्तर—मन का तीन प्रकार का होना। सतोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और भाँति का होगा, रजोगुणी मन से जो ज्ञान होगा और प्रकार का होगा और तमोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और प्रकार का होगा।

प्रश्न—बुद्धि में जो गुणों का भेद हैं, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—पूर्व जन्म के संस्कार और संगति। जिस प्रकार के पहले संस्कार होंगे वैसी संगति अब अच्छी मालूम होगी, जैसे संगति करेगा वैसा ही काम होगा।

प्रश्न—बुद्धि को किस प्रकार ठीक रख सकते हैं ?

उत्तर—बुद्धि आत्मिक चक्षु है; जिसको सूर्य अर्थात् वेद से सहायता मिल सकती है। यदि सूर्य सामने हो, तो आँख को रस्सी का साँप नहीं मालूम होता और इस भाँति के न होने से वह उस साँप से भय नहीं खाता। यदि थोड़ा प्रकाश हो, तो भ्रम होकर अविद्या उत्पन्न हो सकती है; जो सम्पूर्ण दोषों का बीज है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ । ६० ॥

प० क०—(यस्तु) जो मनुष्य। (विज्ञानवान्) ठीक ज्ञान वाला। (भवति) होता है। (युक्तेन) साथ मिले हुए। (मनसा) मन से। (सदा) सदा। (तस्य) उसके। (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ। (वश्यानि) वश में होते हैं। (सदश्वा इव) उत्तम घोड़ों की भाँति—जैसे उत्तम घोड़े गाड़ी को मार्ग पर पहुँचा देते हैं इसी प्रकार बुद्धिमान् की इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। (सारथेः) कोचवान के।

अर्थ—जिस मनुष्य का मन बुद्धि के साथ युक्त हो, सदा प्रत्येक काम विचार कर करता हो, कोई काम भी मूर्खता का न करता हो, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहकर उत्तम घोड़ों की भाँति मार्ग पर पहुँचाने वाली होती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ उसको गिराने वाली नहीं होतीं, किन्तु मार्ग पर पहुँचाने वाली होती हैं। इस वाक्य से परिणाम निकलता है कि मन बुद्धि के कहने पर चले और इन्द्रियाँ मन के वश में होती ही हैं, तो इन्द्रियाँ मित्र का

काम देती हैं। यदि इन्द्रियाँ विवश हो जावें, तो वही इन्द्रियाँ मनुष्य की भयानक शत्रु हो जाती हैं। मन को बिना विद्या के बुद्धि वश में नहीं रख सकती; क्योंकि आँख के प्रकाश के बिना देखना कठिन है, बिना मार्ग देखे बागों को ठीक रखना असम्भव है और बिना बागों के ठीक रहे घोड़े नियम पूर्वक नहीं चल सकते। निदान मनुष्य के शत्रु उसके साथ ही हैं। इन शत्रुओं से बचने के लिए विज्ञान अर्थात् विद्या ही एक हथियार है। जो मनुष्य विद्या की ओर से वंचित हैं, वह संतान के लिए कितना ही धन क्यों न छोड़ जावें, वह संतान के शत्रु या मूर्ख मित्र कहला सकते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ । ६१ ॥

प० क्र०—(यस्तु) जो मनुष्य। (अविज्ञानवान्) अविद्या से इन्द्रियों द्वारा और शिक्षा से प्राप्त होता है (पृथक्) (भवति) होता है। (अमनस्कः) जिसका मन ज्ञान से शून्य हो अर्थात् विचार-शक्ति से रहित। (सदा) सदा। (अशुचिः) मैला हो। (न) नहीं। (स) वह मनुष्य। (तत्) उस। (पदम्) पदवी को। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (संसारम्) बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में। (च) और। (अधिगच्छति) प्राप्त होता है।

अर्थ—जिस मनुष्य को वेदों की शिक्षा प्राप्त नहीं होती, जिसके मन में विचार-शक्ति नहीं, जो प्रत्येक काम बिना विचारे अज्ञानता से करता है, जिसका मन सदा दूसरे के धन, स्त्री और अन्य पदार्थों के लेने के विचार से मैला रहता है और

जिस मनुष्य को आत्मा और शरीर का ज्ञान नहीं, वह सदा ही अपवित्र रहता है, वह किसी दशा में भी आत्म-ज्ञान की बाट को प्राप्त नहीं कर सकता और सदा जन्म लेता और मरता रहता है।

प्रश्न—क्या कारण है कि अज्ञानी मनुष्य बार-बार जन्म लेता है ?

उत्तर—जीव के अतिरिक्त दो पदार्थ और हैं—एक प्रकृति और दूसरे परमात्मा। प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्-चित् है, परमात्मा सत्-चित्-आनन्द (सच्चिदानन्द) है। प्रकृति के सम्बन्ध से जीव को बन्धन होता है, क्योंकि प्रकृति स्वतंत्र नहीं और जीव से कम गुण वाली है। कम गुण वाले की संगति से सदा हानि होती है। परमात्मा सच्चिदानन्द है, जिसके कारण से जीव को लाभ होता है। जब दो प्रकार की वस्तुएँ मौजूद हों—एक लाभदायक, दूसरी हानि-कारक, तो उस दशा में ज्ञान के बिना कैसे काम चल सकता है। जिस बाजार में उत्तम सोना ही बिकता हो, वहाँ तो बिना जाने भी जीव मोल ले सकता है और यदि सोना और मुलम्मा दोनों चीजें बिकती हों, तो मनुष्य को धोखा होना सम्भव है। इस कारण आनन्द के चाहने वालों को वेदों की शिक्षा का होना आवश्यक है। बिना शिक्षा के आनन्द का मार्ग नहीं मिल सकता।

यस्तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८। ६२ ॥

प० क्र०—(यस्तु) जो मनुष्य। (विज्ञानवान् भवति) वेदों की शिक्षा से युक्त होता है, जिसका प्रत्येक काम विचार के

अनुकूल होता है और जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को सदा शुद्ध रखता है। (स) वह मनुष्य। (शुचिः) पवित्र। (सः) वह। (तत्) उस। (पदम्) पदवी को। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (यस्मात्) जिससे। (भूयः) अधिक वार। (न) नहीं। (जायते) उत्पन्न होता।

अर्थ—जो मनुष्य वेदों की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त करके मन इन्द्रिय और शरीर को सदा शुद्ध रखता है, शरीर को पानी से शुद्ध रखता है, मन को सत्य बोलने और मानने से शुद्ध रखता है, विद्या और तप से जीवात्मा को शुद्ध रखता है, बुद्धि को वेद से शुद्ध रखता है और प्रत्येक काम धर्म के अनुकूल अर्थात् सत्यासत्य का विचार कर करता है, वह ऐसी पदवी को प्राप्त करता है कि जहाँ बहुत देर तक दुबारा उत्पन्न नहीं होता। बहुत से मनुष्य इसके अर्थ यह लेते हैं कि वह फिर पैदा नहीं होता, परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी दशा असम्भव है—जिसका एक किनारा हो अर्थात् आरम्भ हो और अन्त न हो।

प्रश्न—जब कि सम्पूर्ण मत ऐसी मुक्ति मानते हैं; तो वह असम्भव कैसे हो सकती है ?

उत्तर—किसी के मानने से किसी वस्तु की तत्त्वावस्था में परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु लक्षण बदलने से वह परिवर्तन हो सकता है। यदि इस प्रकार की मुक्ति सम्भव हो जावे, तो धन्यवाद के योग्य है, परन्तु उसको सम्भव कोई भी विद्वान् नहीं कर सकता; क्योंकि उसके लिये कोई उदाहरण नहीं, जिससे अनुमान हो सके और जब जीव ही प्रत्यक्ष नहीं होता, तो मुक्ति कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है।

प्रश्न—यह कोई नियम नहीं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से ही कोई पक्ष सिद्ध हो; क्योंकि शेष प्रमाण और भी तो हैं।

उत्तर—शब्द प्रमाण को आप्त वाक्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की आवश्यकता होती है। यदि आप्त वाक्य सिद्ध न हो, तो शब्द प्रमाण के लक्षणों में नहीं आ सकता है।

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनःपारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९।६२॥

प० क्र०—(विज्ञान सारथिः यः तु मनः प्रग्रहवान् नरः) वेद के ज्ञान से युक्त बुद्धि जिस मनुष्य का कोचवान है और जिस मनुष्य ने मन की वागों को बल से पकड़ा है, न तो कोचवान बुरा है और न वाग ढीली है। (सो) वह। (अध्वन) मार्ग से। (पारम्) समाप्त होने के पश्चात्। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (तत्) उस। (विष्णोः) सर्व व्यापक परमात्मा के। (परम्) सबमें सूक्ष्म आनन्द स्वरूप परमात्मा के। (पदम्) पद को अर्थात् उसको ब्रह्म अवस्था प्राप्त हो जाती है, सत्-चित् तो जीव पहले ही से है और आनन्द परमात्मा से मिल जाता है, जिससे वह आनन्द को भोगता है।

अर्थ—जो मनुष्य धारणावाली बुद्धि को अपना सारथि अर्थात् कोचवान बना लेता है, बुद्धि के विरुद्ध कोई काम ही नहीं करता, सारे, जगत् को अनित्य और आत्मा को नित्य जानता है, सदा मन को आत्म-विचार में लगाता है, जब इन्द्रियाँ विषयों की ओर बड़े से वेग जाती हैं, वह मन की वागों को बल से खींचकर उनको विषयों से रोकता है और कभी भी

मन को ढीला नहीं होने देता है, जिस इन्द्रिय के विषय में मन जाता है वहीं उसको रोककर आत्मा की ओर लगाता है, आत्मा निराकार और मन भौतिक है, इस कारण मन परमात्मा की ओर कठिनता से लगता है और जो बुद्धि से मन को वश में करके इन्द्रियों को विषयों में लगने नहीं देता, वह उस परमात्मा के आनन्द-पद को प्राप्त करता है, अर्थात् सत्-चित्त तो जीव पहले ही से है, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके सच्चिदानंद हो जाता है।

प्रश्न—क्या उस अवस्था में जीव-ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता।

उत्तर—जीव उस अवस्था में जीव ही रहता है, क्योंकि उसकी अल्पज्ञता जो स्वाभाविक गुण है, वह दूर नहीं हो सकती।

प्रश्न—क्या कारण है कि जीव की अल्पज्ञता मुक्ति में दूर नहीं होती।

उत्तर—जीव एक-देशी है और एक-देशी के गुण अनन्त किसी प्रकार नहीं हो सकते। इस कारण जैसे सूर्य भूमि से लाखों गुणा बड़ा है, तो भी एक-देशी होने से उसकी शक्ति अनन्त न होने से रात्रि हो जाती है और जिस प्रकार लोहा गरम करने से लाल हो जाता है, उसमें आग के परमाणु मालूम होने लगते हैं; परन्तु गुरुत्व जो उसका अपना गुण है, वह गुरुत्व से पृथक आग का संग होने पर भी दूर नहीं हो सकता, गरम लोहा तोलने से भारी मालूम होता है, ऐसे ही ब्रह्म संग है।

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०-६४॥

प० क्र०—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से। (परा) सूक्ष्म। (हि) निश्चय करके अर्थ में। (अर्थाः) इन्द्रियों का विषय। (अर्थेभ्यः) अनुभव से। (परम्) सूक्ष्म। (मनः) मन है अर्थात् इन्द्रियों से विषय और उससे मन सूक्ष्म है। (मनसः) मन से। (तु) तो। (परा) सूक्ष्म। (बुद्धि) विचार-शक्ति है। (बुद्धेः) बुद्धि से। (आत्म) आत्मा। (महान) महत्। (परा) सूक्ष्म है।

अर्थ—इन्द्रियों से सूक्ष्म उसके विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, प्रभृति हैं; क्योंकि इन्द्रियों की ओर चलने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता है, इस कारण जो सूक्ष्म अधिक है, उसी को जिससे वह सूक्ष्म है; परे बताया है। सदा कार्य से कारण सूक्ष्म होता है, इसलिये विषयों से सूक्ष्म मन है। मन दो प्रकार का है—एक स्वाभाविक मन, जिसको मन-शक्ति भी कहते हैं, दूसरे भौतिक मन जो मनकरण कहलाता है, वह इस मन से बुद्धि सूक्ष्म हैं और बुद्धि से सूक्ष्म जगत्।

प्रश्न—इस गणना को देखने से तो अन्तःकरण चार मालूम होते हैं, सांख्य की प्रक्रिया जो टीकाकारों ने की है, उससे तीन और सूत्रों से दो ही कारण मालूम होते हैं।

उत्तर—सांख्य-सूत्र ने तो मन और अहंकार दो अन्तःकरण स्वीकार किये और मन की तीन वृत्तियाँ अर्थात् चित्त-वृत्ति, मन-वृत्ति और बुद्धि-वृत्ति के भावार्थ से प्रकट कर दिया है और वेदान्तवालों ने चारों करण स्वीकार किये, झगड़ा कुछ नहीं।

प्रश्न—मन-शक्ति और करण दो प्रकार का है, यह शास्त्र से प्रकट नहीं, नई कल्पना है ?

उत्तर—नहीं, शास्त्र की व्यवस्था करने से दो प्रकार के मन का ज्ञान होता है। वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता महर्षि कणादि ने मन की

शक्ति का विचार किया और मन को नित्य प्रगट किया, महर्षि कपिल ने मनकरण का विचार किया और मन को अनित्य प्रकट किया, छांदोग्योपनिषद् ने भी मनकरण का विचार किया और उसने मन को अनित्य प्रगट किया, वेद ने मन-शक्ति को नित्य प्रगट किया। ऐसे मुक्ति में मन रहता है या नहीं; इस पर विचार किया; तो इस पर पाराशरजी ने मनकरण को विचारा, तो मुक्ति में करण का अभाव मालूम हुआ। उन्होंने बताया कि मुक्ति में मन नहीं रहता। महर्षि जैमनि ने मन-शक्ति को विचारा तो मालूम हुआ कि मुक्ति में मन-शक्ति रहती है। उन्होंने मुक्ति में मन का होना प्रकट किया। व्यासजी ने झगड़े का निर्णय कर दिया कि दोनों ठीक हैं। मनकरण अनित्य है इसलिये मुक्ति में नहीं। मन-शक्ति नित्य है, जो मुक्ति में रहती है। अतः शास्त्रों से दो प्रकार का मन प्रकट होता है। यदि एक ही के बारे में इतनी विपरीत सम्मतियाँ होतीं, तो सारे शास्त्र प्रमाण के पद से गिर जाते।

प्रश्न—यह क्यों न स्वीकार किया जावे कि ऋषियों की सम्मति में विरोध है, जैसा बहुत से यूरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

उत्तर—इस अवस्था में उनका ऋषि कहना व्यर्थ है,क्योंकि हिन्दी में कहावत प्रसिद्ध है कि 'सौ स्याने एक मत मूर्खा आपी आपनी अर्थात् सौ बुद्धिमानों की एक सम्मति और मूर्खों की पृथक् पृथक्। सत्य में एक, झूठ में विरोध, ऋषि वेदों के विद्वान् होते हैं,इसलिये उनकी सम्मति में विरोध नहीं होता।

प्रश्न—ऋषि भी तो मनुष्य हैं- उनकी सम्मति में भूल हो सकती है। फिर अकारण खैंच-तान क्यों की जाती है?

उत्तर—जो सदा सत्य बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है और बिना स्थिर बुद्धि के कोई ऋषि कहला नहीं सकता। यह सिद्धान्त कि मनुष्य-सम्मति में अशुद्धि का होना सम्भव है; ईश्वर का बताया है या मनुष्य ने अनुभव से कहा है; वेद ने इसका निर्णय कर दिया है कि देवता अर्थात् विद्वान् सत्य ही बोलते हैं और जो सत्य और झूठ मिलावे, वह मनुष्य कहलाता है; अतः ऋषि देव में उसके कथन में झूठ का सम्भव नहीं।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः॥ ११। ६५॥

प० क्र०—(महतः) मन से। (परम् अव्यक्तात्) परे सूक्ष्म। (अव्यक्तम्) सत, रज और तम गुणोंवली प्रकृति से। (पुरुषः) जीवात्मा और परमात्मा है। (पुरुषात्) परमात्मा से। (न) नहीं। (परम्) सूक्ष्म। (किञ्चित्) कुछ भी। (सा) वह। (काष्ठा) अन्तिम मार्ग अर्थात् मनुष्य-जीवन का उद्देश्य। (सा) वह जो सब से सूक्ष्म है। (परागतिः) ज्ञान और चलने की सीमा है, जिसके पश्चात् न तो किसी का ज्ञान होता है और न उससे आगे कहीं जा सकते हैं।

अर्थ इस अलंकार में पंचकोष प्रकाशित कर एक को त्यागकर दूसरे में जाने के लिये, जो जिससे सूक्ष्म है; उसको प्रकाशित करते हैं। ऋषि कहते हैं—इस मन से परे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति मन से नहीं जानी जाती और मन विकृति को ही जान सकता है। जिस समय सुसुप्ति की दशा में जीवात्मा कारण शरीर अर्थात् प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है, उस समय मन का काम नितान्त रुक जाता है; क्योंकि इन्द्रियों के विषयों को ही मालूम कर सकता है। इन्द्रियाँ

आकृतिवाली होने से सब वस्तु को जान सकती है; क्योंकि जब तक प्रमाण विद्यमान न हो किसी वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता। तम का विरोध होने से प्रकाश का ज्ञान होता है और सर्दी का विरोध होने से गर्मी का ज्ञान होता है निदान किसी वस्तु के ज्ञान होने में उसके विपरीति का न ज्ञान होना आवश्यक होता है। बिना विपरीत के ज्ञान हो ही नहीं सकता। वास्तव में ज्ञान बुद्धि वहीं काम कर सकती है, जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थ हों परन्तु प्रकृति साम्यावस्था है अर्थात गुणों की उस अवस्था को जब एक दूसरे के विरुद्ध न हो प्रकृति कहते हैं। अतः मन से प्रकृति परे है, परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा प्रकृति से परे है और परमात्मा से परे कोई वस्तु नहीं यह ज्ञान का अंतिम मार्ग है जिस प्रकार उत्तर के सत्य होने पर गणितज्ञ की बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिस प्रकार से योक्ति पर न्याय से जाननेवाले को विचार स्थिर हो जाता है जिस प्रकार अन्तिम उद्देश मार्ग पर पहुँचकर पथिक की चाल समाप्त हो जाती है इसी प्रकार ब्रह्म को जानकर शक्ति, जिससे वह जानने का श्रम करता है, पूर्ण होकर समाप्त हो जाता है। ब्रह्म के जानने के पश्चात की किसी वस्तु को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। सम्पूर्ण इच्छाएँ ब्रह्म-ज्ञान होने पर रुक जाती हैं। न सम्पत्ति की जरूरत होती है; क्योंकि सम्पत्ति की आनन्द के विचार से इच्छा होती है। सब आनन्द अपने-अपने मूल स्रोत पर पहुँच जाते हैं; तो न की आवश्यकता, न सन्तान कीइच्छा और न यश-प्रतिष्ठा प्रभुत्व ही अच्छा मालूम होता है; क्योंकि संसार में प्रत्येक वस्तु की इच्छा केवल आनन्द के स्वार्थ से है। यदि आनन्द विचार न हो, तो जगत में कोई इच्छा के योग्य वस्तु ही नहीं। जब सत्य-

ज्ञान हो गया, तो पता लग गया कि आनन्द इन पदार्थों में नहीं; किन्तु आनन्द-स्रोत अन्य है और जब उस आनन्द के स्रोत पर पहुँच गये, तो फिर किस वस्तु की इच्छा हो सकती है।

प्रश्न—जनकादि बहुत से राजा ज्ञानी हुए हैं उनके पास धन सन्तान शासन भी था और वह ज्ञानी भी थे।

उत्तर—धन की इच्छा तो ब्रह्म ज्ञान में विघ्न है परंतु संपति का होना तत्त्व ज्ञान में विघ्न नहीं क्योंकि धन का होना इच्छा पर निर्भर नहीं किन्तु भोग के कारण से होता है। जिसके भोग में धन है वह वैराग्यशाली होकर भी धनी रह सकता है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२ । ६६ ॥

प० क्र०—(एषः) यह परमात्मा जो सब में व्यापक हो कर नियमानुकूल चला रहा है, जिसको योगी जन मन से प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् जो शुद्ध मन से जाना जाता है। (सर्वेषु भूतेषु) सम्पूर्ण जीव तथा सम्पूर्ण तत्त्व में। (गूढ़ात्मा) व्यापक होने से। (न) नहीं। (प्रकाशते) बुद्धि से बाह्य विषयों में लगे हुए होने से प्रकट नहीं होता। (दृश्यते) देखा जाता है। (अग्रया) जिसकी बुद्धि प्रत्येक काम में दखल पाने योग्य हो और विषयों की ओर लगी हुई हो। (बुद्ध्या) ऐसी बुद्धि से। (सूक्ष्मया) सूक्ष्म हो। (सूक्ष्म दर्शिभिः) सूक्ष्म को देखने वाले पुरुषों से।

अर्थ—यह परमात्मा जो सब पदार्थों में व्यापक होकर, उनको नियमों में चला रहा है, वह किसी एक स्थान पर नहीं उसको देखने के लिये किसी स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं! सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक होते हुए, बुद्धि के बाह्य विषयों

में लगे होने से प्रकाशित नहीं होता; क्योंकि अल्पज्ञ जीवात्मा की वुद्धि एक ओर ही काम कर सकती है; जब कि वह वाहर के विषयों में लगी हुई है, तब तक वह भीतर के सूक्ष्म पदार्थ को किस प्रकार देख सकती है। जो मनुष्य यह समझते हैं कि हम परमात्मा को देख ही नहीं सकते इसलिये परमात्मा है ही नहीं, उनको बताया जावे कि परमात्मा देखा जाता है, किससे? मेधा-बुद्धि से, जो सूक्ष्म विचार के योग्य हो और वह बुद्धि सूक्ष्म पदार्थ को देखने योग्य हो। जिस प्रकार पानी में गति करते हुए कीट अथवा 'एटम' हमें दृष्टि नहीं पड़ते; परन्तु जिस समय दूरदर्शक यंत्र से देखते हैं, तो मालूम होने लगते हैं। क्या मोटी आँखों से दृष्टि न आने के कारण वह सूक्ष्म कीट जो दूरदर्शक यंत्र के द्वारा देखे जाते हैं, उनकी सत्ता से इनकार करना बुद्धि-मानी है? उत्तर स्पष्ट मिलेगा कि अतिरिक्त पागल के कौन मनुष्य उस सत्ता से इनकार कर सकता है। यद्यपि सूक्ष्म दर्शकयंत्र प्रत्येक घर में मौजूद नहीं, परन्तु जो पारदर्शी यन्त्र में लगाकर देखता है, यदि आँखों में दोष न हो, तो वह सूक्ष्म कीट अवश्य देखता है। इस कारण उस परमात्मा को सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् धारणा बुद्धि से जान सकते हैं और जिन मनुष्यों की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का आवरण पड़ा हुआ है, वह उस को नहीं जान सकते और जब तक आवरण दूर न हो, तब तक उस परदा को दूर करने का यत्न करना तो निपुण मनुष्यों का काम है, परन्तु अपनी अन्धी आँख से सूर्य की दृष्टि न आने के कारण सिवाय आँखों की चिकित्सा कराने के सूर्य को, जिसको आँखवाले लोग देख रहे हैं, कह देना कि वह नहीं है, स्वार्थी अज्ञानियों का काम है अथवा जिनकी बुद्धि पर आवरण पड़ा हुआ है, उनका काम है, अतएव जो मनुष्य परमात्मा की सत्ता

से इनकार करते हैं वह तो बुद्धि की आँखों पर विषयों की इच्छा का आवरण पड़ा होने से कोरे अंधे हैं और जो मनुष्य परमात्मा को किसी एक स्थान पर बैठा हुआ समझकर उसकी खोज में जाते हैं, वह भी परमात्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है।

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥ ६७ ॥

प० क्र०—(यच्छेत्) इन्द्रियों को विषयों से हटाकर। (वाक्) वाणी और उससे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ। (मनसि) ज्ञान इन्द्रियों में। (प्राज्ञः) बुद्धिमान्। (तत्) उनको। (यच्छेत्) रोककर स्थिर करे। (आत्मनि) अहंकार में। (ज्ञानम्) ज्ञान इन्द्रियों को। (ज्ञाने) ज्ञान करनेवाले। (आत्मनि) अपने। (महति) मन में। (यच्छेत्) रोककर स्थिर करे। (तत्) उस मन को। (यच्छेत्) सब ओर से रोककर स्थिर करे। (शांतः) शांति देनेवाले, जहाँ पर मन स्थिर हो सकता है। (परमात्मनि) परमात्मा में।

अर्थ—कर्मेन्द्रियों को विषयों की ओर से रोककर पहले ज्ञानेन्द्रियों के आधान करे अर्थात् ज्ञान के विरुद्ध कभी काम न करे। पहले देखे तब चले और पहले जाने तब करे। ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार के भीतर रोके अर्थात् जहाँ तक अपना अधिकार वहीं तक लेने का विचार करे, अपने अधिकार से पृथक वस्तु हरे लेने का विचार भी न करे। अहंकार को मन के अनुकूल काम करने पर उद्यत करे और मन को शांतिस्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध काम करने ही न दे। अतः जो बुद्धिमान्

मनुष्य इस नियम का पालन करता है, वह उद्देश्य-मार्ग तक पहुँच सकता है और जो इसके विरुद्ध काम करता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट कर लेता है। कर्म सर्वदा ज्ञान के अनुकूल हों और ज्ञान सदा अपने अधिकार के अनुकूल हो और अधिकार सदा आत्मा का खून करने वाला या मन के विरुद्ध न हो और मन सदा परमात्मा के नियम में चलने वाला हो। कभी भी मन में यह विचार उत्पन्न न हो कि संसार में कोई मनुष्य बिना अपने कर्मों के दुःख पा सकता है।

प्रश्न—श्रुति के शब्दों से तो यह विदित होता है कि वाणी को मन के आधीन रक्खे और मन को आत्मा के अन्तःकरण के ज्ञान के आधीन और अंतःकरण के ज्ञान को महत् अर्थात् बुद्धि के आधीन रक्खे और बुद्धि को शांतात्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये। तुमने उसके विरुद्ध क्यों अर्थ किया।

उत्तर—ज्ञान और बुद्धि दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, अतः ऐसा अर्थ करने में पुनरुक्ति और अन्योन्याश्रय दोष आते हैं, जो ऋषियों की पुस्तक में हो नहीं सकते। क्योंकि दोषों से पुस्तक अप्रमाणित हो जाती है, इस कारण कर्मेन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियों में और ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार में और अहंकार को मन में और मन को परमात्मा के गुणों के चिंतन में लगाने से सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अंतःकरण में रहने वाले परमात्मा को देख सकता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ । ६८ ॥

प० क्र०—(उत्तिष्ठत) उठो। (जाग्रत) जागो आलस्य त्यागो। (प्राप्य) प्राप्त करके। (वरान्) ब्रह्मविद्या के विद्वान् गुरु को। (निबोधत) जानो, ज्ञान प्राप्त करो। (क्षुरस्यधारा) क्षुरा की धार के अनुकूल तीक्ष्ण। (निशिता) तेज और अगम्य। (दुरत्याः) कठिनता से तरने योग्य जिसमें पांव कटने का भय है। (दुर्गम) दुःख से चलने। (पथः) मार्ग। (तत्) वह ब्रह्मज्ञान का मार्ग। (कवयवः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् पुरुष। (वदंति) कहते हैं।

अर्थ—ऋषि कहते हैं कि हे आलस्य निद्रा में सोने वालो! तुम्हारी यह अविद्या की निद्रा तुम्हारे लिये भयानक है, इससे चैतन्य होकर उठो और खोज करके ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाओ; क्योंकि जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, तुम अपनी वास्तविक अवस्था को नहीं जान सकते। जिनको अपनी सत्ता का ही ज्ञान न हो वह अपने हानि लाभ को नहीं समझ सकता। और जिसको हानि लाभ का ही ज्ञान न हो वह किस प्रकार दुःखों से मुक्त होकर आनंद को प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग तीक्ष्ण छुरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण है, जिस पर चलने वालों को एक-एक पग पर कट कर गिरने का भय है, जिस पर चलना बहुत ही कठिन है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी जन बताते हैं।

प्रश्न—किसी गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह मार्ग प्रत्यक्ष तो है नहीं जिसको इंद्रियों से अनुभव कर सकें, जब कि सांसारिक मार्ग भी बिना बताने वाले के नहीं मालूम हो सकता, तो इस सूक्ष्म मार्ग के वास्ते क्या किसी गुरु की आवश्यकता ही नहीं।

प्रश्न—मार्ग बताने वाले की आवश्यकता किसी अज्ञानी के लिये हो सकती है। हमने तो भूगोल तथा इतिहासादि विद्या पढ़ी है हमको गुरु की क्या जरूरत है।

उत्तर—निस्संदेह आप ने जो विद्या पढ़ी हैं, उनकी प्राप्ति को किसी गुरु की आवश्यकता नहीं। परंतु जिस प्रकार यह विद्या आपको बिना गुरु के प्राप्त नहीं हुई। आप ने गुरु से ही पढ़ी है। ऐसे ही ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिये जब तक ब्रह्म-ज्ञानी गुरु न मिले आप उसके विद्वान् नहीं हो सकते।

प्रश्न—जबकि यह मार्ग इतना कठिन है कि छुरे की धार से अधिक तीक्ष्ण है, तो हमको क्या आवश्यकता पड़ी है जो इस पर चलें।

उत्तर—चाहे आप नित्य दुःख उठाया करें, जिस प्रकार श्रमजीवी नित्य अन्न कमाता है और नित्य ही समाप्त कर देता है। चाहे किसान की भांति अधिक परिश्रम करके खेत बोवें और काटकर निवृत हो जावें। इस कठिन मार्ग को पूरा करने से या तो इकतीस नील दश खर्ब चालीस अरब वर्षों तक पूर्ण सुख भोगें, या नित्य ही कीड़े मकोड़े से भी नीच गति को प्राप्त करें।

प्रश्न—हम तो चाहते हैं कि इतने बड़े सुख को प्राप्त करें, परन्तु यह तो बहुत कठिन है।

उत्तर—वास्तव में कठिन है परंतु असम्भव तो नहीं। कठिन-काम से अज्ञानी डरा करते हैं अथवा बलहीन कादर। यदि तुम नचिकेता जैसे लड़के से भी पाठ लेकर तृष्णा और विषय के त्याग के कठिन व्रत को धारण करो सफलता आगे उद्यत है।

अशब्दमस्पर्शमरूप मव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत् । अनाद्यनन्तं महतःपरं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५।६६॥

प० क्र०—(अशब्दं) जिस आकाश का गुण शब्द है उससे वह ब्रह्म पृथक् है । (अस्पर्शं) जिस वायु का गुण स्पर्श है उससे भी वह ब्रह्म पृथक् है । (अरूपम् अव्ययम्) जिस तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप है, उससे भी वह पृथक् है। (अव्ययम्) जन्म-मरण से पृथक् । (तथा) ऐसे ही। (अरसं) जिस पानी का गुण स्वाद है, उससे भी अलग। (च) और। (यत्) जो । (अनादि) कारण से पृथक्। (अनन्तः) अमर। (महतः) सब से बड़ा होने के कारण। (परम्) अति सूक्ष्म है । (ध्रुवं) स्थिर एक रस है। (निचाय) प्राप्त करके अर्थात् ठीक-ठीक जान कर। (तम्) उसको। (मृत्यु मुखात्) मौत के मुख से । (प्रमुच्यते) छूट जाता है।

अर्थ—जो परमात्मा न आकाश है, जिसके गुण शब्द को कानों से सुन सकें। न वायु है, जिसके गुण स्पर्श को त्वचा से छू सकें। न आग है, जिसके गुण रूप को आंखों से देख सकें। वह नाश से पृथक्-स्वाद-शक्ति जिससे जानने में अयोग्य है। जो नित्य है जिसके अनुभव करने में नासिका भी असमर्थ है, क्योंकि वह गंध वाली पृथिवी से भी परे है। वह अनादि है, वह अनन्त है, वह महान् है, अति सूक्ष्म है, वह सर्वदा एक रस है, वह निर्गति है। उसको जानकर ज्ञानी पुरुष मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म ज्ञान से मृत्यु मुख से कैसे छूट जाता है ?

उत्तर—जब तक अविद्या रहती है, तब तक अपने को शरीर जानता है और मरण शरीर का धर्म है, इस कारण अपने को मृत्यु का भोजन समझता है। जब नियमानुकूल ब्रह्मज्ञान से पहले आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तो उस की यह अविद्या कि "मैं शरीर हूँ," दूर हो जाती है, और जब शरीर का सम्बन्ध छूट कर आत्मज्ञान हो गया, तब आत्मा को "अमृत" पाया। जब "मैं आत्मा" और "अमृत हूँ," तो मुझे मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥१६॥
॥७०॥

प० क्र०—(नचिकेतम्) नचिकेता से प्राप्त हुआ। (उपाख्यानं) गुरु चेले की बातचीत की रीति पर। (मृत्यु प्रोक्त) मृत्यु नामी ऋषि का कथन। (सनातनम्) जो सनातन से सुनते आये हों। (उक्त्वा) कहने से। (श्रुत्वा) सुनने से। (च) और। (मेधावी) बुद्धिमान् लोग। (ब्रह्मलोक) ब्रह्मदर्शन के आनन्द में (महीयते) प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

अर्थ—जो यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर की विधि पर वर्णन किया हुआ, नचिकेता के प्रति यमाचार्य का उपदेश है। जो क्रम से प्रत्येक ऋषि से प्रकाशित होने के कारण सनातन है। जो बुद्धिमान् इसको कथा की रीति पर कहेगा अथवा सुनेगा वह ब्रह्म-दर्श की महिमा को प्राप्त कर लेगा अर्थात् उसको ब्रह्मज्ञान हो जावेगा।

प्रश्न—इस कथा के सुनने से ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो और साधनों की क्या आवश्यकता है।

उत्तर—श्रुति में पहले ही मेधावी-बुद्धि का शब्द दिया हुआ है। मेधावी-बुद्धि का पुरुष जो इस कथा को कहे या सुनेगा। तो उसके संस्कारों के उत्तम होने से, उसके अन्तःकरण में इस बात का निश्चय हो जावेगा। क्योंकि विना ज्ञान और मन के मल विक्षेप दोष दूर हुए मेधा बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जबमेधा बुद्धि प्राप्त हुई तो उसके सीधे अर्थ यह हैं कि यदि कभी भी थी तो केवल विज्ञानी की थी, जिसको इस कथा ने पूरा कर दिया।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७। ७१॥

प० क्र०—(यः) जो ज्ञानी मनुष्य। (इमम्) यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर। (परमम्) जो बहुत ही सूक्ष्म परमात्मा के सम्बन्ध में है। (गुह्यं) जो मूर्ख से गुप्त रखने योग्य केवल अधिकारी ही को गुप्त उपदेश करने योग्य हैं। (श्रावयेद्) इसके मूल तत्व को समझाकर सुनावे अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करे। (ब्रह्मसंसदि) जिस समय ब्रह्म-ज्ञानियों की सभा हो। (प्रयतः) शरीर मन इन्द्रियों को शुद्ध करके और एक ओर लगाकर। (श्राद्धकाले वा) जिस समय विद्वान श्रद्धा-पूर्वक सेवा के लिये बुलाए गए हों। (तत्) वह सुनना सुनाना (अनन्त्याय) अनन्त फल। अर्थात् ब्रह्म-दर्शन को प्राप्त करने वाला। (कल्पते) होता है स्वीकार किया जाता है।

अर्थ—जो पूर्ण विद्वान आचार्य या गुरु इस परम पवित्र ब्रह्म-विद्या की बात चीत को जो अज्ञानियों से सर्वदा गुप्त

रखने योग्य है। केवल उन मनुष्यों को जो इसके अधिकारी हैं, वैदिक समाजमें जहां पर मूर्ख न हों, केवल ब्रह्म-विद्या के अधिकारियों की सभा हो अथवा पूर्ण विद्वान् लोग श्रद्ध के लिए बुलाए गए हों। शुद्ध होकर मन और इन्द्रियों को वश में करके सुनावे। तो उस सुनाने का फल यह होता है कि वह अनन्त ब्रह्म के दर्शन करके उसके आनन्द को प्राप्त करते हैं। पुनर्वार कहना केवल वल्ली के समाप्त होने का चिन्ह है।

प्रश्न—मूर्खों से गुप्त रखना क्यों कहा?

उत्तर—मूर्ख इसके तत्त्व को तो समझ ही नहीं सकते जिससे यह ज्ञान उनके लिये लाभदायक हो। उनको उपदेश करने से ऐसा ही परिणाम हो, जैसाकि आजकल वेदांत की शिक्षा ने उत्पन्न कर दिया है कि उनको ब्रह्म-ज्ञान का कुछ पता नहीं लगा। केवल धर्म के व्यवहार विगाड़ दिये, कौड़ी पैसे मांगते हुए ब्रह्म बन गये। गृहस्थियों के लिये तो जगत मिथ्या का उपदेश आरंभ हो गया। और आप उदासी वैरागी, सन्यासी कहलाते हुये भूमि (स्थावर सम्पत्ति) क्रय करने लगे।

प्रश्न—वैदिक-समाज या ब्राह्मण सभा में सुनाने की क्यों विधि बनाई।

उत्तर—यदि मूर्खों में सुनाने का विधान बताते जो इच्छा होती। आजकल के कनफुकवे गुरुओं की भांति उपदेश उपदेश कर देते। परन्तु जब विद्वानों का समाज में उपदेश करना है, तो किसी नादान का साहस नहीं हो सकता कि वहाँ उपदेश करे। जिस प्रकार गाँव में खोटा रुपया तो प्रायः चल

जाता है, परन्तु सराफ के सामने खोटा रुपया ले जाते हुए घबराते हैं, क्योंकि चलना तो कठिन, पकड़े जाना सरल दृष्टि आता है। दूसरे यदि कोई बात समझने समझाने में रह गई वो उस समय स्पष्ट हो जाती है।

इति तृतीया वल्ली।



अथ चतुर्थ वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मा नमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१।७२॥

प० क्र०—(पराञ्च) दूसरे बाहर के विषयों की ओर। (खानि) इन्द्रियाँ नाक, कान, आँख आदि। (व्यतृणत्) फैलाता है। (स्वयम्भूः) यह नित्य रहने वाला जीव, जो अपने आप है किसी ने उत्पन्न नहीं किया। (तस्मात्) इस कारण से। (पराङ्) दूसरों को। (पश्यति) देखता है। (न) नहीं। (अन्तरात्मा) आत्मा में। (कश्चित्) कोई मुख्य आत्मा। (धीरः) योगी। (प्रत्यगात्मानम्) जीवात्मा में व्यापक परमात्मा को। (ऐक्षत्) देखता है। (आवृतचक्षुः) ज्ञान-इन्द्रियों को बाहर के विषयों से बन्द करके। (अमृतत्वम्) मुक्ति पद को। (इच्छन्) चाहता हुआ।

अर्थ—इन्द्रियाँ ईश्वरीय नाम से बाहर की ओर देखने वाली बनी हैं। अतः जागने की अवस्था में जब जीवात्मा इन्द्रियों से काम लेता है तो इन्द्रियों को बाहर की ओर फैलाता है जिससे बाहर के विषयों का ज्ञान हो, क्योंकि इन्द्रियों से

जिनका सम्बन्ध हो, उन्हीं का ज्ञान हो सकता। आत्मा के भीतर यह इन्द्रियाँ जा ही नहीं सकतीं, इस कारण आत्मा के भीतर का ज्ञान जागने की दशा में हो नहीं सकता। अब बाहर केवल प्रकृति के विकारों की उपासना होती है। जिससे प्रकृति का गुण परतन्त्रता ही जीव में आता है। परतन्त्रता दुःख है, अतः जागने की दशा में जीव को दुःख ही अनुभव होता है। ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, प्रभृति प्रत्येक दोष जागने की अवस्था में ही होता है। इस कारण इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध ही दुःख का कारण है और जब इन्द्रियों का विषयों से निद्रावस्था में सम्बन्ध अलग हो जाता है तो सम्पूर्ण दुःख भाग जाते हैं।

सोने की दशा में न ईर्षा होती है, न द्वेष काम होता, न क्रोध, न लोभ होता है, न मोह, यह सब दोष जागने की दशा में इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होते हैं। जब कोई ज्ञानी पुरुष इस विचार को ध्यान में रख कर कि इन्द्रियों से जो कुछ अनुभव होता है सब नाश वाला है। इन्द्रियों को बन्द करके भीतर रहने वाले अमृतात्मा को देखता है अर्थात् समाधि करके परमात्मा को जानता है।

प्रश्न—क्या कारण है, भीतर ही परमात्मा को देखें, जब कि सर्वव्यापक होने से परमात्मा बाहर भी है?

उत्तर—बाहर परमात्मा प्रकृति में व्यापक है। प्रकृति स्थूल है और परमात्मा सूक्ष्म है, जब कि स्थूल में सूक्ष्म प्रविष्ट हो, तो स्थूल का ही ज्ञान होगा; जैसे तिलों में तेल है। देखने वाले को तिल मालूम होंगे, तेल नहीं। परन्तु जीवात्मा में प्रकृति जा नहीं सकती, क्यों कि वह जीव से स्थूल है। जीव के भीतर केवल ब्रह्म रह सकते हैं, जो जीव से सूक्ष्म हैं। अतः जब

आत्मा के अन्दर देखते हैं, तब ब्रह्म का ज्ञान होता है, जैसा कि शुपुप्ति और समाधि और मुक्ति के समय होता है।

प्रश्न—मुक्ति का प्रमाण क्या है ? बहुत से लोग तो मानते हैं कि मुक्ति कोई वस्तु नहीं।

उत्तर—जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब अर्थात् छाया हो, उस वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। मुक्ति तो जिस किसी की होगी उसी की होगी। समाधि योग का जो कोई मेहनत सहन करेगा, उसको मालूम होगी। परन्तु सुपुप्ति, जो मुक्ति की छाया है, परमात्मा प्रत्येक जीव को चाहे वह कैसा ही पापी क्यों न हो, नित्य दिखाकर उपदेश करते हैं कि हे मूर्ख ! जब विषयों से सम्बन्ध करेगा, तब दुख होगा; जैसा कि जागने की दशा में। और जब तुम विषयों से अलग रहोगे, तब सब दुःख भाग जावेंगे, जैसा कि सोने की दशा में।

प्रश्न—फिर लोग क्यों विषयों की इच्छा करते हैं ?

उत्तर—बुरी संगति और ज्ञान की कमी और आत्मिक बल के न होने से परमात्मा का निश्चय पूर्वक ज्ञान नहीं होता। और प्राकृतिक विषयों को प्रत्यक्ष देख कर उसमें मनुष्य फंस जाते हैं, जैसा कि अगली श्रुति में दिखलाते हैं।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा-ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२।७१॥

प० क्र०—(पराचः) अपने शरीर के बाहर की। (कामान्) सुन्दर स्त्रियों, धन और सवारी आदि विषयों की कामना को। (अनयन्ति) चाहते हैं। (बालाः) अज्ञानी

लोग। (ते) वह लोग। (मृत्योर्यन्ति) वह मृत्यु को प्राप्त करते अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में फँसते रहते हैं। (विततस्य) प्रत्येक जीव के अन्दर फैली हुई। (पाशम्) बन्धन को। (अथ) इसलिए (धीराः) धीर लोग। (अमृतत्वं) मोक्ष पद को। (विदित्वा) जानकार। (ध्रुवम्) स्थिर रहने वाले विचार को। (अध्रुवेषु)। स्थिर न रहने वाले शरीर में। (इह) इस शरीर में या संसार में। (न) नहीं। (प्रार्थयन्ते) इच्छा रखते अर्थात् माँगते।

अर्थ—शरीर से बाहर रहने वाले पदार्थों की इच्छा, अज्ञानी लोग करते हैं। क्योंकि उस का परिणाम सुख नहीं; किन्तु उस से दुःख ही उत्पन्न होता है। क्योंकि शरीर से बाहर जो कुछ दीखता है, यह सब प्राकृतिक पदार्थ हैं। प्रकृति में ज्ञान और आनन्द दोनों नहीं। बुद्धिमान् इच्छा उस वस्तु की करता है जो लाभदायक हो। लाभदायक का लक्षण ही यह है कि या तो दोष को दूर करने वाली हो या न्यूनता को पूरा करने वाली हो। जीवात्मा में अल्पज्ञान का दोष और आनन्द की न्यूनता है। प्रकृति ज्ञान से शून्य है, इस कारण अल्पविद्या के दोष को दूर नहीं कर सकती। प्रकृति में आनन्द भी नहीं, इस कारण आनन्द की न्यूनता को भी पूरा नहीं कर सकती, जो दोष को दूर न कर सके और न्यूनता को पूरा न कर सके वह किसी दशा में लाभदायक नहीं हो सकती। और जो हानिकारक की इच्छा करे, उस के अज्ञानी होने में क्या संदेह है? इसका परिणाम यह है कि प्रकृति-उपासक लोग बार-बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं क्योंकि प्राकृतिक सम्बन्ध मृत्यु, रज्जु इस प्रकार फैली हुई है, जैसे तिलों में तेल। इस कारण जो मनुष्य धारणा बुद्धि रखते और जिन्होंने मृत्यु और अमृत में ज्ञान प्राप्त कर

लिया है, जो इस बात को जान गये हैं कि यह संसार नाश वाला है, प्रत्येक वस्तु संसार में पैदा और नाश होती है। और जो स्वयं नाश होने वाला है, तो उसका प्रत्येक पदार्थ नाश वाला हुआ। अतः उससे पृथक् कोई भी नित्य अर्थात् सदा स्थिर नहीं रह सकती। क्योंकि कार्यमात्र अर्थात् सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाली वस्तु नाश वाली हैं, परन्तु कारण अवश्य नित्य है। जिस का कारण उत्पन्न होने वाला हो, वह उत्पन्न होने वाला कारण किसी प्रकार भी नाश और उत्पत्ति से पृथक् नहीं हो सकता। इस कारण संसार में किसी वस्तु को नित्य न देखकर इस की वस्तुओं से अपने आपको नित्य होने की इच्छा नहीं करते।

प्रश्न—आत्मा तो प्रत्येक दशा में नित्य है, यह वह प्रकृति की इच्छा करे, तो भी उसका नाश नहीं हो सकता। यदि आत्मा को जान ले तो भी नाश नहीं हो सकता।

उत्तर—जब आत्मा प्रकृति की उपासना करता है, तो उस समय अपने आप को शरीर समझता है, जिससे सदा मृत्यु के भय में रहकर दुःख पाता है। और शरीर नाश वाला है, इसकी रक्षार्थ निशि-दिन दास की भाँति लगा रहता है, जिससे उसको स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त नहीं होता। और जब अपने को आत्मा अनुभव करता है तो मृत्यु के भय से अभय हो जाता है। उस समय उस को दुःख-मृत्यु का बन्धन घबड़ाहट में नहीं डालता। वह जानता है मृत्यु से रहित अमृत आत्मा हूँ। यह शरीर किराया गाड़ी है, इस के नाश होने से मेरी क्या हानि है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वै तत्
॥ ३ । ७४ ॥

प० क्र०—(येन) जिससे। (रूपम्) रूप को जो आँखों से देखा जाता है। (रसम्) स्वाद जो रसना-इन्द्रियों से जाना जाता है। (गन्धम्) गन्ध को जो नाक से अनुभव होता है। (शब्दान्) शब्द को जो कान से सुना जाता है। (स्पर्शान्) स्पर्श जो त्वचा से जाना जाता है। (मैथुनान्) मैथुन को। (एतत्) इसी से। (एव) भी। (विजानाति) जानता है। (किम्) क्या। (अत्र) इस संसार में। (परिशिष्यते) शेष रहता है। (एतत्) यह आत्मा है। (वै) निश्चय करके। (तत्) वह है।

अर्थ—जिसके द्वारा रूप, रस, स्वाद, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन आदि को जानता है, जिस प्रकार आँख रूप को देखने का शस्त्र है। आँख खुलने से ही पदार्थ दीखते हैं। आँखें बन्द होने से पदार्थ नहीं दीखते, परन्तु आँख अपनी शक्ति से नहीं देखती। यदि सूर्य का प्रकाश न हो, तो आँख खुली होने पर भी नहीं देख सकती। इस कारण देखने का सबब केवल आँख ही नहीं; किन्तु सूर्य भी है। यदि आँख और सूर्य दोनों हों, परन्तु मन का सम्बन्ध आँख से न हो, तो रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसा कि प्रायः देखते हैं। कोई कहता है कि आपने देखा, उत्तर मिलता है कि मेरा ध्यान नहीं था। अतः आँख और सूर्य प्रकाशक नहीं, किन्तु मन का सम्बन्ध प्रकाशक है। यदि मन से जीवात्मा का सम्बन्ध न रहे, तो मन एक जड़ वस्तु है, उससे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि शस्त्र है, जैसे सूक्ष्म दर्शक यंत्र द्वारा वस्तुओं को देख सकते हैं, लघु से लघु दृष्टि पड़ जाती हैं, परन्तु वह स्वयम् कुछ नहीं देख सकती। यही दशा मन की है। अतः मन भी प्रकाशक नहीं, किन्तु जानने वाला जीवात्मा है। परन्तु जीवात्मा बिना मनसादि

शस्त्रों के किसी बाह्य पदार्थ रूपादि को नहीं जान सकता। जिस प्रकार चित्रकार चित्र खींचता है, यदि साधन आदि शस्त्र उपस्थित न हों, तो चित्रकार कुछ नहीं कर सकता। ऐसे ही जीवात्मा बिना शरीर के साधन मन और इन्द्रियों के शीशों के, किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं ले सकता। इस लिये चित्रकार का काम साधन आदि शस्त्र बनाने वाले के आधीन है। अतः जिसने यह शरीर का आलय और मन और इन्द्रियों के शीशा बना कर जीवात्मा को दिये हैं, वही परमात्मा इन रूप आदि के जानने का कारण है। जब उस परमात्मा को जीवात्मा जान जावे, तो फिर और कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रहती। अतएव जानने का कारण वह परमात्मा ही है। इसके जानने में सब का ज्ञान हो सकता है। उसके बिना जाने किसी वस्तु का तत्त्व नहीं जाना जाता।

प्रश्न—क्या नास्तिक लोग आँख से नहीं देख सकते ?

उत्तर—देख तो अवश्य सकते हैं, क्योंकि परमात्मा ने उनको शस्त्र दिए हुए हैं, परन्तु सत्य नहीं जान सकते। यथा एक नास्तिक की आँख में कमल रोग है, अब वह आंख को तो देख नहीं सकता, श्वेत पदार्थ उसको पीले दृष्टि पड़ते हैं। परंतु सब पदार्थ वास्तव में श्वेत हैं, आँख पीला दिखलाती है। क्या यह सत्य ज्ञान है।

प्रश्न—अपनी आँख को वह शीशे द्वारा देख लेगा। जब आँख पीली दृष्टि पड़ेगी, तो उसको अपने बीमार होने का ज्ञान हो जावेगा और सब वस्तुएँ पीली मालूम होने से वह विचार करेगा कि सब वस्तुएँ तो पीली हो नहीं सकतीं, अतः मेरी आँख में ही बीमारी है।

उत्तर—आंख से शीशा भी पीला ही दृष्टि पड़ेगा और जिसकी आँख में पीली ऐनक लगी हो, उसको कुल वस्तुएँ पीली ही देख पड़ती हैं। उसका निर्णय किस प्रकार होगा कि आंख के पीली होने से कुल पदार्थ पीले देख पड़ते हैं या ऐनक के पीला होने या पदार्थों के पीला होने से। यदि कहो ऐनक के उतारने से सब वस्तुएँ पीली देख पड़ेंगीं तो विचार हो जावेगा कि उनके पीला देखने का कारण ऐनक का पीला होना नहीं। उस समय वस्तुओं का पीला होना और आँख का पीला होना, नाशक का कारण होगा। वस्तुएँ स्वस्वरूप दशा में दृष्टि नहीं आसकती, क्योंकि आँख में दोष है। अतः नास्तिक किसी दशा में भी सत्यज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। यह पक्ष बहुत लम्बा है, इस जगह इस पर विचार नहीं किया जा सकता।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। ४। ७५॥

प० क्र०—(स्वप्नान्तं) सोने के अंत में। (जागरितान्तं) जागने के अंत में। (च) और। (उभौ) दोनों में। (येन) जिसके कारण से। (अनुपश्यति) देखता है। (महांतम्) सबसे बड़ा और सूक्ष्म (विभुम्) सर्वव्यापक। (आत्मानम्) आत्मा को। (मत्वा) जानकर। (धीरो) धीर पुरुष। (न) नहीं। (शोचति) शोच में पड़ता।

अर्थ—सोने के अंत में अर्थात् प्रातःकाल और जागने के अंत में अर्थात् सांयङ्काल और दोनों दशाओं में जो परमात्मा

को देखते हैं। जो ज्ञानी पुरुष दोनों काल संध्या में परमात्मा का ध्यान करते हैं, वह सब में सूक्ष्म अर्थात् गुणों से सूक्ष्म जिसका अंत पाने में बुद्धि भी रह जाती है। बुद्धि ही सबसे अधिक जानने की शक्ति रखती है, परंतु परमात्मा के जानने में बुद्धि की शक्ति का अंत हो जाता है। क्योंकि सीमा दो प्रकार से होती है। एक देश; दूसरे काल से। वह व्यापक होने के कारण देश की सीमा से बाहर है। देश प्रकृति के रजोगुण का नाम है वह नित्य होने से काल की सीमा से भी बाहर है। काल भी प्रकृति के रजोगुण का नाम है। जब प्रकृति ही उसके एक भाग में है, तो देश काल जो प्रकृति एक भाग हैं, उसको किस प्रकार घेर सकते हैं। और जो न घेरे तो वह सीमा किस प्रकार कर सकता है। जो लोग उस परमात्मा को जान जाते हैं। उनको कभी सोच नहीं हो सकता।

प्रश्न—परमात्मा के जानने से शोच किस प्रकार भाग सकता है?

उत्तर—जो लोग परमात्मा को जानते हैं उनको पूर्ण निश्चय होता है कि अतिरिक्त परमात्मा के मृत्यु किसी अन्य के हाथ में नहीं और न उसके नियम के विरुद्ध कोई कष्ट ही दे सकता है और परमात्मा न्याय और दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। न्याय और दया दोनों अच्छे हैं, न न्याय बुरा है न दया। अतः परमात्मा जो कुछ करते हैं अच्छा करते हैं। जो अच्छी बात हो उस में किसी को दुःख और शोच हो ही नहीं सकता। दुःख और शोच बुरी बातों में होता है। जब सदा कोई बुरा काम करता है, जो कुछ हमने पाप कर्म किये हैं उसके बदले भी हम को दुख होता है जिससे हमारे

पापों का ऋण कम होना है। गो हम दुःख से घबरावें परन्तु वास्तव में वह हमारे लिये अत्यन्त लाभकारी है। क्योंकि हमारे ही कर्मों का फल है, जिससे पापों का ऋण कम होता है।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै-तत् ॥५।७६॥

प० क्र०—(य) जो मनुष्य अथवा ज्ञानी पुरुष। (मध्वदं) कर्म फल भोगने वाले जीवात्मा को। (वेद) जानता है। (आत्मानम्) आत्मा को जो जीव में व्यापक है। (अंतिकात्) जीव के भीतर रहने और चैतन्य होने से जो उसके पास है। (ईशाने) स्वामी है। (भूत) भूत काल। (भव्यस्य) भविष्यत् काल। (न) नहीं। (ततः) उस ज्ञान से। (विजगुप्सते) निन्दा को प्राप्त होता। (एतद्वै) निश्चय पूर्वक। (तत्) उस ज्ञान का फल है।

अर्थ—जो मनुष्य इस कर्म के फल पाने वाले जीवात्मा को जानता है। जगत् की उत्पत्ति से न तो परमात्मा को कोई लाभ हो सकता है और न प्रकृति को। केवल जगत् में कर्म का फल भोगने वाला जीवात्मा है। उस कर्म-फल का देने वाला परमात्मा जीव में व्यापक है, जो चैतन्य होने से जीव का तटस्थ और भूत भविष्यत् का स्वामी है। परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करके फिर किसी जीव को शोच करना नहीं पड़ता। यही इस ज्ञान का फल है जो हे नचिकेता! फिर प्रकाशित किया गया है कि ज्ञानी को कभी पछताना नहीं पड़ता

यः पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६।७८॥

प० क्र० (यः) जो ज्ञान प्रयत्न-शक्ति वाला जीवात्मा । (पूर्वं) सृष्टि के आदि में । (तपसः) अग्नि मे । (जातम्) उत्पन्न हुआ । (अद्भ्यः) प्राणों से । (पूर्व) पहले । (अजायत) प्रकाशित हुआ । (गुहां) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर । (तिष्ठन्तं) रहने वाले के साथ । (यः) जो । (भूतेभिः) पञ्च भूत के साथ व्यापक । (व्यपश्यत) उसी को अपने आत्मा में ध्यान करता है । (एतद्वै) निश्चय पूर्वक । (तत्) उस ज्ञान का फल है ।

अर्थ—जो जीवात्मा सृष्टि के आदि में प्राण को जो तेज से उत्पन्न होता है, अपने साथ लेकर प्रकट होता है । क्योंकि बिना प्राण जीवात्मा अपनी शक्ति को प्रकाशित नहीं कर सकता । जीव का लक्षण ही यह है । परन्तु उस ज्ञान से काम लेने के लिये शस्त्रों की आवश्यकता है । जिस परमात्मा ने जीवात्मा को अन्तःकरण आदि शस्त्र दिये हैं, जब उस अन्तः-करण अर्थात् बुद्धि के साथ जो प्रत्येक भूत में व्यापक रूप से रहने वाले को जब देखता है तब उसकी ऐसी दशा हो जाती है कि वह उस फल को जिन का उपर्युक्त श्रुतियों में वर्णन आया है, पा लेता है ।

प्रश्न—श्रुति में तो अद्भ्यः शब्द, जिस के अर्थ जल से हैं । तुमने इसके अर्थ प्राण से कैसे किये ?

उत्तर—शतपथादि पुस्तकों से प्रकट है कि जल से प्राण उत्पन्न होते हैं और प्राणों से जीवात्मा की शक्ति का प्रकाश होता है ।

प्रश्न—तप अर्थात् अग्नि से प्राण पैदा होते हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित किया है, कि अग्नि से जल पैदा होता है। देखो तैत्तिरीयोपनिषद् उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि और अग्नि से जल आदि आदि।

प्रश्न—आत्मा से आकाश कैसे उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि वह नित्य है।

उत्तर आकाश के दो लक्षण हैं, एक निकलना और प्रवेश होना, जिसके सहारे हो सके। दूसरे शून्य जगत् का होना। यह दोनों बिना आत्मा के प्रकृति को गति देने के योग्य हो ही नहीं सकते। इन लक्षणों की उत्पत्ति के विचार से आकाश-उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वैतत्॥ ७। ७८॥

प० क्र०—(या) जो। (प्राणेन) प्राणों को रोकने अर्थात् प्राणायाम से। (सम्भवति) उत्पन्न होती है। (अदितिः) स्थिर रहने वाली मा के अनुकूल सुख की इच्छा रखने वाली। (देवतामयी) ब्रह्म के जानने योग्य सूक्ष्म। (गुहाम्) उस अन्तःकरण अर्थात् मन में। (प्रविश्य) प्रवेश करके। (तिष्ठन्तीम्) स्थिर मेधा-बुद्धि को। (या) जो धारणा बुद्धि। (भूतेभिः) प्राकृतिक शरीर के साथ है। (व्यजायत) उत्पन्न होती है। (एतद्वै) निश्चय पूर्वक। (तत्) उस ब्रह्म को जान सकता है।

अर्थ—जो बुद्धि योग के यमादि अङ्गों से ठीक-ठीक सूक्ष्म होकर, सूक्ष्म ज्ञान को उत्पन्न करने वाली होती है। उस अन्तः करण में रहने वाली बुद्धि से ही जो प्रकृति शरीर में आकर उत्पन्न होती है, ब्रह्म को जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या बिना प्राकृतिक शरीर के ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब लेने के लिये चित्रकार का साधन बनाया जाता है, उस कैमरा में वही वस्तु होती है जिसका चित्र उतारने में आवश्यकता होती है। कैमरा के बिना चित्र नहीं खींच सकते, शीशा के बिना आंख और उसमें रहने वाले अञ्जन को नहीं देख सकते। इसी प्रकार प्राकृतिक शरीर के बिना ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता है।

प्रश्न—तो जो लोग शरीर से अचित्य होते हैं, वह बड़ी भूल करते हैं।

उत्तर—शरीर किराये की गाड़ी है; मार्ग पर जाने के लिये गाड़ी अवश्य होनी चाहिये। और मार्ग पर पहुँचाने की दशा में गाड़ी का छोड़ना भी अवश्य है। रही गाड़ी की चिंता, वह गाड़ी के स्वामी को होनी चाहिए। किरायेदार को मार्ग पर पहुंचने का विचार होना चाहिये। इस कारण जो मनुष्य बुद्धिमान् हैं, वह गाड़ी से निश्चिन्त होकर आत्मा की चिंता करते हैं।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्योजागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत् ॥ ८।७६ ॥

पं० क्र०—(अरण्योः) दो लकड़ियों के मध्य। (निहितः) भीतर रहनेवाली यथा रगड़ने में। (जातवेदा) अग्नि। (गर्भ-इव) गर्भ की भांति। (सुभृतः) भली प्रकार धारण किया हुआ। (गर्भिणीभिः) गर्भिणी के द्वारा। (दिवे) दिवे नित्य। (ईड्यः) प्रशंसा करने योग्य है। (जागृवद्भिः) जिनकी बुद्धि सतोगुणी दशा में है। (हविष्मद्भिः) जो ज्ञानी ईश्वर के ज्ञान ध्यान में लगे हुए हैं। (मनुष्यभिः) मनुष्यों से। (अग्निः) अग्नि निकलता है। (एतद्वैतत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है।

अर्थ—जिस प्रकार दो लड़कियों को नीचे ऊपर रख कर रगड़ने से अग्नि निकल आती है। यद्यपि रगड़ने से पहले लड़कियों में आग प्रतीत नहीं होती; जैसे गर्भिणी स्त्री से बालक पैदा होता है, यद्यपि उत्पन्न होने से पहले वह दृष्टि नहीं आता। इसी प्रकार जो सतोगुणी मनुष्य, जिनकी बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध है, जिनके कर्म उन्नति की ओर ले जाते हैं। उनके नित्यप्रति परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से उनको ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा चाटुकार है, जो स्तुति करने से प्रसन्न होता है?

उत्तर—स्तुति के अर्थ चाटुकारिता करना नहीं, किन्तु स्तुति के अर्थ उसके ठीक-ठीक गुणों को जानकर कहना है। जिसके गुणों को हम जानकर कहते हैं, उससे मन की प्रीति होती है।

प्रश्न—हम प्रार्थना क्यों करें, क्या जिस वस्तु की हम प्रार्थना करेंगे, वह हम को दे देंगे? यदि नहीं देंगे, तो प्रार्थना व्यर्थ है।

उत्तर—प्रार्थना के तीन फल हैं, अभिमान का दूर होना, दूसरे इष्ट का ज्ञान अर्थात् लाभकारी का ज्ञान, तीसरे लाभकारी वस्तु जिससे प्राप्त होती हैं, उसका ज्ञान। जब तीनों वस्तु प्राप्त होती हैं तो प्रार्थना व्यर्थ क्यों है?

प्रश्न—प्रार्थना करने से अभिमान किस प्रकार दूर होता होता है?

उत्तर—प्रार्थना का अर्थ मांगना है। कोई मनुष्य जब तक उसको प्राप्त करने का निश्चय न हो, मांगता नहीं। जब उसको यह निश्चय हो जावे कि मैं अपनी शक्ति से प्राप्त नहीं कर सकता, तब ही माँगता है। जब अपनी शक्ति की न्यूनता का ज्ञान होगया, तो अभिमान कहाँ रहा।

प्रश्न—उपासना का क्या फल है?

उत्तर—जिसके गुणों को प्राप्त करना हो, उसकी उपासना की जाती है। यथा, सर्दी के लिये पानी की उपासना; गरमी के लिये आग की उपासना की जाती है। उपासना के अर्थ ही पास बैठना है। जिसके पास बैठेंगे, उसके गुण अवश्य ही आ जावेंगे। इस कारण आनन्द गुण के ब्रह्म में रहने से आनन्द की इच्छा से ब्रह्म की उपासना की जाती है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै ॥ ९ ॥ ८० ॥

प० क्र०—(यत्) जिसके प्रबन्ध से। (च) और। (उदेति) उदय होता है। (सूर्य) सूर्य। (अस्त) अस्त। (यत्र) जिसके नियम में। (च) और। (गच्छति) जाता

है। (तम्) उस परमात्मा को। (देवाः) विद्वान् या सूर्यादि प्रकाश देनेवाले। (सर्वे) सब कुछ। (अर्पिताः) उससे प्राप्त करते हैं अर्थात् जिसने सब कुछ शक्ति दी है। (तदु) उसमें। (न) नहीं। (अत्येति) उसकी आज्ञा के विरुद्ध काम कर सकता है। (कश्चन) कोई सूर्यादि देवता या मनुष्य। (एतद्वैतत्) निश्चय करके उसकी शक्ति यही है।

अर्थ—जिस परमात्मा के नियम से सूर्य उदय होता है, अर्थात् जिस देश में, जिस समय, जिस तारीख को उदय होने का नियम नियत है, उसी समय सूर्य उदय होगा। जिस समय अस्त होने का नियम है, उसी समय अस्त होगा। उस परमात्मा ने ही इन सम्पूर्ण देवताओं को शक्ति दी है, उसी की शक्ति से यह काम करते हैं। किसी ज्ञानी मनुष्य में या देवता में यह शक्ति नहीं कि वह परमात्मा के नियम को तोड़ सके। अतः यही उसकी शक्ति है कि कोई भी उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। अपने को पापी तो बना सकते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा के विरुद्ध कर सकते हैं, परन्तु नियम के विरुद्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न—बहुत से साधु-महात्मा, वलि आदि ऐसे काम करते हैं। जो परमेश्वर के नियम के विरुद्ध मालूम होते हैं, जिन को "करामात" के नाम से पुकारते हैं। जैसे मूसा की लाठी सांप बन गई, मुहम्मद साहब ने चांद के टुकड़े कर दिये आदि-आदि।

उत्तर—परमात्मा के नियम के विरुद्ध कोई नहीं कर सकता। करामात दो प्रकार की बातों को लेकर बन जाती है। एक विद्या की बातें, जिनको साधारण लोग तो जानते नहीं,

अब कोई विद्वान् साधु, ब्राह्मण कर देता है, तो उस को करामाती कहने लगते हैं। प्राचीन समय में जब दियासलाई का चलन नहीं था, प्रायः ब्राह्मण फुस्फुस के चावल बना रखते थे। जब आग की जरूरत पड़ती, लकड़ियों में मारुती-गति से फासफोरस जल उठता। मूर्ख उन को करामाती कहने लगते। दूसरे गप्प जो कि अपने आचार्य्य की प्रतिष्ठा कराने के लिये चेला उड़ाते थे।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०।८१॥

प० क्र०—(यत्) जो ब्रह्म। (एव) ही। (इह) इस जन्म में। (तत्) वही ब्रह्म। (अमुत्र) अगले जन्म में प्रकाश करने वाला। (यत्) जो। (अमुत्र) अगले जन्म में होगा। (तत्) वही। (अनु) अनुकूल। (इह) इस जन्म में। (मृत्यो) मृत्यु से। (सः) वह मनुष्य। (मृत्युम) मृत्युको। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (यः) जो। (इह) आत्मा में। (नाना) एक से अधिक। (एव) ही। (पश्यति) देखता है।

अर्थ—जैसा परमात्मा इस जन्म में है वैसा ही अगले जन्म में दृष्टि आवेगा। और एक रस होने के कारण जैसा अगले जन्म में होगा वैसा ही इस जन्म में है। वह मनुष्य बार बार मृत्यु को प्राप्त करता है, जो उस आत्मा के भीतर नाना पदार्थों को देखता है। क्योंकि आत्मा से सूक्ष्म परमात्मा के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। और स्थूल वस्तु सूक्ष्म में प्रविष्ट नहीं हो सकती। जो आत्मा में अधिक पदार्थों को देखता है, उसने आत्मा को जाना ही नहीं, वह आत्मा किसी और पदार्थ को समझ रहा है। जिसके भीतर उसे बहुत ही वस्तुएं

दृष्टि आती है, नहीं तो आत्मा में कोई अन्य पदार्थ प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। जब किसी दूसरी वस्तु को आत्मा समझो तो यह अविद्या ने घेरा है, उसका बार बार जन्म होना आवश्यक है।

प्रश्न—मनुष्य तो इस स्थान में यह अर्थ लेते हैं कि जो इस संसार में एक से अधिक वस्तु को जानता है। तुम आत्मा के भीतर किस प्रकार अर्थ लेते हो।

उत्तर—इस वल्ली की पहली श्रुति से ही यह प्रकरण चल रहा है कि वह बाहर की ओर देखता है, आत्मा के भीतर नहीं। इस कारण यहाँ के अर्थ आत्मा के भीतर से ही हैं।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥८२॥

प० क्र०—(मनसः) मन के द्वारा से। (एव) ही। (इदम्) इस आत्मा को। (आप्तव्यं) प्राप्त कर सकते हैं। (न) नहीं। (इह) इस आत्मा के भीतर। (नाना) एक से अधिक। (अस्ति) है। (किञ्चन) कुछ भी। (मृत्योः) मृत्यु से। (स) वह मनुष्य। (मृत्युम्) मृत्यु को। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (यः) जो। (इह) आत्मा के अन्दर। (नाना) एक से अधिक। (एव) ही। (पश्यति) देखता है।

अर्थ—वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है, सिवाय मन के जीवात्मा और परमात्मा के देखने का कोई हेतु नहीं। इस आत्मा के अन्दर सिवाय परमात्मा के कोई दूसरी वस्तु नहीं। वह मनुष्य बार बार मौत के दुःख को भोगता है, जो

यहाँ अर्थात् आत्मा में एक से अधिक वस्तुओं को देखता है।

प्रश्न—श्रुति ने तो केनोपनिषद् में यह कहा है कि वह परमात्मा मन से मनन नहीं किया जाता, किन्तु मन उसकी शक्ति से विचार करता है, आप कहते हैं मन ही से जाना जाता है।

उत्तर—मन की दो अवस्था हैं। एक मल विक्षेप, और आवरण दोष से युक्त मन, दूसरे इन दोषों से रहित मन। इन दोषों से युक्त मन से उसको नहीं जान सकते। इन दोषों से रहित मन से वह जाना जाता है, जैसे आँख और आँख के सुरमा को देखने के लिये दर्पण ही एक साधन है। बिना दर्पण के आँख के सुरमा को नहीं देख सकते, परन्तु अँधेरी रात्री में दर्पण से भी नहीं देख सकते या जब दर्पण मैला अर्थात् साफ न हो, या दर्पण स्थिर न हो, किन्तु तेज गति से हिल रहा हो, दर्पण पर कोई मैला पड़ा हो तो उस दशा में दर्पण से भी आँख और आँख के अँजन को नहीं देख सकते।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ १२ । ८३ ॥

प० क्र०—(अंगुष्ठामात्र) अंगूठा के अनुमान जो रोहे का आकाश है, जिसमें जीव का ज्ञान हो सकता है। (पुरुषः) परमात्मा। (मध्ये) मध्य में। (आत्मनि) जीवात्मा के। (तिष्ठति) रहता है। (ईशान) स्वामी प्रबन्ध में रखने वाला (भूतभव्यस्य) बीते हुए और आगे का। (न) नहीं। (ततः)

उसमे। (विजगुप्सते) निकृष्ट दशा को पहुँचता। (एतद्वैतत्) ब्रह्म यही है, जिसकी बाबत प्रश्न किया था।

अर्थ—मनुष्य के रांहे में जो एक अंगूठे के समान स्थान है, उस स्थान पर जीवात्मा के दर्शन हो सकते हैं। वह परमात्मा जो कि भूत और भविष्य का स्वामी है, जिसको जानने के पश्चात् मनुष्य को फिर ऐसी अवस्था में नहीं जाना पड़ता, जिसमें अपने से घृणा हो। अतः मनुष्य को पाप करने के पश्चात् जब उसका आवेश उतर जाता है तो अपने कर्म से घृणा करता है और अपने मन में अपने निकृष्ट जीवन पर शोक करता है। परंतु जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, वह पाप नहीं कर सकते। पाप उसी समय तक हो सकता है जब तक उस दण्ड देने वाली शक्ति की सत्ता का निश्चय न हो कथन मात्र चाहे वह मानते ही हों अथवा उस दशा में हो सकता है कि परमात्मा को एक देशी जानने के कारण उस स्थान पर विद्यमान होने का निश्चय न हो। या उस दशा में जब कि किसी सत्ता का विश्वास हो जो कि पाप करने के पश्चात् भी हमें बचा सकती हो।

प्रश्न—क्या जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर है जैसा कि श्रुति से प्रकट है।

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर नहीं, क्योंकि आत्मा शब्द से ही प्रकट है। किन्तु जिस स्थान पर उसको देख सकते हैं, वह रांहे का आकाश है, अंगूठे के बराबर है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उश्वः। एतद्वै तत्
॥१३। ८४॥

प० क्र०—(अँगुष्ठमात्र) वह अँगूठे के बराबर स्थान में दृष्टि आने वाला। (पुरुषः) जीवात्मा या परमात्मा। (ज्योतिरिव) ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित। (अधूमकः) धुएँ से पृथक् शुद्ध। (ईशानः) स्वामी। (भूतभव्यस्य) भूत भविष्यत् सम्पूर्ण पदार्थों का। (एव अद्य) वही आज सारे जगत् का स्वामी है। (स एवश्यः) वह सबका स्वामी होगा। (एतद्वै तत्) यह वही प्रेम है।

अर्थ—अँगूठे के बराबर जगह में दृष्टि आने वाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा ऐसी ज्योति अर्थात् प्रकाश है कि जिस को कभी धुआं (धूम्र) ढांप ही नहीं सकता। जिस में किसी प्रकार का मल नहीं वही भूत और आने वाली वस्तुओं का स्वामी है। न तो पहले कोई ऐसी वस्तु हुई है, जिसका वह स्वामी न हो, न आगे कोई ऐसी वस्तु पैदा होगी, जिस पर उसका अधिकार न हो। वही सारे जगत् का स्वामी है। बड़े से बड़े राजे-महाराजे उसकी आज्ञा (मृत्यु) को टाल नहीं सकते। नास्तिक से नास्तिक को भी उस के नियम के सामने शीश झुकाना पड़ता है। वह सम्पूर्ण पदार्थों का स्वामी है, कोई भी ऐसा पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस पर उसके नियम का प्रभाव न हो। सूर्य, चन्द्र, तारे उसके नियम को तोड़ नहीं सकते। वायु, अग्नि, पानी उसके नियम के विरुद्ध चल नहीं सकते। पृथ्वी के बड़े बड़े योधा अपने भुजबल से उसके आदेश (मौत) को रोक नहीं सकते। बड़े-बड़े मानी उसके द्वार पर अपने कर्मों का फल भोगने की व्यवस्था के लिये मारे मारे फिरते हैं। निदान यह वही ब्रह्म है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियम में चला रहा है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ १४ । ८५॥

प० क०—(यथा) जैसे । (उदकं दुर्गे) पहाड़ियों शिखरों पर वर्षा हुआ । (पर्वतेषु) पहाड़ों में । (विधावति) दौड़ता अर्थात् वेग में बहता है । (एवम्) इसी प्रकार । (धर्मान्) धर्म से । (प्रथक्) अलग । (पश्यन्) देखता हुआ । (तानेव) उसी के गुणों के । (अनुविधावति) उनके पीछे लग जाता है ।

अर्थ—जैसे पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियों पर चढ़ना महा कठिन है, वर्षा हुआ पानी पहाड़ में वह निकलता है । यद्यपि और स्थान पर वर्षा है, परन्तु नीचे की ओर चलने वाले स्वभाव के कारण दूसरे पहाड़ों, पर नहीं-नहीं स्वच्छ मैदान में वह निकलता है । इसी प्रकार जो मनुष्य किसी वस्तु के गुण को उससे अलग देखता है, तो भी वह उन्हीं धर्मों के पीछे दौड़ता है ।

आशय यह है, धर्म, धर्मी का अनिश्वर धर्म है । जहां धर्म होगा, वहाँ धर्मी अवश्य होगा । और जहां धर्मी होगा, वहां धर्म अवश्य होगा । अचेतन प्रकृति का धर्मबन्धन है, चाहें हम प्रकृति को स्वतन्त्रता के विचार से पास लावे, तो भी वह बाँध देगी, जैसाकि उसका धर्म है । चाहे परमात्मा की उपासना अज्ञान से ही करें, परन्तु उससे आनन्द अवश्य मिलेगा । जिस वस्तु का जो धर्म है, वह उससे पृथक् नहीं हो सकता । इस कारण जहां पाप है, उसी जगह भय है, जो पापी न हो, उसे भय नहीं हो सकता । जिस गुण को हम प्राप्त करना चाहें, उसी के गुणों की उपासना करें, मूर्ख, सुरापी, माँसाहारी गुरु की संगति से हम को ज्ञान और सदाचार नहीं मिल सकता ।

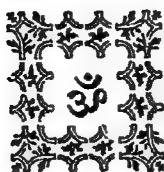
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५।८६॥

प० क्र०—(यथा) जैसे । (उदकम्) जल । (शुद्धे) पवित्र वस्तु में । (शुद्धम्) शुद्ध । (आसिक्तं) भले प्रकार सींचा हुआ । (तादृग) उसी प्रकार का । (एव) ही । भवति होता है । (एवम्) इसी प्रकार । (मुनेः) कम बोलने वाले का । (विजानतः) ज्ञानी मनुष्य का । (आत्मा) आत्मा । (भवति) होता है । (गौतमः) हे गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ नचिकेता ।

अर्थ—यथा, शुद्ध जल शुद्ध स्थान पर पहुंचने पर शुद्ध ही होता है, उसमें कहीं से आकर मैल मिल नहीं जाता । इसी प्रकार बहुत थोड़ा बोलने वाले और ज्ञान से युक्त इन्द्रियों को अपने आधीन रखने वाले अपने मन, इन्द्रिय और शरीर के दास न बन कर उससे ठीक-ठीक काम लेते हैं । पूर्ण योगी आत्मा, हे नचिकेता ! शुद्ध होता है । उसको कोई मल विक्षेप दोष और अहंकार जिससे सम्पूर्ण मनुष्य दुःख उठाते हैं, आकर नहीं सताते । यह सब दोष उसी समय तक होते हैं, जब तक मन इन्द्रिय के पीछे लगकर आत्मा बाहर की ओर देखता है, और उसी प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों में फँसकर अपने को मन की दशा में अनुभव करता है । आत्मा को तो कोई कष्ट हो ही नहीं सकता, क्योंकि नित्य है और प्रकृति से सूक्ष्म है । नित्य होने से, उसको नाश का भय नहीं और प्रकृति से सूक्ष्म होने से प्रकृति का गुण, परतंत्रता उसमें आ नहीं सकती । परतंत्रता अर्थात् दुःख मन में होता है, अविद्या से आत्मा उसको अपने में स्वीकार कर लेता है । जैसे किसी का मकान कलकत्ता में है और वह जल

जाता है। जिस समय उसे खबर होती है, वह अहंकार से कहता है कि शोक! मेरा सत्यानाश हो गया। यद्यपि उसका कुछ नहीं बिगड़ा। यदि जिस मकान में वह रहता है, उस मकान में आग लगती, तो कह भी सकते थे कि मेरी कुछ हानि हुई मुझे, रहने में कष्ट हुआ। मकान कलकत्ता में आप लाहौर में। फिर मकान के जलने से उसे क्या कष्ट? अतः मन शुद्ध होने की दशा में आत्मा बाहर की ओर नहीं देखता, क्योंकि उस समय उसे भीतर की छवि दृष्टि पड़ती है। और अशुद्ध होने की दशा में भीतर से तो कुछ दृष्टि नहीं पड़ता, वह बाहर से ही देखता है। इस कारण बाहर की ओर इन्द्रियों को चलाता हुआ दुःख पाता है। इस लिये निष्काम परोपकार करके मन को शुद्ध करना चाहिये।

इति चौथी वल्ली समाप्ताः।



अथ पंचम वल्ली ।

पुरमेकादशद्वारम जस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥१।८७॥

प० क्र०—(पुरम्) पुर जो कुछ भोगने का स्थान हो अर्थात् शरीर । (एकादशद्वारम्) जिसके ११ दरवाजे हैं । (अजस्य) जो किसी कारण से उत्पन्न न हुआ, अर्थात् नित्य जीवात्मा । (अवक्रचेतः) जिसका ज्ञान उलटा नहीं । (अनुष्ठाय) अपने धर्म का ठीक प्रकार पालन करके । (न) नहीं । (शोचति) शोच करना । (विमुक्तश्च) तीन आश्रमों के तीन प्रकार के ऋण से छूटा हुआ । (विमुच्यते) शरीर से भी छूट जाता है । (एतद्वै तत) यही ब्रह्मज्ञान का फल है ।

अर्थ—मनुष्य के शरीर के एकादश दरवाजे हैं,* दो आँखें, दो नासिका, दो कान, मुँह एक, मस्तक में एक, नाभि एक, गुदा एक, उपस्थ इन्द्रिय एक, कुल एकादश

---

* नौ द्वार इस देह पुरी के हैं । परन्तु यहाँ मस्तक का "ब्रह्म रन्ध्र" और नाभि में "नाल चक्र" दो द्वार योग के करने वाले और मानते हैं सो सर्वथा सत्य हैं ।

—अनुवादक ।

दरवाजा है। इस ग्यारह दरवाजे वाले नगर में, यह जीवात्मा शासन करता है। यदि जीवात्मा का ज्ञान उलटा न हो अर्थात् अविद्या में लिप्त न हो, तो अपने वर्णाश्रम धर्म को ठीक-ठीक करता हुआ शोक नहीं करता किन्तु सब प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता है, तो शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम के नियम पूर्वक करने के बाद संन्यास आश्रम के धर्म पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस शरीर में जिसका ज्ञान मिथ्या हो उसके लिये यही राजधानी कारागार हो जाता है। क्योंकि वह शरीर, इन्द्रियाँ और मन पर शासन करने के स्थान में उनके आधीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का यही फल है। अतः जीवात्मा शरीर को राजधानी बना लेता है। ज्ञानी को इस शरीर में किसी प्रकार की विपत्ति नहीं होती, क्योंकि यह सब उसके आधीन होते हैं। और ज्ञानी के लिये यह शरीर और इन्द्रियाँ मन सब के सब दुःख देने वाले हो जाते हैं, क्योंकि उस पर शासन करते हैं। बात स्पष्ट है कि यदि आदमी घोड़े पर सवार हो और घोड़ा वश में हो, तो मार्ग पर पहुँचा देता है। यदि घोड़ा वश में न हो तो पग पग पर गिरने का भय लगा रहता है। प्रकृति की उपासना से जीव का ज्ञान मिथ्या हो जाता है, जिससे पुनः अविद्या उत्पन्न होकर उसे दुःख उठाना पड़ता है। ब्रह्म के ज्ञान से जीव का ज्ञान सीधा होता है, जिसमें कि वह आनन्द भोगता है।

प्रश्न—इस समय तो जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं, वह अधिक सुखी मालूम पड़ते हैं।

उत्तर—दूर से ही सुखी प्रतीत पड़ते हैं, उनसे मिल कर पूछो तो कभी शान्त नहीं विदित होंगे। सम्पूर्ण यूरुप शान्ति

की चिन्तामें है, परन्तु प्रकृति उपासना के कारण यूरुप को शान्ति नहीं मिल सकती। लंदन में स्त्रियों के झगड़े, फ्रांस के बलवे, रूस के अन्तर्राष्ट्रीय विप्लव, पुर्तगाल की बेचैनी, बताती है कि वहां शान्ति और सुख का नाम नहीं। शरीर में मुक्ति प्राप्त होना तो अलग रही, किन्तु वहाँ मनुष्य से ही स्वतन्त्रता प्राप्त होना कठिन है। शारीरिक आवश्यकता का बन्धन तो छूटा नहीं वह तृष्णा के बन्धन में लिप्त हो गये।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥ २॥ ८८॥

प० ०—(हंसः) जीवात्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने वाला। (शुचिषत्) शुद्ध परमात्मा में रहने वाला। (वसुः) शरीर में बसने वाला। (अन्तरक्षत् सः) शरीर के मध्य आकाश में दृष्टि आने वाला। (होता) होम करने वाला। (वेदषत्) पृथ्वी में रहने वाला। (अतिथिः) जिसके आने या शरीर में रहने की कोई तिथि नियत नहीं। (दुरोणसत्) अपने शरीर या आश्रम में रहने वाला। (नृसत्) मानुषी शरीर में रहने वाला। (वरसद्त सत्) देव ऋषियों के शरीर में रहने वाला। (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला। (अब्जा) पानी में रहने वाले शरीरों में रहने वाला। (गोजा) थल में रहने वाले शरीरों में रहने वाला। (ऋतजा) स्वाभाविक अवस्था में रहने वाला। (अद्रिजा) पहाड़ों में उत्पन्न होने वाली योनियों में रहने वाला। (ऋतम्) स्वयम् भी सत्यास्वरूप अर्थात् नित्य। (बृहत्) बड़े उच्च विचार वाला।

अर्थ—यह जीवात्मा जो एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को जाने वाला है। बाहर की कोई वस्तु भी उसको अपने आधीन नहीं कर सकती। जो सम्पूर्ण शरीरों अर्थात् चींटी से लेकर मनुष्य तक में जाने वाला, जिसका दर्शन शरीर के भीतर केवल रहे के आकाश में भी हो सकता है, और यज्ञादि कर्मों का करने वाला और शरीर की भूमि में रहने वाला जिसकी शरीर में आने जाने की कोई तिथि नियत नहीं। जो किसी मकान में रहने, मुक्ति के लिये केवल मनुष्य के शरीर में आने वाला, मुक्ति से लौटकर देव ऋषियों के शरीर में आने वाला, नित्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में स्थिर होने, तत्त्वज्ञान के न होने से जल-जन्तुओं के जन्म धारण करने वाला, भूमि में रहने वालों के शरीर में जाने वाला परमात्मा के नियम से उत्पन्न होने वाला, पहाड़ी जन्तुओं की दशा में उत्पन्न होने और वास्तव में वह सब विकारों से अलग है। क्योंकि यह सब गुण जीव की उपाधि होनी है और वह अहंकार से इनमें दुःख सुख को मानता है और बाह्य प्रभाव उसके भीतर नहीं जा सकता। जब उसको अपने तत्व का ज्ञान होता है, तब सबसे बड़ा ब्रह्म ही उसका उद्देश होता है। सारांश यह कि ज्ञान अज्ञान के कारण इस जीवात्मा की अनेक दशा होनी हैं। ज्ञान के कारण वह उत्तम दशा में होता है और अज्ञान के कारण वह नीच दशा में होता है। इस कारण ब्रह्म ज्ञान के कारण नीच-गति से निकल कर उत्तम-गति को पहुँचता है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३। ८६॥

प० क्र०—(ऊर्ध्वम्) ऊपर ब्रह्माण्ड अर्थात् शिर की खोपड़ी में। (प्राणम्) प्राण वायु। (उन्नयति) खींचता है (अपानम्) अपान वायु जो विष्टा को निकालता है। (प्रत्यक्) पेट में। (अस्यति) फेंकता है। (मध्यं) नाभि और गले के मध्य। (वामनम) शुद्ध चेतन उत्तम गुणों वाला जीवात्मा। (आसीनम्) बैठा हुआ है। (विश्वेदेवाः) जगत् को प्रकाशित करने वाले देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। (उपासते) काम करती हैं।

अर्थ—ऊपर की तरफ तो प्राण-वायु गति करता है अर्थात् जो मनुष्य प्राण वायु को रोकता है वह उन्नति करता है अथवा बल से बाहर की तरफ प्राणों को फेंकता और अपान वायु बल से नीचे की ओर निकालता है। और गले और नाभि के मध्य जो रोहे का आकाश है* उसमें रहने वाले जीवात्मा को जो प्रकृति से अधिक गुण वाला है अर्थात् प्रकृति सत है, और जीवात्मा सत चित है और वह सब इन्द्रियों का राजा है। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रजा की आज्ञा का पालन करती है, इसी प्रकार प्राणायाम करने वाले की सम्पूर्ण इन्द्रियां उसकी आज्ञा में रहती हैं। और जो मनुष्य प्राणों को जो इन्द्रियों के काम के साधन में नहीं, वश में करते हैं उनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती।

प्रश्न—प्राणों के रोकने से इंद्रियों का वश में होना किस प्रकार स्वीकार किया जावे ?

उत्तर—इन्द्रियां मन के आधीन होकर काम करती हैं। जिस ओर मन इन्द्रियों को लगाता है उसी ओर इन्द्रियाँ काम

*नाभि देश में और तालु में उस स्थान को कि जहाँ योगी चित स्थिर कर समाधि में जाता है।

करती हैं। रुधिर की गति से प्रगति करता है। यदि रुधिर की गति न हो तो मन कार्य नहीं कर सकता। और रुधिर की हरकत प्राणों की हरकत के कारण से है। यदि प्राण क्रिया न करें, तो शरीर के भीतर किसी प्रकार का काम नहीं हो सकता।

प्रश्न—प्राणों की क्रिया तो सुषुप्ति में भी रहती है उस समय मन और इन्द्रियाँ क्यों काम नहीं करतीं?

उत्तर—मनुष्य का शरीर एक फोटूग्राफर का कैमरा है जिसके भीतर का शीशा मन है जिस पर चित्र उतरता है और बाहर का शीशा इन्द्रियां हैं। यदि दोनों शीशों के मध्य एक कागज का भी परदा लगा दिया जावे तो चित्र नहीं उतरेगा। सुषुप्ति अवस्था में और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का आवरण आ जाता है इस कारण इन्द्रियों का काम बंद हो जाता है। परंतु कर्म इन्द्रियों का काम बन्द नहीं होता केवल ज्ञान इन्द्रियों का काम बन्द होता है।

प्रश्न—फिर यह नियम तो न रहा कि प्राणों के रुकने से अवश्य इंद्रियां रुक जावेंगी, क्योंकि इन्द्रिया और प्रकार से भी रुक सकती हैं।

उत्तर—यह तो नियम है कि इन्द्रिया तब ही क्रिया करेंगी, जब प्राण क्रिया करेंगे। इन्द्रियों की गति, प्राणों की क्रिया के बिना नहीं दृष्टि पड़ती। परन्तु यह नियम नहीं कि जब प्राण क्रिया करें, तो इन्द्रिया अवश्य ही गति शील हों।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥ ४ । ६० ॥

प० क्र०—(अस्य) इसके। (विस्रंसमानस्य) पृथक् होने की दशा। (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले। (देहिनः) जीवात्मा के। (देहाद्विमुच्यमानस्य) शरीर के पृथक् होने के समय। (किम्) क्या। (अत्र) यहां। (परिशिष्यते) शेष रह जाता है। (एतद्वै तत्) यह वही है।

अर्थ—जब यह आत्मा शरीर को छोड़ देता है; क्योंकि यह शरीर जो संयोग से बना है, इसके परमाणुओं का पृथक् पृथक् हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश होना अवश्य है। और जब शरीर में रहने वाला जीवात्मा शरीर को त्याग देता है, तो शरीर में कौनसी वस्तु शेष रह जाती है। इस प्रश्न का उत्तर ऋषिने दिया है, कि वही जीवात्मा है, जो इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता।

प्रश्न—जब शरीर का नाश हो गया, तो जीव का क्यों नहीं नाश होता ?

उत्तर—नाश के अर्थ कारण में प्रविष्ट हो जाना। जैसे मकान ईंटों के संयोग से बना है, मकान का नाश क्या है ? ईंटों का अलग-अलग हो जाना। जो वस्तु संयोग से उत्पन्न होगी, वह वियोग से नाश हो जावेगी। परन्तु जीवात्मा के परमाणु नहीं, और न वह संयोग से बना है और न उसका कोई कारण है। जब उसका कोई कारण ही नहीं, तो किस में शामिल हो जावे। जब किसी कारण में शामिल ही न हो, तो नाश कैसे कह सकते हैं।

प्रश्न—बहुतेरे लोग यह कहते हैं कि शरीर के नाश होने के पश्चात् ब्रह्म ही रह जाता है ?

उत्तर—ब्रह्म तो प्रति वस्तु के नाश के पश्चात् भी रह जाता है। इस लिये शरीर के नाश के पश्चात् ब्रह्म रह ही जाता है,

इसके सत्य होने में कोई संदेह नहीं क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होगी, वही नाश होगी। जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं और दोनों शरीर के नाश के पश्चात् शेष रहते हैं। अतः दोनों ही अर्थ ठीक हैं।

न प्राणेन मापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५।६१॥

प० क्र०—(न) नहीं। (प्राणेन) प्राणों के कारण से। (न) नहीं। (अपानेन) अपान वायु के कारण से। (मर्त्यः) मरने वाला यह शरीर और जीव से मिला हुआ प्राणी। (जीवति) जीता है। (कश्चन) कोई। (इतरेण) प्राण अपानादि से अलग दूसरी वस्तु है, जिससे। (जीवन्ति) जीते हैं। (यस्मिन्) जिस के। (एतौ) यह प्राण और अपानादि। (उपाश्रितौ) सहारे रहते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य यह विचार करते हैं कि मनुष्य या पशुओं का जीवन प्राणों से नहीं बताते हैं कि कोई पशु प्राणों से नहीं जीवित रहता है। और न अपानवायु से जीवन होता है, किन्तु जीवन का कारण प्राण अपान आदि से पृथक् जीवात्मा है। जिसके सहारे यह प्राण-इन्द्रियाँ और शरीर स्थित हैं। अतः जीव के कारण से जीवन कहलाता है, प्राणों के कारण नहीं।

प्रश्न—जब कि खाना, पीना आदि प्राणों के धर्म हैं, और जीवन भी वही कहलाता है कि जिसमें पाचन शक्ति तथा गति हो, तो प्राणों से जीवन स्वीकार क्यों किया जावे।

उत्तर—प्राण तो प्रत्येक उत्पत्ति वाली वस्तु में है, जिसके कारण से छः विकार जो सृष्टि को प्रकाशित करने वाले

पाये जाते हैं। परन्तु प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य प्राण, जो कुछ जगत् में विद्यमान हैं। दूसरे विशेष प्राण, जो जीवधारियों में पाये जाते हैं, जिनमें एक प्रकार की चञ्चलता है, उस में सामान्य प्राण होते हैं। जिस में तीन प्रकार की गति होती है, उस में विशेष प्राण होते हैं। इस गति को दो प्रकार में विभाजित किया जाता है। एक चैतन्य इच्छा करने वाला है, दूसरा प्रबन्धन इच्छा रखने वाले चैतन्य का चिह्न है। करना, न करना, उलटाकरना, इस इच्छा वाले शरीर में पाचन-शक्ति, रक्षा और ज्ञान जो कि जीवन के चिन्ह पाये जाते हैं विद्यमान है। जिनमें कि सामान्य रूप में प्रबन्ध करने की चेतनता होती है, उसमें पाचन-शक्ति तो होती है, परन्तु उसमें ज्ञान तथा रक्षा नहीं होती है। क्योंकि जीवन का मुख्य अर्थ ज्ञान तथा रक्षा है। यह दोनों जीव के कारण हैं, अर्थात् जीवन का कारण जीव है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥५।६।२॥

प० क०—(हन्त) दया के योग्य नचिकेता (ते) तुझको

प० क०—(हन्त) दया के योग्य नचिकेता। (ते) तुझको (इदम्) वर्त्तमान विषय के अनुकूल। (प्रवक्ष्यामि) कहता हूँ अर्थात् उपदेश करता हूँ। (गुह्यं) जो गुप्त भेद है। (ब्रह्म) वेद में प्रकाशित हुआ। (सनातनम्) जो सदा से है। (यथा) जैसे। (मरणं) मौत को। (प्राप्य) प्राप्त करके। (आत्मा) जीवात्मा।। (भवति) होता है। (गौतम) गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ नचिकेता।

अर्थ—यमाचार्य कहते हैं कि दया के योग्य नचिकेता! मैं तुझ को वह उपदेश जो सनातन से वेद ने इस बारे में कहा

है कि जीवात्मा मरने के पश्चात् क्या होता है, बताऊँगा। यद्यपि यह विद्या प्रत्यक्ष नहीं, जिसको सब लोग जान सकें। जोकि गुप्त भेद है, जिसको आत्म-विद्या के जानने वाले योगी ही जान सकते हैं, सब की पहुंच नहीं। क्योंकि जो जीवात्मा के स्वरूप को जान जाते हैं वही इस बात को जान सकते हैं कि इस शरीर से निकलने के पश्चात् जीव कहां जाता है। जिनको ज्ञान नहीं कि जीवात्मा क्या वस्तु है, द्रव्य है, या गुण है, संयोग है, या अणु गतिवाला है, या निर्गति नित्य है, या अनित्य स्वभाव से मुक्त। सारांश यह कि आत्म-विद्या से शून्य मनुष्यों के लिये यह विद्या एक गुप्त भेद (रहस्य) है।

प्रश्न—नचिकेता पर क्या आपत्ति पड़ी थी? जिसके कारण यमाचार्य ने उसे दया के योग्य स्वीकार किया।

उत्तर—प्रथम तो नचिकेता के पिता ने इस को मृत्यु को देने को कहा था, दूसरे वह ऐसी विद्या को जानने का इच्छुक था, जिसका मिलना बहुत ही कठिन था। छोटी आयु में इस कठिनता से पूरी होने वाली इच्छा का पैदा हो जाना, क्या कम आपत्ति थी।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७६३॥

प० क्र०—(योनिम्) दूसरे शरीर को। (अन्ये) जिन लोगों ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। (प्रपद्यन्ते) प्राप्त करते हैं। अर्थात् दूसरे शरीर में चले जाते हैं। (शरीरत्वाय) कर्मों का फल भोगने या आगे के वास्ते कर्म करने को जो शरीर मिलता है उसके लिये। (देहिनः) जीवात्मा। (स्थाणुम्) चञ्चलता रहित। (अन्ये) कोई महापापी मनुष्य। (अनुसंयंति) प्राप्त

करते हैं। (यथा) जैसाकि उनका। (कर्म) कर्म होता है, जैसाकि। (श्रुतम्) जैसाकि संस्कार से उत्पन्न ज्ञान होता है।

अर्थ—ऋषि बताते हैं कि हे नचिकेता ! जिन लोगों को मनुष्य शरीर में ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उनकी मरने के पश्चात् जो दशा होती है, उसका जिक्र तो हो चुका है। शेष वह लोग जिन्होंने मनुष्यों का शरीर पाकर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, या तो पुनः मनुष्य का शरीर या पशु पक्षी आदि का जन्म लेते हैं। और जो सबसे नीच कर्म वाले जीव हैं, वह ऐसी योनियों को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह स्थाणु (जड़) रूप होते हैं। निदान जैसा कर्म और ज्ञान होता है, वैसा ही शरीर में जन्म लेते हैं।

प्रश्न—स्थाणु का अर्थ अन्य टीकाकार वृक्षादि की योनि करते हैं। तुमने स्थाणुरूप क्यों माना ?

उत्तर—कणाद महर्षि वृक्षों को शरीर नहीं मानते यथा प्रशस्तपाद-भाष्य से विदित होता है कि वह वृक्षों को विकार मानते हैं और मिट्टी पत्थर की भांति वर्णन करते हैं और और श्रुति उस शरीर की पूर्त्यर्थ वर्णन करती है। इस कारण यह अर्थ सत्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—कणादि ने वृक्षों को विषय (विकार) स्वीकार कर लिया तो मनु ने स्पष्ट शब्दों में स्थावर योनि अर्थात् वृक्ष बताया है।

उत्तर—जो अर्थ स्थाणु का है वही स्थावर का है। यदि कोई हट से भी कहे कि वृक्ष योनि ही है तो वेद ने स्पष्ट शब्दों में दिखाया है कि सृष्टि दो प्रकार की है एक भोगने वाली दूसरी भोग योनि, जिसमें, जीव है

वह चैतन्य सृष्टि भोक्ता अर्थात् भोगने वाली कहाती है। जिसमें जीव नहीं, वह भोग सृष्टि है, जो खाने के लिये बनी है, इसी स्थावर और जङ्गम को ही जड़ चैतन्य के नाम से पुकारा गया है। इससे किसी को क्या इन्कार हो सकता है। क्योंकि शाकादि ही खाने के हेतु बनाये गये हैं। इसी विचार से कपिल ने कहा है कि जिसमें चैतन्यता नहीं है, वही भोगसृष्टि कहलाती है।

प्रश्न—यदि वृक्ष-योनि मानी जावे, तो क्या दोष आवेगा।

उत्तर—प्रथम तो वृक्ष में चैतन्य के लक्षण इच्छा को सिद्ध करना होगा। दूसरे यह सिद्ध करना होगा कि वह कर्म-योनि है, या भोग-योनि, या उभय-योनि। तीसरे यह बताना होगा कि वह किस अवस्था में है। चौथे खाने के लिये सृष्टि वृक्षों से पृथक कोई सिद्ध करनी होगी। पंचम इसका उत्तर देना पड़ेगा कि दुःख आदि समवाय सम्बन्ध में या पर सम्बन्ध में निदान इस असत्य सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि जिसका विचार यहाँ नहीं कर सकते।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥ ८। ६४॥

प० क्र०—(यः) जो। (एषः) यह अन्तर्यामी। (सुप्तेषु) सोये हुओं में। (जागर्ति) जागता है। (कामम्) प्रत्येक अर्थ को पूरा करने के वास्ते। (पुरुषः) सर्व व्यापक परमात्मा (निर्मिमाणः) सब जगत् को बनाता हुआ। (तदेव)

वही। (शुक्रम्) जगत् का रचने वाला बीज है। (तदेव) वही सबसे बड़ा अर्थात् ब्रह्म है। (शुक्रम्) वही। (अमृतम्) नाश-रहित। (उच्यते) कहा जाता है। (तस्मिन्) उस ब्रह्म में। (लोकाः) सूर्यादि लोक। (आश्रिताः) उसके ठहरे हुए। (सर्वे) सब। (तदु) उसके नियम। (न) नहीं। (अत्येति) उल्लंघन कर सकता है। (कश्चन) कोई भी। (एतद्वै तत्) जिस ब्रह्म को तूने पूछा है, वह यही है।

अर्थ—वह सर्व अन्तर्यामी परमात्मा जो सम्पूर्ण जीवों को सोने की दशा में भी जागता हुआ उनकी रक्षा करता है। किन्तु उसको किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, तो भी जीवों की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रत्येक वस्तु उत्पन्न करता है। इस पर भी जीव उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते और बहुत से काम उसके विरुद्ध करते हैं। तो भी उन पर से वह दया का हाथ नहीं हटाता और सुषुप्ति देकर उनको सुख देता है। सब जगत का रचने वाला है, वही सब से बड़ा है। वह शुद्ध स्वरूप है, वह अमृत है, जिस को पाकर मनुष्य अमर होते हैं। जो मनुष्य उसके नियमों के अनुकूल चलते हैं, वह मुक्ति का सुख प्राप्त करते हैं। उसके सहारे सूर्य चन्द्र, भूमि आदि सम्पूर्ण लोक बसते हैं। उसने जो एक दूसरे में आकर्षण-शक्ति पैदा कर दी है उसी से बँधे हुए सम्पूर्ण लोक आकाश में ठहरे हैं। जिस प्रकार आदमी का फैंका हुआ पत्थर, जब तक शक्ति साथ रहती है तब तक आकाश में ऊपर की ओर जाता है, जहाँ शक्ति समाप्त हो गई नीचे की ओर गिरता है। ऐसे ही प्रत्येक लोक उसकी दी हुई शक्ति से गति कर रहा है। कोई भी लोक उसके नियम को नहीं तोड़ सकता, सब नियम-पूर्वक गति कर

रहे हैं। इसी नियम के कारण ज्योतिष बता सकता है कि सहस्र वर्ष के बाद अमुक तिथि को ग्रहण होगा और वह होता है। जिस ब्रह्म के सम्बन्ध में नचिकेता तूने प्रश्न किया था वह ब्रह्म यही है।

प्रश्न—इस श्रुति में तो यह बताया है कि कोई भी परमात्मा के नियम को नही तोड़ सकता। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य रात दिन पाप करते हैं। जिससे स्पष्ट है कि यदि परमात्मा के नियम के विरुद्ध किया जावे, तो वह पाप नहीं सकता। कहला फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है?

उत्तर—एक परमात्मा के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। यथा परमात्मा का नियम है कि आंख से देखें, कान से सुनें, नाक से सूंघें। कोई कान से सुन नहीं सकता, कान से देख नहीं सकता, आंख से सूंघ नही सकता। परमात्मा का नियम है कि आग ऊपर की ओर चले, कोई मनुष्य आग की लपट नीचे की ओर नहीं चला सकता। सूर्य चन्द्रमा को परिवर्तन नहीं कर सकता। यथा शीतकाल में रात्रि बड़ी और दिवस छोटा है, कोई दिन को बड़ा और रात को छोटी नहीं कर सकता। जब पछुवा चलती है, उसको पुरवा नहीं कर सकता। निदान परमात्मा के नियमों के तोड़ने में कोई समर्थ नहीं। आज्ञा तोड़ने में दंड मिलता है। आज्ञानुकूल कर्म करने या न करने में जीव स्वतन्त्र है। यदि आज्ञानुकूल कर्म करते हैं, तो सुख प्राप्त होता है, यदि नहीं करते तो दुःख पाते हैं।

प्रश्न—ईश्वर जीवों को आज्ञा मानने में बाध्य क्यों नहीं करता?

उत्तर—आज्ञा के मानने, न मानने में जीवों की ही लाभ हानि है। इस कारण कुल जीव स्वतन्त्र हैं। ईश्वर के न्याय

और दया इस बात को जिसमें वह स्वतन्त्र हो विवश करना अन्याय मानते हैं।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ६ । ६५ ॥

प० क्र०—(अग्निः) आग। (यथा) जैसे। (एकः) एक है। (भुवनम्) उत्पन्न हुई, संयोग वस्तुओं में। (प्रविष्ट) प्रवेश होकर। (रूपंरूपम्) अनेक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उस ही रूप वाली। (बभूव) होती है। (एकः) एक। (तथा) ऐसे ही। (सर्वभूतान्तरात्मा) सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्दर व्यापक होने वाला आत्मा है, अर्थात् ब्रह्म। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उस ही रूप वाला है। (बहिश्च) और सब रूपों के बाहर भी है।

अर्थ—जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के भीतर एक ही अग्नि विद्यमान है और जिस आकार की वस्तु है, उसी आकार की प्रतीत होती है, क्योंकि अग्नि का अपना कोई आकार नहीं। प्रत्येक आकार में जो रूप दृष्टि पड़ता है, वह अग्नि के भीतर होने का प्रमाण देता है, अर्थात् आकार से रहित अग्नि प्रत्येक आकार को प्रकाशित करने वाली है। प्रत्येक वस्तु में व्यापक होने वाला परमात्मा जिस से कोई वस्तु रहित ही नहीं, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म में भी विद्यमान है। अतः प्रत्येक संयोग वस्तु में आकाश विद्यमान है, कोई संयोग वस्तु नहीं, जिसमें आकाश न हो। जिस में आकाश है, वह संयोग वस्तु है, असंयोग वस्तु नहीं।

परमात्मा असंयोग वस्तु और आकाश से भी अति सूक्ष्म है, इस कारण वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु अर्थात् गुण के भीतर भी

विद्यमान है। जिस प्रकार परमाणु में आकाश नहीं रह सकता, परन्तु उसके गुण विद्यमान होते हैं। और जहाँ गुण हों, वहाँ परमात्मा विद्यमान होगा। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ आकाश हो वहीं परमात्मा हो। किन्तु वह ऐसे परमाणुओं में भी जिन में आकाश नहीं रह सकता, विद्यमान है और बाहर भी है। परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर ही होता, तो वस्तुएँ परमात्मा से बड़ी होतीं; क्योंकि छोटी वस्तु के बड़ी वस्तु भीतर हो सकती है। अतः वह प्रत्येक वस्तु के बाहर भी है, वह सब की ओर है, उसकी ओर कोई नहीं। अर्थात् वह सब के भीतर बाहर है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रति रूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रति रूपो बहिश्च ॥ १० । ६६ ॥

प० क्र०—(वायु) जिस में उठाकर चलने की शक्ति है। (यथा) जैसे। (एकः) एक ही। (भुवनम्) उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में। (प्रविष्टः) प्रवेश करके। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) वैसे ही रूप वाली। (बभूव) होती है। (एकः) एक। (तथा) ऐसे ही। (सर्वभूतान्तरात्मा) सम्पूर्ण जीवों में रहने वाला आत्मा। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उस ही रूप वाला होता है। (बहिश्च) बाहर भी है।

अर्थ—प्रत्येक संयुक्त वस्तु में वायु प्रवेश करके उस ही आकार का प्रतीत होता है। क्योंकि वायु का कोई आकार नहीं, वह जिस प्रकार की वस्तु में रहता है, वैसा ही उसका आकार होता है। यदि मकान आयताकार है तो उसमें रहने वाली वायु भी उस ही आकार का होगा। यदि मकान वर्गक्षेत्र

है, तो वायु भी वैसा होगा। यदि मकान गोल है, तो वायु भी गोल होगा। जैसे वायु प्रत्येक वस्तु के साथ उस ही आकार-वाला प्रतीत होता है। आत्मा परमात्मा की भी यही दशा है, कि वह जिस वस्तु में रहते हैं, उस ही स्वरूप में रहते हैं; क्योंकि उनका अपना कोई स्वरूप नहीं। यदि वस्तु के भीतर ही होते, तो उस ही आकार वाला कह सकते थे। परन्तु वह वायु प्रत्येक वस्तु से वाहर भी है, ऐसे ही आत्मा भी इस जगत् के भीतर बाहर होने से जगत् के आकार वाला नहीं कहला सकता।

प्रश्न—परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर तो कहा जा सकता है, परन्तु वाहर कैसे मान सकते हैं।

उत्तर—यदि परमात्मा जगत् के भीतर ही हो, तो वह सब से बड़ा ब्रह्म नहीं कहला सकता और न परमात्मा, क्योंकि व्यापक और व्याप्य में यही अन्तर होता है। व्याप्य सदा वस्तु के भीतर ही होता है, जैसे लोहे के पात्र में पानी विद्यमान हो। और व्यापक वह है जो भीतर वाहर सब ओर हो, जैसे लोहे के पात्र में आग, वह भीतर वाहर दोनों ओर होगी, यदि आग दोनों ओर न हो तो पात्र वाहर से छूने में गरम न हो।

प्रश्न—लोहे के पात्र से वाहर तो आकाश रहता है, इस कारण आग भीतर वाहर दोनों ओर रह सकती है। परन्तु आकाश के वाहर क्या वस्तु है, जिसके भीतर रहने से परमात्मा को आकाश में व्यापक अर्थात् आकाश के भीतर वाहर रहने वाला स्वीकार किया जावे।

उत्तर—जो पात्र होगा वह पात्र में रहने वाली वस्तु से बड़ा मानना पड़ेगा। लोहे के पात्र का प्रवेश स्थान आकाश है, अतएव आकाश लोहे के पात्र से वड़ा है। परन्तु परमात्मा

आकाश से भी बड़ा है, इसलिये वह आकाश से भी बाहर होगा। जिस प्रकार पात्र के भीतर बाहर दोनों ओर आकाश है। यदि कहा जावे कि आकाश किसके भीतर है ? तो सब वस्तुओं के भीतर बाहर कहेंगे, यदि कोई कहे वस्तुओं से बाहर आकाश किस में रहता है यदि कहो अपने में, तो यह उत्तर परमात्मा के लिये भी जो आकाश के बाहर है, दिया जा सकता है। परन्तु इस में आत्माश्रय दोष है, क्योंकि आप ही वह व्यापक और व्याप्य होता है; लेकिन व्यापक का व्याप्य से छोटा होना उचित है। और एक छोटा बड़ा दोनों नहीं हो सकते इस कारण व्यापक और व्याप्य के नियम अनुभव तक हैं। परमात्मा सब से बड़ा है, इस कारण सब उस के अन्दर हैं। वह सब से सूक्ष्म होने के कारण, सब के अन्दर है। न कोई उससे सूक्ष्म है और न कोई बड़ा है, जिस के अन्दर वह हो।

सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥ ६७ ॥

प० क्र०—(सूर्यः) सूर्य। (यथा) जैसे। (सर्वलोकस्य) सब संसार का। (चक्षुः) नेत्र। (न) नहीं। (लिप्यते) होता है। (चक्षुषे) आँखों के। (बाह्यः) बाहिरी। (दोषै) दोषों से अर्थात जो दोष नेत्रों में होते हैं, वह सूर्य में नहीं आ सकते (एकः) एक। (तथा) तैसे ही। (सर्वभूतान्तरात्मा) सब दुनियां के जीवों में रहने वाला जीवात्मा। (न) नहीं। (लिप्यते) फँसता है। (लोक दुःखेन) दुनियां के दुखों से। (बाह्य) बाहर है।

अर्थ—जब यह कहा गया कि परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, कोई वस्तु उससे रहित नहीं। तो उस समय यह शङ्का उत्पन्न हुई कि क्या वह विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं में भी विद्यमान है, या नहीं। यदि है तो क्या उसको दुर्गन्धादि से कष्ट न होता होगा। हम एकदम दुर्गन्ध युक्त वस्तु के पास जाने से घबरा जाते हैं। वह इन अपवित्र और दुर्गन्ध-युक्त वस्तुओं में किस प्रकार रहता होगा। इसके उत्तर में बताया कि जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत की आँख अर्थात देखने का कारण है परंतु आंखों का सहायक होने पर भी जो बीमारी आदि दोष आँख में होते हैं, वह सूर्य में नहीं आते। इस प्रकार परमात्मा सब जगत् में विद्यमान है, परन्तु संसार के दुखों से लिप्त नहीं होता। और जो कुछ संसार में दोष हैं वह स्थूल हैं। अतः स्थूल वस्तु सूक्ष्म वस्तु से बाहर रह सकती है भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। जब भीतर प्रविष्ट न हो तो क्या हानिकर हो सकती है। निस्संदेह परमात्मा हर बुरी से बुरी वस्तु में भी सर्वव्यापक होने से विद्यमान है, परंतु इस नियम के कारण से कि स्थूल वस्तु में सूक्ष्म के गुण जा सकते हैं, क्योंकि गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध है, जहां गुणी जावेगा वहां गुण जावेगा। कोई गुण अपने गुणी को छोड़ कर जा नहीं सकता। यह नियम है कि स्थूल द्रव्य सूक्ष्म द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अतः उसके गुण भी वहाँ नहीं जा सकते। पानी में आग प्रवेश करके पानी को गरम कर सकती है, परन्तु आग में पानी प्रवेश करके आग को ठन्डा नहीं कर सकती। इसी प्रकार पृथिवी आदि स्थूल के गुण परमात्मा के भीतर नहीं जा सकते और न स्थूल पदार्थ का प्रभाव सूक्ष्म पर होता है इसलिए सम्पूर्ण जगत के भीतर

रहता हुआ भी परमात्मा जगत के दुःखों से युक्त नहीं हो सकता।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२। ९८ ॥

प० क्र०—(एकः) वह परमात्मा एक है। (वशी) व्यापक है। (सर्वभूतान्तरात्मा) सब वस्तुओं में रहने वाला अर्थात् व्यापक है। (एकम्) एक जगत् के कारण। (रूपम्) रूप को। (बहुधा) बहुत प्रकार से। (यः) जो। (करोति) करता है। (तम्) उस। (आत्मस्थम्) आत्मा में रहने वाले को। (यः) जो। (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते या भीतर देखते हैं। (धीराः) जीवात्मा बुद्धिमान पुरुष। (तेषाम्) पुरुषों को। (सुखम्) सुख। (शाश्वतम्) कायम रहने वाला। (न) नहीं। (इतरेषाम्) अन्य को।

अर्थ—यह वह श्रुति है, जो सब मतों को एक करके परमात्मा की पूजा में लगाती है। जो युक्ति पूर्वक अद्वैतवाद का उपदेश करती है। सांसारिक मतों में केवल आठ झगड़े हैं, जिनको दूर करके यह श्रुति सबको एक करती है, वह आठ झगड़े यह हैं—(१) बहुत से लोग कहते हैं कि जगत् ईश्वर है, बहुत से कहते हैं, नहीं, यह आस्तिक और नास्तिकों का झगड़ा है। (२) दूसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर एक है या अनेक हैं, बहुत एक मानते हैं, बहुतेरे तीन से लेकर २४ तक मानते हैं। यह दूसरा झगड़ा द्वैतवादी और अद्वैतवादियों का है। (३) तीसरा झगड़ा कि ईश्वर कहाँ है, कोई चौथे आकाश पर, सातवें आकाश पर, वैकुण्ठ क्षीरसागर,

गोलोक, ब्रह्मलोक, कैलाश, मोक्षशिला आदि यह ईश्वर के स्थान का झगड़ा एक देशी मानने वालों में। (४) चौथा झगड़ा कि ईश्वर कर्मों का फल किस प्रकार देता है, कोई कहता है कि ईश्वर कर्मों का फल देता ही नहीं, कोई कहता है चित्रगुप्त वहीं लिखता रहता है, कोई मुनकरनकीर दो फरिश्ते मानता है, यह झगड़ा कर्म का फल देने में पड़ा हुआ है। (५) पञ्चम झगड़ा कि ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से उत्पन्न किया, कोई कहता है कि ईश्वर ने उत्पन्न ही नहीं किया, कोई कोई कहता है कि कुन के कहने से उत्पन्न हो गया, कोई कहता है प्रकृति से उत्पन्न हुआ, इस पर भी बहुत झगड़े हैं। (६) छठा झगड़ा है, जीव ब्रह्म में भेद है, अभेद कोई कहता है, केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैता-द्वैत, आदि से मानता है। (७) सप्तम झगड़ा यह है अनादि पदार्थ कितने हैं, कोई एक कोई तीन, निदान ७८ तक मानने वाले मिलते हैं, बहुत से कुल पदार्थों को अनादि मानते हैं। (८) अष्टम विवाद यह है मुक्ति किस प्रकार होती है, कोई ज्ञान से, कोई स्नान से; कोई कफ्फारा से (प्रायश्चित)से, कोई शफाअत (कृपा) से, इन झगड़ों को श्रुति ने निर्णय कर दिया है। प्रथम झगड़े का उत्तर दिया है, कि जगत्कर्ता ईश्वर एक है। एक कहने से दो प्रश्नों का उत्तर हो गया। "नहीं" का उत्तर "है" शब्द से और "बहुतों" का उत्तर एक से। अब प्रश्न हुआ कि यदि एक है, तो कारण क्या है? उत्तर मिला कि व्यापक होने से सर्व-व्यापक बहुत हो ही नहीं सकते। क्योंकि दो सर्वव्यापक स्वीकार किये जावें, तो यह असम्भव है कि यह नियम सूक्ष्म, सूक्ष्म और स्थूल में हो सकता है, या छोटे बड़े में। बराबरी में छुटाई बड़ाई नहीं।

यदि आधे-आधे व्यापक स्वीकार किये जावें, तो वह सर्वव्यापक नहीं। जब सर्वव्यापक कहा, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सर्वत्र किस प्रकार है और उसके होने का क्या प्रमाण है। उत्तर मिला, सब के भीतर आत्मा की भांति है। जिस प्रकार हमारे शरीर के नियम के अनुकूल गति जीवात्मा के विद्यमान् होने का क्या प्रमाण है। इसी प्रकार संसार के भीतर जो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे नियम-पूर्वक गति कर रहे हैं, जिस नियम के गणित को जानने से प्रथम बता देते हैं कि अमुक अमुक मास में अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा ! यह नियम पूर्वक गति परमात्मा की सत्ता का प्रमाण देरही है। अतः सबमें व्यापक परमात्मा ही सब के कर्मों का फल देते हैं, बिना कर्म-फल देने वाले के तो कर्म-फल हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—क्यों न मान लें कि चित्रगुप्त हिसाब लिखता है, अथवा मुनकर और नकीर दो फरिश्ते लिखते हैं।

उत्तर—किसी मुंशी, नायब, एजंट का होना एक देशी होने के कारण सम्भव हो सकता है। बताओ अनन्त परमात्मा कहां नहीं, जहाँ उसका एजंट, पैगम्बर रह कर काम करे। यह सब तो एक देशी मानने के कारण से हुए परमात्मा अनन्त है, इसलिए इनकी आवश्यकता नहीं। लिखना, भूल की बीमारी की चिकित्सा है। यदि परमात्मा में भूल होती तो उस के एजेंट या मंत्री या फरिश्ते या चित्रगुप्त हिसाब लिखते। जब उस में भूल ही नहीं तो लेखक की क्या आवश्यकता है। पञ्चम प्रश्न के उत्तर में कहा है कि वह-प्रकृति से जगत् को रचता है। बहुत से लोग कहेंगे, यह क्यों न मान लिया जावे कि उसने कुन कहा कि जगत् पैदा होगया। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'कुन' किससे कहा। सामने जब तक कोई न हो, तो किस से कहें।

बहुत से मनुष्य कहेंगे कि यह क्यों न मान लिया जावे कि जगत् ऐसा ही अनादि चला जाता है। इसका उत्तर यह है कि कोई विकार वाली वस्तु अनादि हो नहीं सकती। छठे प्रश्न के उत्तर में कि जीव और ब्रह्म में भेद है, जीव के भीतर भी ब्रह्म व्यापक है, वह आत्मा में रहनेवाला परमात्मा है। सप्तम प्रश्न के उत्तर में कहा कि तीन पदार्थ अनादि हैं, एक देखनेवाला जीवात्मा, जिसको 'धीरे' कहा गया। दूसरे जिसको देखता है अर्थात् प्रकृति। तीसरे जिसको उसके भीतर देखता है अर्थात् ब्रह्म, जीव, ब्रह्म प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं। आठवें प्रश्न के उत्तर में कि मुक्ति किसकी होती है। कहते हैं कि जो ईश्वर को एक सारे जगत् में व्यापक अर्थात् अनन्त सब का अन्र्यामी, कर्मों का फलदाता, प्रकृति से जगत् के रचियता, जीव ब्रह्म का भेद तीन पदार्थ अनादि मानते हैं, उन्हीं की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाम् शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३।६६॥

प० क्र०—(नित्यः) एक रस रहने वाला। (नित्यानाम्) नित्य रहने वालों में। (चेतनः) ज्ञान वाला है। (चेतनानाम्) ज्ञान वालों में भी। (एकः) एक। (बहूनाम्) बहुतों के। (यः) जो। (विदधाति) देता है। (कामान्) आवश्यकताओं को। (तम्) उस। (आत्मस्थम्) आत्मा में रहने वालों को। (यः) जो। (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते। (धीरा) बुद्धिमान् जीव। (तेषाम्) उन्हें। (शांतिः) शांति। (शाश्वती) नियत रहने वाली मिलती है। (न) नहीं। इतरेषाम्) दूसरों को।

अर्थ—जो नित्य पदार्थों में नित्य है, क्योंकि प्रकृति में विकार होते हैं, इस लिये उसकी अवस्था उत्पन्न होती है। जीव को योनियों में जाना पड़ता है, जिसके कारण से उसके साथ जन्म का शब्द आ जाता है। परन्तु परमात्मा एक रस है, न उस में विकार है, न अवस्था। इस लिये वह नित्यों में भी नित्य है, और वह चेतन्यों अर्थात् ज्ञानवालों में भी ज्ञानी है अर्थात् सर्वज्ञ है। दूसरों में अल्पज्ञता के कारण किसी वस्तु के न जानने से अज्ञान का शब्द आ सकता है। परन्तु वह सर्वज्ञ है, अतः वह ज्ञानवालों में भी सर्वोत्तम ज्ञान वाला है। वह एक है, परन्तु सब जीवों की आवश्यकता को पूर्ण करता है। अर्थात् प्रत्येक को, वह पदार्थ जिन पर जीवन निर्भय है, देता है। उस आत्मा मे रहने वाले को जो जीवात्मा मन का तीन दोष अर्थात् मल, विक्षेप और आवरण दोष को दूर कर के देखते हैं। जिस प्रकार आंख में रहने वाले अंजन को देखने के लिये शीशा, प्रकाश, शीशे की शुद्धता और शीशे की स्थिरता और आवरण से शून्य होना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार आत्मा से रहने वाले परमात्मा को देखने, मन और ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा ज्ञान के प्रकाश का प्राप्त करना और गृहस्थाश्रम में निष्काम परोपकार कर के, मन समस्त मल से, जो औरों की हानि पहुँचाने के विचार से उत्पन्न होता है, दूर करना। और वानप्रस्थाश्रम में वैराग्य प्राप्त करके या योग के अङ्गों के अभ्यास से मन की चंचलता को रोक कर संन्यासाश्रम से अहंकार के दोष को दूर करके, जो अपने आत्मा में रहने वाले ब्रह्म को लेते हैं, उन्हीं को नित्य रहने वाली शांति प्राप्त होती है। जिन्होंने उन आश्रमों द्वारा मन के दोष दूर न किये हों; उनको शांति प्राप्त नहीं होती।

**तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथन्नु तद्विजानीयां किमुभाति विभाति वा ॥
१४ । १०० ॥**

प० क्र०—(तत्) उस को। (एतत्) इस विधान से। (मन्यते) मानते हैं। (अनिर्देश्यं) जो किसी प्रकार यह है नहीं कहा जाता। (परमम्) सर्वोत्तम। (सुखम्) सुख स्वरूप परमात्मा। (कथन्तु) किस प्रकार से। (तत्) उसको। (विजानीयाम्) मैं जान सकूं। (किमुभाति) क्या वह प्रकाश का कारण है। (विभाति वा) अथवा प्रकाशक है।

अर्थ—जब कि सम्पूर्ण मनुष्य उस सुख स्वरूप परमात्मा को किस प्रकार से यह है, ऐसा संकेत करके कहा नहीं जा सकता। ऐसा मानने में अन्यों को यह कहते हुए कि यह ब्रह्म नहीं, वह ब्रह्म नहीं, इस प्रकार से प्रकाशित करते हैं। क्योंकि ब्रह्म सब से अधिक सूक्ष्म है, उसके प्रत्यक्ष करने का ऐसा कोई कारण नहीं कि जिसस उसको बता सकें। नचिकेता ने कहा कि ऐसी दशा में उसको मैं किस प्रकार जान सकूं कि प्रकाश का साधन है, जिससे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और वह स्वयम् प्रकाशित हो रहा है। वह क्या वस्तु है, ऐसा मुझे ज्ञान किस प्रकार हो। उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ । १०१ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (तत्र) उस ब्रह्म में। (सूर्यः) सूर्य। (भाति) प्रकाश करता। (न) नहीं। (चन्द्र) चन्द्रमा।

(तारकं) तारे (न) नहीं । (इमाः) यह । (विद्युतः) (विजुली अयम्) यह । (अग्निः) अग्नि । (तमेव) उसी के । (भान्तम्) प्रकाश से । (अनुभाति) प्रकाशित होता है । (सर्वम्) सब सूर्य, तारे आदि । (तस्य) उसके । (भासा) प्रकाश से । (सर्वम्) सब कुछ । (इदम्) यह जगत् । (विभाति) प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है ।

अर्थ—परमात्मा के दिखाने को सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश स्थूल होने से आत्मा के भीतर जा ही नहीं सकता और परमात्मा का दर्शन आत्मा में होगा। जब सूर्य का प्रकाश आत्मा के भीतर नहीं दिखला सकता, तो परमात्मा कैसे दिखला सकता है। चन्द्रमा का प्रकाश भी उस स्थान में काम नहीं देता, क्योंकि वह भी आत्मा से स्थूल है। तारों की भी यही दशा है। विद्युत् का प्रकाश भी परमात्मा को दिखा नही सकता, फिर अग्नि के प्रकाश से कैसे देख सकते हैं। उसी परमात्मा के प्रकाश को लेकर यह सब चन्द्र सूर्य तारे और विद्युत् प्रकाशित होते हैं। यदि परमात्मा इनको प्रकाश न दे, तो यह कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते। इनमें जो कुछ प्रकाश है, वह इनका अपना नहीं किंतु परमात्मा का दिया हुआ है। जैसे प्रत्येक आत्मा जानता है कि लोहे में स्वाभाविक गति नहीं। घड़ी बनाने वाले ने लोहे की पर (पुर्जे) बनाकर उनकी घड़ी बना दी और उसको चाबी देकर चला दिया। मूर्खों के विचार में तो घड़ी अपने स्वभाव से चल रही है परंतु बुद्धिमान और विद्वान जानते हैंकि घड़ी में जो गति है, वह घड़ीकर्त्ता की दी हुई गति है। जितनी देर तक उस चावी का प्रभाव रहेगा। घड़ी चलती रहेगी परन्तु उस नैमित्तिक प्रभाव को जो घड़ीकर्त्ता ने चाबी के द्वारा घड़ी में प्रविष्ट किया है।

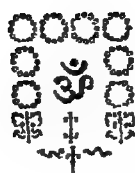
जिस समय पृथक कर लिया जावे तो घटिका वैसी की वैसी, निर्गति लोहे की अवस्था में मौजूद होगी। इसी प्रकार जितने लोक हैं, सब परमात्मा की बनाई हुई घड़ियाँ हैं, जो उसके नियम के अनुकूल चल रही हैं; स्वाभाविक किसी भी लोक में चलने की शक्ति नहीं। जितना प्रभाव जिस लोक में उस पूर्ण शिल्पकार ने रक्खा है, उतना ही वह लोक काम दे रहा है। यमाचार्य नचिकेता को बताते हैं कि जो कुछ प्रकाश है, वह सब परमात्मा का प्रकाश है। जब वह इस सब प्रकाश को देने वाला है तो उस प्रकाश से हम उसको कैसे देख सकते हैं। हाँ इस प्रकाश के तत्व पर विचार करने से तो मालूम हो सकता है कि जिससे यह प्रकाश आया है वह परमात्मा है। जैसे घड़ी को चलते देखकर और उसमें लोहा आदि निर्गति वस्तुओं को देखकर समझदार आदमी समझ सकता है कि उसको किसी बलवान् ने चलाया है। क्योंकि लोहे में चलने की शक्ति नहीं चाहे वहाँ पर घड़ीकर्त्ता दृष्टि न आये, परन्तु घड़ी का काम उसकी सत्ता का प्रकाश करता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा जीवात्मा के भीतर ही दृष्टिगत होता है, बाहर प्रकृति में दृष्टि नहीं आता। यदि मालूम नहीं होता, तो होने का क्या प्रमाण ?

उत्तर—परमात्मा प्रकृति में भी है, जिसका प्रमाण प्रकृति में नियमानुकूल संयोग तथा वियोग होता है। यद्यपि संयोग वियोग दो विपरीत गुण हैं, जो किसी एक वस्तु के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, अतः वह नैमित्तिक ही मानने पड़ते हैं। और कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो परमाणुओं को पकड़ कर संयुक्त अथवा वियुक्त कर सके और न पकड़ने का कोई शस्त्र दृष्टि पड़ता है। सुतराम् वह चलने वाला उससे भीतर ही मानना

पड़ता। क्योंकि गति दो ही प्रकार से आ सकती है। या तो प्राणादि भीतर से दें, या कोई बाहर से खींचे; अतः मानना पड़ता है कि गति भीतर से आती है। आकाश में परमाणु आदि के न होने से प्राणादि रह नहीं सकते। अतः परमात्मा ही से मानना पड़ता है। प्रकृति के मलिन होने से उसके भीतर रहने वाले परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब समस्त पृथिवी पर पड़ता है, परन्तु देखा उसी स्थान में जाता है, जहाँ निर्मल जल या दर्पणादि हों। अतः परमात्मा के दर्शन आत्मा में ही हो सकते हैं।

पंचम वल्ली समाप्तः।



अथ षष्ठम् वल्ली ।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थःसनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥१।१०२॥

प० क्र०—(ऊर्ध्वमूलः) ऊपर है जड़ जिसकी । (अवाक्शाखः) नीचे की ओर जिसकी शाखा हैं । (एषः) यह मनुष्य शरीर जो दीखता है । (अश्वत्थः) पीपल के पेड़ की भाँति । (सनातनः) नित्य रहने वाला । (तदेव) वही । (शुक्रम्) शुद्ध जगत् का कारण । (तत्) वह । (ब्रह्म) सब से बड़ा । (तदेव) वही । (अमृतम्) नाश रहित । (उच्यते) कहलाता है । (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में । (लोकाः) लोक । (आश्रिताः) ब्रह्म ही सब लोकों का आधार है । (सर्वे) सब (तत् उ) उस ब्रह्म को । (न) नहीं । (अत्येति) उल्लंघन करता । (कश्चन) कोई ।

अर्थ—यह मनुष्य का शरीर ऐसा वृक्ष है, जिस की जड़ ऊपर को होती है और शाखा नीचे की ओर हैं । और यह वृक्ष सदा से सब वृक्षों के विपरीत ऐसा ही बनता है इस शरीर का कारण वही ब्रह्म है, जो सब से बड़ा होने पर भी नाश

रहित है, जिस के आधार से यह सम्पूर्ण जगत् स्थापित है । कोई इस के नियम को तोड़ नहीं सकता ।

प्रश्न—इस वृक्ष अर्थात् शरीर का मूल क्या है, जो ऊपर को है ?

उत्तर—शिर इस वृक्ष की जड़ है और उदरादि इस का मोटा तना है, जो टांगों से दो भागों में विभाजित होता है । पांव और उँगलियों इत्यादि और हाथ सब इस की शाखा हैं ।

प्रश्न—शरीर को वृक्ष और शिर को जड़ और शेष भाग को शाखा नाम क्यों रक्खा ?

उत्तर—शरीरवृक्ष की भांति सूखने वाला है जिस प्रकार वृक्ष का नाश होता है । इसी प्रकार शरीर का भी नाश होता है । यदि शिर को नीचे कर के (शरीर) खड़ा किया जावे, तो यह शरीर वृक्षानुकूल ही प्रतीत होगा । अतिरिक्त इस के रस वृक्ष में जड़ से पहुंचा करता है, इस शरीर को भी शिरके द्वारा भोजन पहुंचता है, इस कारण शिर ही इस शरीर का मूल है । दूसरे प्रत्येक कर्म जो किया जाता है, उसका मूल ज्ञान है और कर्म शाखा है । विना ज्ञान के कोई कर्म ठीक प्रकार हो नहीं सकता । और सब ज्ञानेन्द्रियां शिर में हैं । इस कारण जिस कर्म के लिये यह शरीर बना है, उस का मूल सिर में है । और शेष कर्मेन्द्रियां जो शाखा रूप हैं, शरीर के नीचे के भागों में हैं । इस प्रकार और बहुत से कारण हैं, जिन के कारण शिर को मूल और शेष शरीर के भाग शाखा कहला सकते हैं ।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्र मुद्यतं य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति ॥ २ । १०३ ॥

प० क्र०—(यद् इदम्) यह जो प्रत्यक्ष देख पड़ता है। (किं) बहुत कम (जगत्) जो उत्पन्न और नाश वाला है। (सर्वम्) सब। (प्राणेः) प्राण में गति होने से। (एजति) अपने कर्म के लिये हरकत करता है। (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ। (महद्भयम्) भयंकर। (वज्रम्) वज्र। (उद्यतम्) जन्म मरण का कारण है। (यः) जो मनुष्य। (एतद्) इस बातको। (विदुः) जानते हैं। (अमृतः) मुक्ति प्राप्त करने वाले। (ते) वह। (भवन्ति) होते हैं।

अर्थ—यह जगत् जो परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और जो परमात्मा से अत्यन्त छोटा है, वह जीवों के जीवन का कारण परमात्मा की सत्ता के कारण से है। और उसीके कारण सम्पूर्ण जगत् में गति-शक्ति पाई जाती है। जिस प्रकार घड़ी में जो चाल दृष्टिगोचर होती है, प्रत्यक्ष में तो वह चाल घड़ी के पुरजों के एक दूसरे के सम्बन्ध से मालूम होती है। वास्तव में वह चाल घड़ीकर्त्ता की गति के कारण है जो वह चाबी देकर और घड़ी के पुरजों में नियम स्थापित कर के देता है, उसीसे होती है। इसी प्रकार जो गति-शक्ति संसार में दृष्टि आती है, वह जड़ और स्थिर प्रकृति के कारण से नहीं, किन्तु परमात्मा के कारण से है। यह जगत् महा भयंकर है जिस प्रकार वज्रघात से चोट लगती है, इसी प्रकार जगत् के कार्यों में भय बना रहता है। बलहीनों को बलवानों से भय होता है। धनी पुरुषों को तस्कर, धूर्त और राजा से भय होता है। छोटे

राजाओं को बड़े राजा से डर लगता है और बड़े राजा को मृत्यु से भय होता है। सारांश यह कि संसार में कोई ऐसा जीव नहीं जो भयभीत न हो। क्योंकि यह उत्पन्न होने वाला शरीर नाश होने वाला है और किसी बड़े से बड़े जीव अथवा राजा की शक्ति नहीं, जो इस शरीर को मौत से बचा सके। जो मनुष्य इस बात को जान जाते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है और संसार के पदार्थों में मन का लगाना दुःख का कारण है। केवल एक ईश्वर ही है, जिसकी उपासना से दुःख से बच सकते हैं। इस कारण वह जगत् से स्नेह त्याग कर परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं। और जो परमात्मा को जानते हैं, वह मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या जगत् में जो गति-शक्ति है, वह स्वाभाविक नहीं। जहाँ विज्ञान से पता लगता है, गति प्रकृति के भीतर से ही प्रकट होती है; कोई बाहर से गति देने वाला दृष्टि नहीं पड़ता।

उत्तर—ईश्वर सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबके भीतर ही विद्यमान है। अतः सब के भीतर से जो गति दृष्टि आती है, वह ईश्वर के कारण से है। ईश्वर एक देशी और स्थूल नहीं, जो बाहर से हिलता हुआ दृष्टि पड़े। जिस प्रकार शरीर को चलाने वाला जीवात्मा भीतर से हिलाता है। इसी प्रकार परमात्मा न जीवात्मा गति देता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—शरीर के भीतर जो चाल देखते हैं, वह लोहू की गति के कारण से है और जगत् में जो गति शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह आकर्षण के कारण से है। न कोई जीवात्मा है, न परमात्मा है।

उत्तर—यदि शरीर के भीतर अकेली गति ही होती तो कह सकते थे कि इस गति का कारण लोहू का वेग है। परन्तु शरीर में गति के साथ ज्ञान भी पाया जाता है कि कोई ज्ञान के साथ हिलाता है। तीन प्रकार की गति जो इच्छा के कारण से पाई जाती है, वह लोहू के वेग से नहीं हो सकती। अर्थात् करना, न करना, उलटा करना। जिस प्रकार इञ्जन (यंजन) में गति स्टीम (भाप) के कारण से होती है, परन्तु वह एक ही प्रकार की हो सकती है परन्तु ड्राइवर की विद्यमानता से वह तीन प्रकार की हो जाती है। यदि इञ्जन में ड्राइवर विद्यमान न हो, तो तीन प्रकार की गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार शरीर के भीतर तीन प्रकार की गति जीवात्मा की विद्यमानता से होती है। यदि जगत् में आकर्षण से गति होती, तो वह एक ही प्रकार की होती। जगत् में जो तीन प्रकार की गति है अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिर रहना और नाश होना; यह परमात्मा की सत्ता का प्रमाण देता है। आकर्षण तो परमात्मा के नियम से उत्पन्न होता है; जैसे घड़ी के पर (पुरजों) में जो आकर्षण है, वह लोहे के कारण से नहीं, किन्तु वह घड़ीकर्त्ता के लोहे को ऐसा बनाने के कारण से है। परमाणुओं मे तो आकर्षण मानकर कोई संयोग कर ही नहीं सकता।

क्योंकि समान शक्ति रखने वाले पदार्थ, एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं, तो संयोग नहीं हो सकता। जब बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खींचे, तो संयोग हो सकता है। सो परमाणुओं को इस नियम से मिलाना कि उनमें आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जावे। अतिरिक्त परमात्मा की शक्ति सम्भव नहीं। जो मनुष्य बिना ईश्वर के जगत् के नियम को चलाना चाहते हैं वह बहुत थोड़े विचार के मनुष्य हैं। नहीं तो बुद्धिमान जानता

है कि जिस घड़ी में जो क्रियात्मक गति किसी नियत समय तक रहने वाली है, जिससे पहले बता सकते हैं कि अमुक समय यह सुई इस स्थान पर होगी, और अमुक सुई इस स्थान पर, यह सब घड़ीकर्त्ता के नियम से चाबी देने के कारण से है, ऐसे जगत् के सब तारे जो नियम के भीतर चक्कर लगाते हैं। जिस से विद्वान् बता सकता है कि अमुक दिवस और समय में सूर्य ग्रहण होगा, अमुक समय में चन्द्र-ग्रहण होगा। निदान, जिस जिस प्रकार इञ्जन की स्टीम के अनुकूल तीन प्रकार की चाल ड्राइवर की सत्ता का प्रमाण हैं। अकेली स्टीम से होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार शरीर में तीन प्रकार की चाल जीव सत्ता का प्रमाण है। अकेले प्राणों से अथवा लोहू से यह गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जगत् में नियमानुकूल जो कार्य हो रहा है। जिसका बँधा हुआ प्रत्येक लोक कार्य कर रहा है, वह परमात्मा की क्रियाशीलता का प्रमाण है। इसको अगली श्रुति में और भी दर्शाते हैं।

**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भया-
दिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥ १०४ ॥**

प० क्र०—(भयात्) भय से। (अस्य) इस ब्रह्म के। (अग्निः) आग। (तपति) जलाने के नियम का पालन करती या ऊपर की ओर को चलती है। (भयात्) भय से। (तपति) जलाता है, या प्रकाश देता है, या हरकत करता है। (सूर्य) सूर्य। (भयात्) भय से या नियम से। (इन्द्रः) विद्युत का काम करती है। (च) और। (वायुः) वायु चलती है। (च) और। (मृत्युः) मौत। (धावति) दौड़ता है। (पंचमः) पांचवें।

अर्थ—परमात्मा के नियम से पंच पदार्थ गति करते हैं। कोई उनको इस नयमि से अलग नहीं कर सकता। परन्तु परमात्मा का भय ऐसा बली है कि परमात्मा के नियम से अग्नि की लपट ऊपर को चलती है। यदि लाखों मनुष्य यत्न करें, तो वह लपट नीचे की ओर नहीं चल सकती। परमात्मा के भीतर सूर्य काम करता है। जिस समय सूर्य दश बजे का हो, यदि करोड़ आदमी या जगत् के बड़े बड़े महाराजे यत्न करें, तो वह सूर्य ११ बजे या १२ बजे नहीं आ सकता। परमात्मा के नियम में विद्युत चलती है। जो बड़ी से बड़ी वस्तु को फोड़ कर निकल जाती है। कोई इसको रोक कर उसकी गति को बदल नहीं सकता। परमात्मा के नियम में वायु चलता है, जिस समय पूर्व की ओर चल रहा हो। कोई उस को पश्चिम की ओर नहीं फेर सकता। परमात्मा के नियम में मृत्यु काम करती है, बड़े बड़े राजा, लाखों सेनाओं, गढ़ों, तोपों, डायनामेट विष्फोटक के गोलों की विद्यमानता में एक क्षण के लिये भी मृत्यु को रोक नहीं सकते। मृत्यु परमात्मा का ऐसा वारन्ट (आदेश) है कि सब से बढ़े महाराजाओं को भी पकड़ ले जाता है। निदान परमात्मा के नियम कोरोकने की शक्ति किसी में नहीं। यों तो परमात्मा से विरोधी बहुत से नास्तिक हो चुके हैं, अब विद्यमान भी हैं, और होंगे भी, परन्तु यह शक्ति किसी में नहीं कि परमात्मा के वारण्ट मौत से बच सकें। सारी शक्ति और बल परमात्मा के नियम के भीतर ही काम दे सकता है। उसके नियम के विरुद्ध चलने से सब नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—श्रुति ने बताया है कि विजिली परमात्मा के नियम में चलती है। परन्तु बहुत से मनुष्य हैं, जो पदार्थ विद्या के बल से विद्युत् से काम लेते हैं। उस को तार इत्यादि में बन्द करके निज नियम में चलाते हैं।

उत्तर—जिन पदार्थों में विद्युत को कायम रखने की शक्ति परमात्मा ने रक्खी है, उस से वह काम लेते हैं। इस लिये वह परमात्मा के नियम के भीतर काम करते, बाहर नहीं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य शस्त्र से किसी को मार देते हैं, यद्यपि उस समय उसकी मृत्यु नहीं।

उत्तर—जिस समय मृत्यु न आई हो, उस समय कोई शस्त्र काम नहीं देता। इसकी साक्षी महारानी विक्टोरिया के जीवन से मिलती है, सैंकड़ों लोगों ने गोलियां चलाईं, परन्तु एक भी न लगी और फ्रांस के प्रेजीडेण्ट आदि एक ही गोली से मर गये।

इह चेदशकद्बोद्धुम्प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४।१०५ ॥

प० क्र०—(इह) इस शरीर में। (चेत्) यदि मनुष्य। (अशकत्) जान सके, संपूर्ण जगत् में जो क्रिया हो रही हैं, वह सब ब्रह्म की शक्ति हैं। (बोद्धुम्) जान। (प्राक्) पहिले। (शरीरस्य) शरीर के। (विस्रसः) नाश होने के। (ततः) इस ज्ञान से। (सर्गेषु) जगत् के आरम्भ में। (लोकेषु) पृथ्वी आदि लोकों में। (शरीरत्वाय) शरीर के कामों में (कल्पते) समर्थ होता है।

अर्थ—यदि मनुष्य में, इस जन्म में इस बात के जानने की योग्यता हो जावे कि सब जगत् में जो क्रिया हो रही है, वह ब्रह्म की शक्ति से हो रही है। क्योंकि वह प्रकृति स्वाभाविक क्रिया की दशा में नहीं मिल सकती। और न केवल स्थिर होने की दशा में मिल सकती है। इस लिये शरीर के नाश से पहले

उसका जान लेना आवश्यक है। और जब तक मनुष्य उसको न जान जाय, तो उसका परिणाम यह होता है कि सृष्टि के आरम्भ में जब जगत् के बनाने का समय होता है और पृथ्वी आदि लोक बनते हैं, तो वह शरीर को धारण करता है। अर्थात् जो जान जाते हैं, वह तो मुक्त हो जाते हैं। और जो नहीं जानते हैं, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते हैं। वास्तव में मनुष्य का शरीर सृष्टि की अन्तिम (श्रेणी) सीढ़ी है। जो सब से नीचे पैदा होता है, और सब से पहले नाश होता है। यदि इस श्रेणी से मार्ग पर पहुँच गया, तो सफल हो गया, यदि गिर गया, तो नीचे मार्ग में जा पड़ा। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अवश्य विचार रखना चाहिये, कि हम अन्तिम मार्ग पर आ पहुँचे हैं, जहाँ का थोड़ा सा आलस्य सब परिश्रम को निष्फल कर देगा, जितना भी शीघ्र सम्भव हो, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं वह न तो जीवात्मा के लिये कभी लाभकारी थे, न अब हैं, और न आगे होंगे। क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों का प्रभाव आत्मा पर हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति स्थूल और आत्मा सूक्ष्म है।

प्रश्न—सारे कर्म तो प्राकृतिक यन्त्रों से होते हैं फिर प्रकृति जीवात्मा के लिये क्यों लाभदायक नहीं ?

उत्तर—कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धियाँ पवित्रता होती हैं। यदि कर्म बुरा किया जावेगा, तो मन पर अशुभ संस्कार पड़ेंगे, जिससे मन दूषित हो जावेगा। यदि कर्म शुभ और निष्काम होगा, तो मन शुद्ध हो जावेगा। यदि निष्काम और शुभ कर्म होंगे, तो संस्कार शुभ होंगे, जिससे सांसारिक सुख होगा। कर्म से मुक्ति या आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा की उन्नति केवल परमात्मा के ज्ञान और उपासना से होती है।

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ । १०६ ॥

प० क्र०—(यथा) जैसे । (आदर्शे) दर्पण में अपना मुख आदि देखता । (तथा) वैसे ही । (आत्मनि) शुद्ध निर्मल बुद्धि रूप अन्तःकरण में ध्यान योग से आत्मा देखता है । (यथा) जैसे । (स्वप्ने) स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों और वस्तु का सम्बन्ध होने पर भी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दीखते वा सुन पड़ते हैं । (तथा) वैसे । (पितृलोके) ज्ञानी जनों के किये उपदेश में बँधे हुए ध्यान से आत्मा देखता । (यथा) जैसे । (अप्सु) जल में । (परीवददृशे) सब ओर से गोलाकार स्पष्ट अवयवों के प्रतीत के बिना शरीर देखा जाता है । (तथा) वैसे । (गन्धर्व लोके) साम गाने वालों ने किये विज्ञान सम्बन्ध गान में जिस ध्यान से आत्मा देखा । (छाया-तपयोरिव) जैसे छाया और घाम में स्पष्ट भेद प्रतीत होता वैसे । (ब्रह्मलोके) ब्रह्मांड । (मूर्द्धा) मस्तक में किये निर्बीज, निर्विकल्प समाधि से बुद्धि और पुरुष और पुरुष का स्पष्ट भेद देख पड़ता है ।

अर्थ—सब ध्यानों में मूर्द्धा में किया ध्यान ही सब से उत्तम है । वहाँ समाधि जहाँ ब्रह्मरूप आत्मा को स्पष्ट जान के मनुष्य मुक्त होता है ।*

---

* "मूर्द्धा ज्योति दर्शनम्" । योग शास्त्र का वचन है ।

—अनुवादक

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६।१०॥

प० क्र०—(इन्द्रियाणां) आँख, नाक, कान इत्यादि ज्ञान - इन्द्रियाँ और जिह्वा इत्यादि कर्म इन्द्रियों की। (पृथग्भावम्) पृथक् सत्ता को अर्थात् यह जीवात्मा से पृथक् हैं, आत्मा नहीं। (उदयास्तमयौ) उन्नति अवनति जन्म मरण वाली। (च) और (यत्) जो हैं अर्थात् इन्द्रिय उत्पन्न और नाश होती हैं। (पृथक्) अपने स्वरूप से पृथक्। (उत्पद्यमानानाम्) पृथक् और उत्पन्न हुई वस्तु को। (मत्वा) जान कर। (धीरः) बुद्धिमान्। (न) नहीं। (शोचति) शोच करता है।

अर्थ—जब तक मनुष्य इन्द्रियों को अपना स्वरूप जानता है, तब ही तक दुःख और शोच रहता है क्योंकि इन्द्रियाँ उत्पन्न होने से विकार वाली हैं। जिस समय मनुष्य को यह विचार हो जाता है कि मैं जीवात्मा हूँ, जो नित्य हूँ। और यह इन्द्रियाँ उत्पन्न और नाश होने वाली हैं, यह मेरा स्वरूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यह इन्द्रियाँ मेरे स्वरूप से पृथक् हैं। क्योंकि कोई उत्पन्न होने वाली नित्य के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकती। जब इन्द्रियाँ मुझ से पृथक् हैं, तो इनके विकारों से मेरी लाभ हानि ही क्या है। मैं नित्य हूँ, मुझ में तो कोई विकार नहीं, परन्तु यह शुद्ध और वह विकार वाली हैं। अतः मुझे अपने कर्त्तव्य का यथावत् पालन उचित है। इन्द्रियों के विकार में लिप्त होना नितान्त भूल है। निदान, वह शरीर और इन्द्रियों से निश्चिन्त हो जाता है। नित्यात्मा को किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती, क्योंक समस्त क्लेश जन्म औररण मर नाशवान् इन्द्रियों द्वारा ही हैं।

प्रश्न—इन्द्रियों को अपने स्वरूप से पृथक् किस प्रकार जान सकता है।

उत्तर—हम नित्यप्रति अपने जीवन में दो अवस्थाओं का अवलोकन करते हैं। एक जागृतावस्था, इस अवस्था में इन्द्रियों को निज स्वरूप मानते हैं, तथा इनके विषयों को भोगते हैं। नेत्र से सुन्दर रूप का अवलोकन करते हैं। श्रवण से श्रेष्ठ शब्द सुनते हैं। नासिका से सुगन्ध सूंघते हैं। रसना-इन्द्रिय से रस ग्रहण करते हैं। उस समय सम्पूर्ण क्लेश भी आ जाते हैं अर्थात् ईर्षा, द्वेप, तृष्णा, मैथुन इत्यादि। और दूसरी सुषुप्ति की अवस्था जिसमें कोई इन्द्रिय विषय नहीं होते, तो उस समय किसी प्रकार का क्लेश और शोच नहीं होता। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ जो आत्मा के स्वरूप से पृथक् हैं, पृथक् होती हैं। उनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वरीय-नियम ने इस उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है कि जिस समय इन्द्रियों में अहङ्कार होगा, अर्थात् जीव, उनको मैं अथवा मेरा स्वीकार करेगा, तब सब प्रकार के क्लेश ग्रसित करेंगे। जहाँ उनके अहङ्कार का त्याग होगा, तो सब दुःख भी त्याग देंगे।

प्रश्न—इन्द्रियों के अनित्य और आत्मा के नित्य होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इन्द्रियों में विकार हैं, जिससे उनकी शक्ति तारतम्य होती है, और निर्विकार वाली से उत्पन्न होती है, क्योंकि षट्विकार हैं। प्रथम विकार उत्पन्न होना है; जन्म से ही वृद्ध हो सकती हैं, अन्य प्रकार से नहीं। और जीवात्मा विकारों से नितांत शून्य है, अतः वह नित्य है।

प्रश्न—जीव की शक्ति में भी तारतम्य (न्यूनाधिकता) देखी जाती है। जिससे निश्चय होता है, यह भी उत्पन्न होने वाला है।

उत्तर—चैतन्य की शक्ति यन्त्रों के साथ न्यूनाधिक विदित होती है, वास्तव में नहीं। दूरवीक्षण के द्वारा नेत्र दूर की वस्तु देखते हैं। अणुवीक्षण के द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखते हैं। साधारण प्रकार से न सूक्ष्म दीखती है, न दूर। इससे आंख की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, किंतु यंत्रों में अन्तर है, और जीवात्मा अखंड है। इस कारण यंत्रों की तारतम्यता से कार्य में अन्तर आने से, वह विकार वाला नहीं कहला सकता।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्वादधि महानात्म महतोऽव्यक्त मुत्तमम्॥७। १०८॥

प० क्र०—(इंद्रियेभ्यः) इंद्रिय और इसके अर्थ से। (परम्) सूक्ष्म है। (मनः) मन से। (मनसः) मन से (सत्वम्) बुद्धि। (उत्तमम्) उत्तम है। (सत्वात्) बुद्ध से। (अधि) उत्तम या सूक्ष्म। (महानात्मा) सृष्टि का मन है। (महतः) सृष्टि के मन से। (अव्यक्तम्) प्रकृति। (उत्तमम्) उत्तम या सूक्ष्म है।

अर्थ—इन्द्रिय और विषयों से मन सूक्ष्म है। और मन से भी अधिक बुद्धि सूक्ष्म है, क्योंकि वह मन की प्रकृति है। और बुद्धि से शूक्ष्म ब्रह्मांड का मन है। और ब्रह्मांड के मन से सूक्ष्म प्रकृति है।

प्रश्न—तुम ने यहां मन के दो भेद किये हैं, एक शरीर का मन, दूसरे ब्रह्मांड का मन। यह विभाग किस प्रकार किया?

उत्तर—एक स्थान पर छांदोग्य उपनिषद् ने मन का अन्न से बनना स्वीकार किया है। दूसरे साँख्य में मन का बनना प्रकृति से, जिसको महत् के नाम से कहा है। भोजन से बना हुआ मन छोटा, और शरीर के भीतर हो सकता है; बाहर

नहीं। और प्रकृति से बना हुआ मन, जिस के महापरिमाण ...ता होने से, महत्व बन गया है। अर्थात् जो ब्रह्मांड का मन होने से, महत् नाम से युक्त है। परमात्मा को पुरुष कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्मांड कहला सकता है। इस ब्रह्मांड के शरीर में सांख्य-सिद्धांतानुकूल जन्म के लिये अहंकार की आवश्यकता है; और अहंकार मन का कार्य है। जब तक मन न हो, अहंकार हो नहीं सकता।

प्रश्न—ब्रह्म को अहंकार की क्या आ आवश्यकता है? ऐसा मानना ठीक नहीं।

उत्तर—बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि इस सृष्टि से पहले ब्रह्म था, उसने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। जिसको लेकर आज कल के नवीन वेदांती यजुर्वेद का महावाक्य कहते हुए, जीव-ब्रह्म की एकता कहते हैं।

प्रश्न—क्या उपनिषद् ने अपनी ओर से ही लिख दिया, अथवा इसका मूल वेद से भी मिलता है।

उत्तर—यजुर्वेद अध्याय ४० के मन्त्र १७वें में परमात्मा ने कहा है कि जो पुरुष सूर्य के भीतर भी प्रकाश करता है, वह मैं हूं।*

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥८।१०६॥

प० क्र०—(अव्यक्तात्) जगत के कारण प्रकृति से। (तु) भी। (परः) सूक्ष्म। (पुरुष) परमात्मा है। (व्यापकः)

*योसावादित्ये पुरुषः सो सावऽहम्। अनुवादक।

सब में व्यापक अर्थात् सब के बाहर भीतर । (अलिङ्गः) जो इन्द्रियों के विषयों से परे है। (एव) भी। (च) और। (यत्) जिसको। (ज्ञात्वा) जान कर। (मुच्यते) छोड़ जाता है। (जन्तुः) जीवात्मा। (अमृतत्वं) अमृत पद को। (च) और। (गच्छति) जाता अर्थात् प्राप्त करता है।

अर्थ—प्रकृति से सूक्ष्म परमात्मा है, और वह प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में व्यापक है। कोई वस्तु नहीं, जिसके भीतर बाहर परमात्मा विद्यमान न हो। वह सबसे सूक्ष्म है, इस कारण उसका कोई चिन्ह इंद्रियों से अनुभव नहीं हो सकता। केवल एक वही है, जिसके जानने से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है; और अमृत अर्थात् मृत्यु-रहित अवस्था को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मुक्ति को अमृत क्यों कहा ? क्योंकि तुम मुक्ति से लौटना स्वीकार करते हो।

उत्तर—जीवात्मा की दो अवस्था हैं, एक वह जिसका परिणाम मृत्यु होता है, जिसको मृत्यु कहा अर्थात् पुनर्जन्म के द्वारा शरीर में प्रवेश करना है। दूसरे वह जिसका परिणाम जन्म है, मृत्यु नहीं, जिसको अमृत कहा गया है। अर्थात् "बिना शरीर, भीतर रहने वाले परमात्मा से जिसमें आनन्द प्राप्त किया जाता है जिसको मुक्ति" कहते हैं। यदि मुक्ति में शरीर होता, तो उसका परिणाम मृत्यु होता। मुक्ति में प्राकृतिक शरीर नहीं होता, जिसके वियोग का नाम मृत्यु हो, अतः उसका नाम अमृत रक्खा गया।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मुक्ति से लौटने से इनकार करते हैं, उनका कथन है, जिससे लौट आये, वह मुक्ति ही क्या है ?

उत्तर—मुक्ति के अर्थ छूटना है छूटता वह है, जो पहले बँधा हो। बँधन के अर्थ बँधना है, बँधता वह है जो स्वतन्त्र है। अतः यह शब्द ही बता रहे हैं कि मुक्त बँधता है। यदि मुक्ति को बँधन न माना जावे, तो बँधन स्वाभाविक मानना पड़ेगा। इस कारण मुक्ति का होना असम्भव हो जावेगा। निदान जो लोग मुक्ति से लौट आने को नहीं मानते। उन्होंने इस सिद्धांत को विचारा नहीं और शंकराचार्योदि मुक्ति से लौटना मानते हैं।*

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।१०॥

प० क्र०—(न) नहीं। (सन्दृशे) सामने। (तिष्ठति) ठहरना, खड़ा होना। (रूपम्) रूप। (अस्य) उस ब्रह्म का। (न) नहीं। (चक्षुषा) नेत्र से। (पश्यति) देखता। (कश्चन) कोई मनुष्य। (एनम्) उस ब्रह्म को। (हृदा) रोहे में रहने वाले। (मनीषा) बुद्धि रूप। (मनसः) सत्यासत्य विचार शक्ति से। (अभिक्लृप्तः) प्रत्येक स्थान और दिशा से प्रकाशक परमात्मा जाना जा सकता है। (यः) जो मनुष्य। (एतत्) इस परमात्मा को। (विदुः) जान जाते हैं। (अमृतः) मृत्यु रहित। (ते) पुरुष। (भवन्ति) होते हैं।

अर्थ—किसी मनुष्य के नेत्रों के सम्मुख उस परमात्मा का कोई रङ्ग और रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये नेत्रों

---

* देखो गीता पर आनन्द गिरि की टीका।

—अनुवादक

से कोई मनुष्य परमात्मा को देख नहीं सकता। क्योंकि नेत्र उसी वस्तु को देख सकते हैं, जिसमें रूप हो किसी रूप से रहित वस्तु को नहीं देख सकते। अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जब वह रूप से पृथक् है, तो जाना किस प्रकार होता है? इसके उत्तर में कहते हैं। *

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्ठते तामाहुः परमांगतिम्।१०।११

प० क०—(यदा) जब। (पञ्च) पाञ्च। (ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने अपने विषय देश से हटाये गये, सर्वत्रादि ज्ञान इन्द्रिय। (मनसा) मन के साथ। (अवतिष्ठन्ते चञ्चलता रहित स्थिति होते हैं। (च) और जब। (बुद्धि) सतोगुण युक्त बुद्धि। (न विचेष्टते) कार्यों में विरोध नहीं चलती, विद्वान् लोग। (ताम्) उस। (परमाम्) सर्वोत्तम। (गतिम्) अवस्था की जीवन-मुक्ति दशा। (आहुः) कहते हैं।

अर्थ—जब मनुष्य के इन्द्रिय रूप निकलने वाली बाह्यवृत्ति और भीतर अन्तःकरण में ठहरने वाली बुद्धिरूप वृत्ति, सब उपाधि रहित शांति होती है, किसी प्रकार अपने नियत स्वभाव से विरुद्ध नहीं होती, तब जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी जीवात्मा के लिए, मुक्ति का द्वार खुला समझना चाहिये।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिर मिन्द्रिय धारणम्
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ
॥ ११ । ११२ ॥

---

* श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने यहाँ तक भाष्य कर पाया था शेष कठोपनिषद् के लिये अर्थ किया गया है।

—अनुवाद

प० क्र०—(ताम्) उस। (स्थिराम्) अचल। (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों की धारण रूप दशा को ज्ञानी लोग। (योगम् इति) योग सिद्धि या योग का फल है, ऐसा। (मन्यन्ते) मानते हैं। (तदा) तब योगी। (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित उदासीन। (भवति) होता है। (हि) जिस कारण। (योगः) योग सिद्धि होने पर। (प्रभवाप्ययौ) पहले दुष्ट संस्कारों का विनाश और सतोगुण को वृद्धिकारक कल्याण कारी शुद्ध नवीन संस्कारों की उत्पत्ति होती है।

अर्थ—जब योगाभ्यास से सब इन्द्रिया दृढ़ रूप से स्थिर हुई जीत ले जाती हैं, तब योग सिद्धि होने का अनुमान निश्चय हो जाता है। योग की प्रवृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पूर्व दुष्ट संस्कारों का अन्तर्ध्यान हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमाद रहित द्रष्टा जीवात्मा यथार्थ रूप से सब को जानता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२। ११३॥

प० क्र०—(नैववाचा) न तो वाणी से। (मनसा) न मन से। (न चक्षुषा) न नेत्र से और न अन्य इन्द्रियों से ब्रह्म। (प्राप्तुं) प्राप्त। (शक्यः) हो सकता है किंतु। (अस्तीति) ब्रह्म है ऐसा। (ब्रुवतः) कहते हुये से। (अन्यत्र) दूसरे प्रसङ्ग में। (तत्) वह। (कथम्) किस प्रकार। (उपलभ्यते) प्राप्त होता है। अर्थात् किसी प्रकार नहीं अर्थात् कोई सब का नियन्ता सब का उत्पादक, सब का आधार, सब का स्वामी है, जिसका स्वामी कोई न हो। क्योंकि

यह काम विना कर्त्ता के नहीं हो सकते, इस प्रकार उसकी विद्यमानता का निश्चय कर ध्यान से वह ईश्वर को प्राप्त हो सकता है।

अर्थ—शब्दादि विषय इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। परन्तु परमैश्वर शब्दादि विषयों में से कोई भी एक विषय नहीं है, जो कि इन्द्रियों से ग्रहण किया जावे। आस्तिक लोग कहते हैं, कि परोक्ष परमात्मा कोई अवश्य है। क्योंकि वस्तुओं में बहु प्रकार का न्यूनाधिक भाव मिलता है, न्यूनाधिक होने की कहीं सीमा या समाप्ति नहीं देखी जाती और सीमा अवश्य होना चाहिये। संसार में एक से अधिक दूसरा विद्वान् वा धनवान् दिखाई देता है, जिससे अधिकविद्वान् अथवा ऐश्वर्य वाला कोई नहीं। जहां सब न्यूनाधिक भावों की सीमा या समाप्ति हो जाती है, वहीं परमेश्वर है। इस जगत् का कर्ता कोई अवश्य है। क्योंकि जगत् एक प्रकार की बनावट है। घड़े आदि के तुल्य जैसे घट आदि बनावटी पदार्थ कुम्हार आदि बनानेवाले के बिना, नहीं बन सकते। इस से कार्य होने से इस जगत् का कर्ता ईश्वर है। क्योंकि अनन्त शिल्पकारी और नाना प्रकार की रचना से युक्त इस जगत् का बनाना किसी अल्पज्ञ मनुष्य का काम नहीं इससे इस सब प्रत्यक्ष जगत् का रचने वाला विद्वान् सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् जो कोई है, वही परमेश्वर है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३। ११४॥

प० क्र०—(उभयोः) होने न होने दोनों में। (तत्त्वभावेन) आकाशादि पञ्चतत्त्व सम्बन्धी कार्य वस्तुओं की विद्यमानता।

(च) और सतोगुण रूप सूक्ष्म बुद्धि से इस सबका नियन्ता परोक्ष कोई ईश्वर। (अस्ति) है। (इत्येव) इसी प्रकार। (उपलब्धव्यः) प्राप्त होने के योग्य है, यदि न हो, तो पञ्च तत्त्व किसी नियन्ता के बिना निरालम्ब नियम पूर्वक कैसे ठहरें। (अस्तीत्येव) है ऐसे ही विश्वास से। (उपलब्धस्य) ध्यान से प्राप्त होने वाले मनुष्य का। (तत्त्वभावः) चैतन्य शरीर और इन्द्रियों का समुदाय। (प्रसीदति) शोक मोह रहित प्रसन्न होता है।

अर्थ—परमात्मा के ध्यान में निष्ठ आस्तिक पुरुष का ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवद्गीता में कहा है कि चित्त की शुद्धि सम्पन्न होने से उसमें सब दुःखों की हानि हो जाती है। और जिस का चित्त प्रसन्न व निर्मल, निष्कलंक है, उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है। ऐसा होने से नास्तिक को सुख कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि वह अस्ति नास्ति दोनों में से एक अस्ति को मानता हुआ ही कल्याण का भागी हो सकता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥१५॥

प० क्र०—(यः) जो। (अस्य) इस जीवात्मा के। (हृदि) अन्तःकरण में। (श्रिताः) वासनाओं से बसाई हुई। (कामः) मैथुन की अभिलाषा। (सर्वे) सब हैं वे। (प्रमुच्यन्ते) जब वैराग्य के सेवन से दूर हो जाती हैं। (अथ) तब। (मर्त्यः) मनुष्य। (अमृतः) मुक्त। (भवति) होता और। (अत्र) इस मुक्त दशा में। (ब्रह्म) ब्रह्म को। (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है।

अर्थ—जब तक विषय भोगों में राग और उस से विपरीत में द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। जब अनादि काल से संचित विषय की कामना योगाभ्यास द्वारा हृदय से दूर हो जाती है, तब विवेकि पुरुष जन्म-मरण के प्रवाह रूप ग्राह से छूट ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृता भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥ ११६ ॥

प० क्र०—फिर इसी बात को दृढ़ करते हैं। (यदा) जब। (इह) इसी जन्म में। (हृदयस्य) अन्त-करण की। (सर्वे) सब। (ग्रन्थयः) गाँठें। (कि मैं बालक, युवा, वृद्ध, काना, गंजा, स्त्री, पुरुष,, नपुंसक हूँ मैं जन्मा हुआ मरूँगा और किसी को मार डालूँगा आदि वासना रूप रसों में दृढ़ता-पूर्वक लगी हुई। (प्रभिद्यन्ते) छूट जाती हैं, तो विचारता है कि यह बाल्यादि शरीर के धर्म हैं, मैं जीवात्मा शुद्ध नित्य हूँ, मैं स्वरूप से विकारी नहीं होता, ऐसा ज्ञान गाँठों का छूटना है। (अथ) तब। (मर्त्यः) मनुष्य। (अमृतः) मुक्त। (भवति) होता है। (एतावत्) इतना ही। (अनुशासनम्) शास्त्र की शिक्षा व उपदेश है, ऐसा करने से अनिष्ट को छोड़ कर इष्ट को प्राप्त करता होता है।

अर्थ—जब मनुष्य के हृदय के बन्धन छूट जाते हैं, तब वह मुक्त होता है। इससे हृदय के बन्धन छूटने के लिये बड़ा प्रयत्न करना चाहिये, इससे परे ज्ञानी को कुछ कर्त्तव्योपदेश नहीं है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥ १६ । ११७ ॥

प० क्र०—(हृदयस्य) हृदय में ठहरने वाली। (शतम्) सौ। (च) और। (एका) एक। (नाड्यः) नाड़ी में। (तासाम्) उनके बीच। (एका) सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के। (मूर्द्धानम्) मस्तक में। (अभिनसृताः) जा निकली है। (तया) उस नाड़ी के साथ। (ऊर्ध्वम्) एकादश द्वारों में जो ब्रह्माण्ड का छिद्र रक्खा है, उसके द्वारा। (आयन्) शरीर है, निकलता, मरता हुआ जीवात्मा। (अमृतत्त्वम्) मुक्ति को। (एति) प्राप्त होता है, उस नाड़ी को छोड़ अर्थात् अन्य नाड़ी द्वारा मरा हुआ, संसार के प्रवाह को प्राप्त होता है।

अर्थ—अपने मरने का समय योगी पूर्व से ही जानता है। शरीर से निकलने का समय आने से पूर्व ही योगी अपने आत्मा को वश में करके, सुषुम्णा नाड़ी के साथ युक्त करे। उस नाड़ी द्वारा शरीर से निकला हुआ जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त होता है। जीव नाड़ियों के द्वारा ही निकलते हैं। अविद्या में फँसे हुए जीव नहीं जानते कि हम कौन हैं और कब और कैसे निकल जाते हैं। जिसने योगाभ्यास नहीं किया, वह मरण समय ब्रह्माण्ड द्वारा नहीं मर सकता, इस कारण पहिले ही योगाभ्यास करना चाहिये।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टिः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जा दिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रमम् तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ । ११८ ॥

प० क्र०—(अंगुष्ठमात्रः) उक्त प्रकार मे अंगुष्टमात्र स्थान में ठहरने वाला। (जनानाम्) प्राणियों के। (हृदये) हृदय

में। (सदा) सदा। (सन्निविष्टः) अवस्थित। (पुरुषः) शरीर इन्द्रियों के समुदाय का रक्षक। (अन्तरात्मा) जीवात्मा है। (तम्) उसको। (मुंजादिव) तोई छिलके से जैसे। (इपीकाम्) सींक व सिरकी को खींच लेते हैं। (धैर्येण) प्रमाद रहित होके धीरे धीरे। (प्रवृहेत्) पृथक् कर। (तम्) उस जीवात्मा को वास्तव स्वरूप से। (अमृतम्) अविनाशी स्वभाव से राग द्वेषादि दोष रहित। (शुक्रम्) पवित्र निर्मल। (विद्यात्) जाने। यहाँ पर दो वार पाठ ग्रन्थ-समाप्ति के लिये आया है।

अर्थ—जीवात्मा को सबसे अधिक प्रिय अपना शरीर है। अनादि काल से उस शरीर में सुख भोगे और भोगता है, इससे उसमें राग है, यही बन्धन और यही ग्रंथ है। अविद्या में ग्रसित यह जीव, शरीर से पृथक् होना नहीं चाहता और शरीर विवश छोड़ना पड़ेगा; ऐसा जान के बड़ा कष्ट मानता है। उस ऐसे हृदय में वास करते हुए अंगुष्टमात्र स्थान में स्थित जीवात्मा को योगाभ्यासादि साधनों को करके शरीर के बन्धनों से छुड़ा दे, जिससे फिर शरीर धारण करने की इच्छा न करे, किन्तु घृणा करे। यह उपनिषद् यहीं समाप्त होगया, यह दो बार पढ़ने से सूचित होता है।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्वि-मृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥११६॥

प० क्र०—(अथ) अब इस उपनिषद् में कही हुई ब्रह्म-विद्या का फल कहते हैं। (मृत्युप्रोक्तम्) यमाचार्य ने कही। (एताम्) इस। (विद्याम्) ब्रह्मविद्या को। (च) और

(कृतस्नम्) सम्पूर्ण सांगोपांग। (योगविधिम्) योग के विधान को। (नचिकेताः) नचिकेता आचार्य से। (लब्ध्वा) प्राप्त होके। (ब्रह्मप्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुआ। (विरजः) विरक्त और। (विमृत्युः) मृत्यु रहित जीवन्मुक्त। (अभूत) हुआ। (अन्य) और। (अपि) भी। (यः एवंवित) जो इस उक्त प्रकार गुरु की सेवा से विद्वान्। (अध्यात्ममेव) अध्यात्म विद्या को ही प्राप्त अर्थात् उक्त प्रकार इंद्रियों की ब्रह्मशक्ति को रोक के भीतरी ध्यान में ही प्रवृत्त हो और विरक्त हुआ मुक्त होने योग्य है।

अर्थ—नचिकेता आचार्य गुरु के उपदेश से ब्रह्मविद्या और फल सहित संपूर्ण योगाभ्यास के विधान को प्राप्त हुआ। और भी जो ब्रह्मज्ञान की इच्छा करे, उनको चाहिये कि गुरु की सेवा-टहल से और दूसरे यथा-शक्ति साधनों से ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होके सब दुःखों से छूटे।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषावहै॥१६॥१२०॥

प० क्र०—अब समाप्ति में प्रार्थना और शांति कहते हैं। (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों को। (सह) साथ ही परमेश्वर (अवतु) तृष्णा को छुड़ा के तृप्त (संतुष्ट) करें। (नौ) हम दोनों की। (सह) साथ। (भुनक्तु) रक्षा करे। हे परमेश्वर आपकी कृपा से हम दोनों। (वीर्यम्) ब्रह्मविद्या के अभ्यास से हुए, सुख दुःख इत्यादि द्वंद्व व सहन आदि रूप सामर्थ्य। (सह) साथ। (करवावहै) सिद्ध करें। (नौ) हम दोनों का। (अधीतम्) पढ़ना पढ़ाना। (तेजस्वि) ब्रह्म के तेज से युक्त हों, हम दोनों। (माविद्विषावहै) आपस में

कभी द्वेप न करें। (ओ३म्) परमात्मन् आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमारे अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक यह त्रिविधि दुःख, शांत होकर अत्यन्त पुरुपार्थ के परिणत रूप मोक्ष सुख को प्राप्त होवें।

अर्थ—सब कर्मों के आदि और अन्त में परमेश्वर की प्रार्थना और उपद्रव और दुःखों को हटाने के लिये शांति कहनी चाहिये। जब गुरु और शिष्य के अन्तःकरण में लेश मात्र भी भेद न हो, किन्तु दोनों का अन्तःकरण शुद्ध परस्पर प्रीति बढ़ाने बढ़ानेवाला प्रार्थना में रँगा कोमल हो, तब विद्या सफल होती है; जिस से अध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों की शांति हो।

टि०—इस मन्त्र में कर्त्ता क्रिया के दो वचन पढ़ने से, गुरु शिष्य व स्त्री, पुरुप आदि दोनों को मिलकर ईश्वर की प्रार्थना और शांति कहनी चाहिये। ओ३म् शम्।

शांतिः शांतिः शांतिः।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते कठोपनिषद्
भाषा भाष्ये सम्पूर्णमगात्।



प्रश्नोपनिषद्



प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
प्रश्नोपनिषत् विवेचाय, भाषा व्याख्या कृतोमया ॥

ओं सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाएष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

प० क्र०—(सुकेशा) यह नाम है । (च) और । (भारद्वाजः) भारद्वाज ऋषि की सन्तान में । (शैब्यः) शैब्य की सन्तान में सदा होने वाली । (सत्यकामः) सत्य का नाम है । (सौर्य्यायणी) सूर्य की संतान में से । (च) और । (गार्ग्यः) गर्ग ऋषि की सन्तान । (कौशल्याः) कौशिल्या नाम । (च) और । (आश्वलायनः) आश्वल ऋषि का पुत्र । (भार्गवः)

भार्गव ऋषि की संतान में। (वैदर्भिः) वैदर्भि के पुत्र। (कात्यायनः) कत ऋषि का बेटा। (कबंधी) कबंधी नाम।
(तेह) यह प्रसिद्ध तप करने वाले। (एते) यह पुरुष। (ब्रह्मपरा) ब्रह्म के भक्त। (ब्रह्मनिष्ठः) ब्रह्म की प्राप्ति में लगे हुए। (परम्) इन्द्रियों से परे। (ब्रह्म) सर्वव्यापक परमात्मा को। (अन्वेषमाणाः) खोज करते हुए। (एष) यह प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी गुरु। (वै) निश्चयपूर्वक। (तत्सर्वम्) सबके भीतर रहने वाले आत्मा के उपदेश को प्राप्त करने के विचार से। (वक्ष्यंतो) उपदेश के योग्य समझ कर। (समित्पाणयो) हाथ में अग्निहोत्र की समिधा लिए हुए। (ते) यह ऋषि लोग। (भगवन्तं) पूजने योग्य आचार्य। (पिप्पलादम्) पिप्पलाद नामी ऋषि के पास उपदेश ग्रहण करने को। (उपसन्नाः) पधारे।

अर्थ—श्रुति और स्मृति ने निर्णय कर दिया है कि जिस अधिकारी को ब्रह्म जानने की लालसा हो, वह ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करे; परन्तु ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप भेंट लेकर जाना योग्य है; क्योंकि महानुभाव महात्माओं के समीप बिना भेंट जाना, उनका अनादर करना है। ब्रह्मज्ञानी के समीप कोई बहु मूल्य वस्तु लेकर जाना भी उनका अपमान करना है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को किसी वस्तु की अभिलाषा कदापि नहीं होती। अतएव ऋषियों ने समिधा अर्थात् हवन करने की लकड़ियाँ हाथ में ले जाने का नियम नियत किया था; जिसके अर्थ यह थे कि मैं तप इत्यादि यज्ञ करके निज अन्तःकरण को शुद्ध करके और बाहर के आडम्बरों को त्याग कर, केवल ब्रह्मज्ञान का जिज्ञासु होकर आया हूँ। जब तक इस प्रकार की जिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान की भक्ति, चित्त में

उत्पन्न न हो, तब तक वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं। संसार के सब पदार्थ समिधाओं की भाँति ब्रह्मज्ञानी की अग्नि में भस्म करके, हम उसको जान सकते हैं। संसार के पदार्थ जीव से बाहर हैं और ब्रह्म का दर्शन जीव के भीतर होता है, इस कारण एक ही समय में जीव भीतर-बाहर देख नहीं सकता। अतः जो मनुष्य सांसारी वासनाओं में लिप्त हैं, जो मनुष्य विषय-भोग में लवलीन हैं, जिनको यश, प्रतिष्ठा और शासत की वासना जकड़े हुए हैं, वह ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर जाने योग्य नहीं। इस मार्ग पर वह मनुष्य पहुँच सकते हैं, जो प्रत्येक बाह्य बन्धन से स्वतंत्र हों जिनको बाह्य अभिलाषा कुछ भी न हो।

तान् ह स ऋषिरुवाच भूयएव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धयासंवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत, यदि जिज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

प० क्र०—(तान्) उनको। (ऋषिरुवाच) ऋषि ने कहा। (भूय एव) तुम दो बार। (तपस्या) तप करते हुए। (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचारी होकर। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (संवत्सरं) एक वर्ष तक। (संवत्स्यथ) मेरे समीप रहो फिर। (यथाकामम्) यथा कामना। (प्रश्नान्) प्रश्नों को। (पृच्छत) पूछो। (यदि) यदि। (विज्ञास्यामः) मैं जानता होऊँगा। (सर्वं ह) तो सभी व तुम्हारे लिये। (वक्ष्यामः) कहूँगा अर्थात् उपदेश करूँगा।

अर्थ—तपस्वी के तप को जानते हुए भी पिप्लाद ऋषि ने परीक्षार्थ एक वर्ष तक उनको तप और ब्रह्मचारी होकर

अपने समीप रहने का आदेश किया और कहा इतना तप करने के पश्चात्, जिस प्रकार के प्रश्न करने की इच्छा हो करना। यदि मैं जानता होऊँगा, तो तुमको ठीक बता दूँगा। इस कथा से क्या परिणाम निकलता है जो लोग तप और ब्रह्मचर्य्याश्रम से शून्य हैं, ब्रह्म-विद्या जानने के अधिकारी नहीं। वर्तमान समय में जो मनुष्य अनधिकारी होकर ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों को पढ़ते और ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं, उससे व्यर्थ समय नष्ट होने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं निकलता। जिस प्रकार बिना जोती हुई भूमि में जिसमें कभी हल न चलाया गया हो, जो बीज बोया जाता है, वह कभी फल नहीं लाता है। इसी प्रकार जिसने ब्रह्मचर्य और तप न किया हो उसको ब्रह्मविद्या के उपदेश से कोई लाभ नहीं होता। ऋषि लोग सत्य कथन करते हैं, यदि मुझे आता होगा, तब मैं तुमको सब बता दूँगा जिससे स्पष्ट प्रकट है कि वह आज-कल के अविद्वान मनुष्यों की भाँति सर्वज्ञ होने का मिथ्या पक्ष लेने के प्रकृति वाले नहीं थे किन्तु प्रत्येक पक्ष करने के साथ निज शक्ति का भी विचार रखते थे। ऋषि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। परन्तु उनके चित्त की वृत्ति को जानता हुआ कि यह ब्रह्मविद्या के उपदेश को आये हैं कहता है कि तुमको जो इच्छा है, उसके सम्बन्ध में जो प्रश्न करोगे, उसको मैं ज्ञानानुकूल बताऊँगा। यह सत्यता का सर्वोत्तम समय था, जबकि मिथ्या अभिमान से समय शून्य था। जब तक मनुष्यों में सत्यता न हो तब तक धर्म के कार्य यथावत् नहीं चल सकते और जब तक धर्म प्रत्येक के साथ न हो तब तक सफलता से सुख और शान्ति का मुख देखना कठिन है।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्यपप्रच्छ भगवान् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

प० क्र०—(अथ) एक वर्ष बीत जाने के पश्चात्। (कबन्धी) कबन्धी नाम। (कात्यायन) जो कत ऋषि के कुल में उत्पन्न हुआ था। (उपेत्य) पिप्लादि ऋषि के समीप आकर (पप्रच्छ) पूछता है। (भगवन्) हे गुरु महाराज। (कुतः) कहाँ से या किसमें। (ह वा) पूर्व सृष्टि की उत्पति को ध्यान पूर्वक कहिए। (इमाः) यह जो प्रत्यक्ष दीखता है। (प्रजा) मनुष्य पशु आदि जीव जन्तु और निर्जीव। (प्रजायन्त) उत्पन्न हुए हैं।

अर्थ—यहाँ प्रश्न यह किया गया है कि यह प्रत्यक्ष देखने योग्य सृष्टि का कर्त्ता कौन है, क्योंकि जो वस्तु को ज्ञानानुकूल बनाता है, वही उसकी अवस्था को जानता है और जो उसकी अवस्था ठीक प्रकार जानता है वही उसको ठीक सुधार सकता है। अतएव संसार के सुधार के लिये संसार के निर्माणकर्ता का जानना अवश्य है। जो सृष्टि के रचयिता को नहीं जानता वह संसार का सुधार नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक यह न मालूम हो कि निर्माणकर्ता ने इसको किस अर्थ से बनाया है तब तक उस वस्तु से ठीक काम नहीं लिया जाता क्योंकि निर्माण-कर्ता के आशय के अनुकूल काम लेना ही ठीक कार्य कहला सकता है, और उसके विरुद्ध कार्य करना उसको हानि पहुँचाना है। यथा हम जानते हैं कि नेत्र परमेश्वर ने मार्ग देखकर चलने को दिये हैं। यदि हम नेत्र बन्द करके चलते हैं, तो नेत्र निर्माण-कर्ता के सिद्धान्त के विरुद्ध काम करते हैं जिससे ठोकर खाकर कष्ट सहन करते हैं। यहाँ प्रजा से-

वास्तविक में तात्पर्य शरीर तथा इन्द्रियों का है। यदि हमको विदित हो जावे कि यह शरीर और इन्द्रियाँ किसने किस अर्थ से निर्माण की है तो हम इस शरीर से उचित लाभ उठाकर सन्मार्ग पर पहुँच जाते हैं। यदि न मालूम हो कि कर्ता कौन है और उसका बनाने में क्या प्रयोजन है, तो मार्ग पर पहुँचना असम्भव होता है। अतएव ऋषियों ने सबसे प्रथम प्रश्न यही करना उचित समझा कि इस जगत का कर्त्ता कौन है ? ऋषि उत्तर देते हैं:—

तस्मै सहोवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणंचेत्येतौ मे बहुधाप्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

प० क्र०—(तस्मै) उस कात्यायन। (सह) वह पिप्पलाद ऋषि। (उवाच) स्पष्ट कहने लगे। (वै) जब। (प्रजाकामा) प्रजा के अर्थ से। (प्रजापतिः) सब जीवों का नित्य राजा जो परमात्मा है। (सः) उसने। (तप) क्रिया देने वाली शक्ति से। (उत्पत्ति) क्रिया अर्थात् गति दी। (सः) उसने। (तपस्तप्त्वा) क्रिया शील के। (मिथुनम्) दो प्रकार की जोड़ी को। (उत्पादयते) उत्पन्न किया। (रयिञ्च) एक तो भोगने योग्य जड़ से। (प्राणंच) दूसरा भोगने वाला प्राण। (इत्येतो) यह दोनों भोगने योग्य और भोगाने वाले। (मे) मेरे। (बहुधा) बहु प्रकार की। (प्रजा) जीवों के शरीरों की। (करिष्यत्) करेंगे। (इति) समाप्ति का शब्द।

अर्थ—जब न्यायकारी और दयालु परमात्मा ने अपनी जीव रूप अनादि प्रजा के आनन्दार्थ अपने स्वाभाविक न्याय

और दया से जगत् बनाने के अर्थ प्रकृति जो उसकी अनादि काल से सम्पत्ति है, उसको क्रिया देकर दो प्रकार का बनाया। एक तो जीव-संगति चैतन्य सृष्टि, जो विशेष प्राणों के साथ तीन प्रकार की शक्ति रखती है, अर्थात् करने न करने और उलटा करने से जिसमें कि इच्छा रखने वाली प्रकट हो सके। दूसरे जीवों से रहित भोगने के योग्य विशेष प्राणों से पृथक जड़ सृष्टि, जिसका चैतन्य-सृष्टि भोग करती है, जिसमें चेतनता नहीं, किन्तु प्रबन्धक चैतन्य है। इस दो प्रकार की सृष्टि से ही परमात्मा की प्रजा (जीव) बहुत प्रकार के फल कर्मों के अनुकूल भोग सकते हैं। जिनमें इच्छा रखने वाली चैतन्य और विशेष प्राण है, वह भोगने वाली सृष्टि है, जिसको चैतन्य सृष्टि कहते हैं। जिससे मनुष्य चतुष्पद, पखेरू, कृमि इत्यादि जीवधारी, अन्य जो भोगार्थ बने हैं, यथा वनस्पति, मिट्टी इत्यादि। इन दो प्रकार की सृष्टि के नाम जड़ और चैतन्य, स्थावर, जंगम, चराचर, भोगता, भोग्य इत्यादि हैं। इस जोड़ी से ही यह सम्पूर्ण जगत् भरा हुआ है, कहीं चैतन्य है, कहीं जड़। निदान प्रजापति परमात्मा ने ही इसको उत्पन्न किया है और उसी के नियम में यह कार्य कर रहे हैं। उसके नियम के विरुद्ध होना अर्थात् चैतन्य का जड़ हो जाना और जड़ का चैतन्य होना असम्भव है।

प्रश्न—अन्य मनुष्य तो इसका पदार्थ यह करते हैं कि प्रजा की इच्छा से परमात्मा ने यह जगत बनाया है।

उत्तर—परमात्मा में यह इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि इच्छा प्राप्त इष्ट व लाभदायक की होती है, लाभदायक वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूर्ण करे या दोष को दूर करे। परमात्मा में न न्यूनता है, न दोष है, फिर इच्छा किस प्रकार

हो सकती है। दूसरे इच्छा से जगत् की उत्पत्ति मानने में क्रम दोष लगता है, क्योंकि जिस वस्तु को उत्पन्न करने की इच्छा हो, तो उसका लाभदायक और प्राप्त होना अवश्य है। लाभदायक होने के ज्ञान के वास्ते उस वस्तु का होना आवश्यक है। जब वह वस्तु उपस्थित है, तो उत्पन्न करने का विचार किस प्रकार होगा और वह वस्तु भी उत्पन्न होने की इच्छा से उत्पन्न हुई होगी, जिसके लिये फिर वही क्रम का चक्र लगा रहेगा।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि जीवों के हेतु सृष्टि परमात्मा ने रची।

उत्तर—प्रजापति शब्द ही बताता है कि परमात्मा उत्पन्न करने से पूर्व भी प्रजापति था और जो अतिरिक्त जीव-रूप प्रजा के और हो नहीं सकता।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि प्रजापति नाम परमात्मा का उत्पन्न करने के पश्चात् हुआ।

उत्तर—परमात्मा का कोई गुण जिसके पश्चात् नाम रक्खा जावे, हो नहीं सकता, क्योंकि उसके सब गुण कर्म स्वाभाविक हैं। अब इसकी व्याख्या करते हैं।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तञ्चामूर्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

प० क्र०—(आदित्य) सूर्य जो सब वस्तुओं का विनाश करता है। (रयिः) भोगनीय। (प्राणः) प्राण है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का भोगनेवाला है। (रयि) भोगने योग्य। (एव) ही। (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है। (रयि) और भोगने। (एव)

अथवा । (तत् सर्वम्) यह सब जगत् । (यत्) जो । मूर्त्तिम्) मूर्तिवाला है । (अमूर्तंच) मूर्त्ती से रहित अवस्था है । (च) और । (तस्मात्) इस कारण से । (मूर्ति) मूर्त्ति अर्थात् ठोस वस्तु । (एव) ही । (रयि) भोगने योग्य वस्तु है ।

अर्थ—संसार के जड़ पदार्थों में विनाश और न्यूनता को देखा जाता है, उसको भोगनेवाला सूर्य प्राण है; जिसके कारण प्रत्येक पदार्थ प्राण होकर नाश होता है । सूर्य प्रत्येक वस्तु के भीतर से पानी को किरणों से खींचकर भोगता है,जिससे पदार्थ नाश होते हैं और जिसको भोगता है, वह चन्द्रमा है; अर्थात् जल का मुख्य भाग है । कारण यह है कि उष्णता जो सूर्य की है वह भोगनेवाली है और शीतलता जो चन्द्रमा की है,वह भोग्य है; जिसको गरमी भोगती है अथवा जितने मूर्तिमान द्रव्य हैं । मूर्ति का लक्षण यह है कि 'जिसके खंड मूर्छित अर्थात् ज्ञान से शून्य हों और वह संयोगावस्था में हो । अतः ठोस वस्तुयें मूर्तिवाली और द्रव और वायुरूपवाली अमूर्त्ति में; यह सब भोगने योग्य पदार्थ हैं और इनको भोगनेवाला आदित्य (सूर्य) प्राण है।

प्रश्न—सूर्य को प्राण अर्थात् भोगनेवाला क्यों कहा;क्योंकि वह भी तो अग्नि का बना हुआ शरीर है ।

उत्तर—सूर्य से वर्षा होती है और वर्षा से सब प्रकार की वनस्पति अर्थात् अन्न इत्यादि उत्पन्न होते हैं और सूर्य की किरणें वायु के साथ मिलकर प्राण उत्पन्न करती हैं;जिससे क्षुधा,तृष्णा, मालूम होती है । निदान भोक्ता सूर्य ही है, चैतन्य जीवात्मा तो केवल भोग का ही भागी होता है। अब उसकी व्याख्या करते हैं।

अथादित्य उदयन्यत्प्राची दिशं प्रविशति, प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्दक्षिणां

यत्प्रतीची यदुदीचींयदधोयदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

प० क्र०—(अथ) भोगने वाली शक्ति का व्याख्यान करते हैं, रात्रि के निवास होने पर। (आदित्य) सूर्य। (यत्) जिस कारण से। (प्राची) पूर्व दिशा। (उद्यन) उदय होता। (दिशम्) दिशा को। (प्रविशति) प्रवेश करता। (तेन) उससे। (प्राच्यां) पूर्वी भाग में। (प्राणान्) प्राणों को। (रश्मिषु) किरणों मे। (सन्निधत्ते) मिलता है। (यत् दक्षिणाम्) जिससे दक्षिण दिशा में। (यत्प्रतीचीम्) जिससे पच्छिम में। (यत् उदीचीम्) जिससे उत्तर में। (यदधः) जिससे नीचे। (यत् ऊर्ध्वम्) और जिससे ऊपर। (यत् अन्तरा दिशा) जिससे मध्य कोणों में। (यत्) जिससे। (सर्वम्) सबको। (प्रकाशयति) प्रकाश करता है। (तेन) उससे। (सर्वान्-प्राणान्) सब प्राणों को। (रश्मिषु) किरणों में। (सन्निधत्ते) स्थापित करता है।

अर्थ—यहाँ पर भोगने वाली शक्ति का व्याख्यान करते हैं कि जब रात्रि के व्यतीत होने पर सूर्य पूर्व में उदय होता है, तो उस ओर की किरणों से प्रत्येक वस्तु के भीतर वायु से अग्नि संयोग करके प्राणों को स्थापित करता है अर्थात् क्रिया देने की शक्ति सूर्य की किरणों में है। जिस प्रकार इंजन में वायु पहले विद्यमान होती है; जिस समय पानी और आग के द्वारा भाप बनकर स्टीम बन जाता है, तो इंजन को हरकत दे सकता है; जिससे सम्पूर्ण काम चल जाते हैं। प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी का आकर्षण अपनी ओर खींचता है, जिससे...

कोई वस्तु पृथ्वी से पृथक नहीं हो सकती; परन्तु पृथ्वी की विपरीत सतोगुणी शक्ति अग्नि की है, जो नित्य पृथ्वी के विरुद्ध चलती है; क्योंकि उसका भण्डार सूर्य पृथ्वी से विपरीत दिशा में रहता है। इस कारण अग्नि प्रत्येक वस्तु को अपने भण्डार (सूर्य) की ओर ले जाना चाहता है, इस कारण अग्नि और पृथ्वी में हर समय संग्राम लगा रहता है। यदि भूमि की शक्ति अग्नि से अधिक हो, तो वस्तु पृथ्वी से पृथक् न हो सके, यदि अग्नि की शक्ति पृथ्वी से अधिक हो, तो वस्तुएँ सीधी ऊपर को चली जावें। अतः सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि शक्ति तो अग्नि में पृथ्वी से अधिक है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी से पृथक् कर लेती है; परन्तु पृथ्वी की सहायता के लिये जल को नियत कर दिया है कि वह पृथ्वी की सहायता करके वस्तुओं को पृथ्वी से पृथक् न होने दे। अतः जब पाँव पृथ्वी से उठ जाता है, तो झट पानी पड़कर अग्नि की शक्ति को निर्बल कर देता है, जिससे वस्तु पृथ्वी पर फिर आ जाती है। अग्नि इस पानी को विनाश करके फिर वस्तु को उठाती है, फिर और जल आकर उसको निर्बल करके रोक देता है। इस प्रकार यह पदार्थ न तो पृथ्वी के साथ ही चिपटे रहते हैं और न सूर्य की ओर जाने पाते हैं; अतः वायु उनको हरकत देकर पृथ्वी के साथ-साथ चलाती है। इस उपचार से पानी बराबर स्टीम बनकर उड़ जाता है। अब यह शक्ति प्राण-शक्ति कहलाती है कि जो सूर्य की किरणों से उत्पन्न होकर सब जगत् को भोग रही है। इस कारण वेदान्त के विद्वान् मानते हैं कि क्षुधा और तृषा प्राणों का धर्म है; अर्थात् प्राण प्रत्येक समय भोजन और जल के अवयवों को भीतर से निकालते रहते हैं। जब तक प्राणों का

प्रभाव भोजन पर पड़ा रहता है, तब तक कोई कष्ट मालूम नहीं होता, परन्तु जब प्राण भीतर से निकलने वाले भोजन का और जल को समाप्त करके शरीर के अवयवों में जो खाना और पानी मिला हुआ है, उस पर प्रभाव डालना आरम्भ करते हैं, तो पानी पर प्रभाव डालने का नाम तृषा है और भोजन पर प्रभाव डालने का नाम भूख है अर्थात् जो कुछ हमारे शरीर में या ब्रह्माण्ड में भोगा जा रहा है, वह सूर्य ही भोग रहा है। यह क्रिया प्रत्येक दिशा और कोण में सूर्य की किरणों से ही स्थित होती है। यदि सूर्य की किरणों से फैली हुई अग्नि जो प्राण बनाती है, विद्यमान न हो, तो सब जीव-जन्तु मर जावें। शुष्क पृथ्वी में जो वायु चलती है, उसको अग्नि के परमाणु अधिक मिलते हैं, इस कारण वह मनुष्यों को अधिक आरोग्यदायक होती है। जो भूमि नम है, वहाँ की वायु को अग्नि के परमाणु कम मिलते हैं। अतः वह आरोग्यता के लिये हानिकारक हैं। निदान, प्रत्येक वस्तु को जितने प्राणों की आवश्यकता है, यदि उतने प्राण मिल जावें, तो वह भले प्रकार उन्नति करते हैं। जहाँ प्राणों की शक्ति निर्बल मिली, वह बिगड़ जाती है। यदि भूमि गीली है, तो अग्नि के कम मिलने से प्राण ठीक काम नहीं कर सकते, जिससे मनुष्य की आरोग्यता बिगड़ जाती है। यदि पीने को जल न मिले, तो सूर्य की किरणें पृथ्वी से शक्तियुक्त होकर शरीर के अवयवों को फैला देती हैं, जिससे वस्तु विनाश हो जाती है। इसकी और भी व्याख्या करते हैं।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपःप्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(स) वह सूर्य जिसका वर्णन आ चुका है। (एष) जो प्रत्यक्ष नेत्र से दीखता है। (वैश्वानर) सम्पूर्ण संसार के प्राणों का चलानेवाला। (विश्वरूप) सब जगत् में भोग करनेवाली शक्ति रूप से प्रकाशित। (प्राणः) जिसका नाम प्राण, जो अन्न आदि उत्पन्न करता है। (अग्नि) गरमी को। (उदयतः) प्रकट करता है। (तत्) उसको। (एतत्) यह। (ऋचाभ्युक्तम्) ऋग्वेद के मंत्र में भी कहा है।

अर्थ—यह सूर्य जो प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होता है, उसकी किरणों से अग्नि फैलकर जगत् में प्राण-शक्ति उत्पन्न करके अन्न को बढ़ाती, दूसरे जीव जन्तुओं को उत्पन्न करती और नियम में चलाती है। इस कारण चराचर जगत् के शरीरों में जो क्रिया हो रही है, सब उसी सूर्य की है, जो जगत्मात्र का प्राण है। अतः जगत् में प्राण-शक्ति दो प्रकार से काम करती है। एक तो सामान्य, जिसके द्वारा छै विकार होते हैं अर्थात् उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति बदलना, घटना, नाश। इन षट् विकारों का कारण सामान्य प्राण अर्थात् सूर्य की किरणों से उत्पन्न होनेवाली सामान्य क्रिया प्राण है और जानेवाले में जहाँ विशेष प्राण अर्थात् करने, न करने और उलटा आदि करने की शक्ति पाई जाती है, उसमें प्राणों के अतिरिक्त जीवात्मा भी होती है, जो उन प्राणों को अपनी इच्छानुकूल चलाती है। बढ़ना आदि काम जो प्राणों के हैं, वह सामान्य और विशेष प्राण दोनों में समान पाये जाते हैं; परन्तु विशेष प्राण वहाँ होंग जहाँ जीव और प्राण दोनों होंगे और सामान्य प्राण वहाँ होंग जहाँ केवल प्राण होंगे; वास्तव में प्राणों से प्रेरणा होती है। प्राण ही खाते-पीते हैं, जीव तो केवल नियम में चलता है, यथा

इन्जिन में ड्राइवर। यह हर दो प्रकार के चाहे विशेष प्राण से हों या सामान्य प्राण से, सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए प्राण ही करते हैं। बढ़ना-घटना आदि सब काम प्राणों से होते हैं। जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। प्राण परमात्मा के नियम से, जो उसने सूर्यवालों आदि में नियत कर दिया है, अपना काम कर रहे हैं। निदान, प्राण ही जगत् को भोगनेवाला है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकंतपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानाः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

प० क्र०—(विश्वरूपं) समस्त भोगनेवाली शक्तिरूप। (हरिणं) किरणवाला। (जातिवेदसं) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है। (परायणं) जो सब प्राणियों में रहता है। (तपन्तम्) जो भले प्रकार गरम हो रहा है। (ज्योतिः) प्रकाशक सूर्य। (एकम्) जो इस लोक में एक है। (सहस्ररश्मिः) जिसकी अनन्त किरणें हैं। (शतधा) सौ प्रकार से। (वर्तमान) काम करती हुई विद्यमान रहनेवाली। (प्राणः) जीवन का कारण। (प्रजानम्) सब प्राणियों को। (उत्पत्तिः) प्रकाश करता है। (एष) यह। (सूर्य) सूर्य।

अर्थ—जो सूर्य है, जिसकी आभास अनन्त है, जो सैकड़ों प्रकार की वर्तमान प्रजाओं का प्राण होकर उनको जीवन दे रहा है; जो सब जगत् के भीतर काम करता हुआ और किरणोंवाला है, जो रूप जिससे पदार्थों का ज्ञान नेत्रों को होता है, उसको उत्पन्न करनेवाला और प्रत्येक प्राणी में एक ही ज्योति या प्रकाश से विद्यमान और तप रहा है, इन सबका कारण है। इससे स्पष्ट विदित हो गया कि जगत् में जो क्रिया

हो रही है, उसका कारण सूर्य है। अब भोग्य कृत की व्याख्या करते हैं।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरञ्च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते। ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्त्तन्ते,तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामादक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

प० क्र०—(संवत्सरः)वर्ष। (वै) निश्चय। (प्रजापतिः) जगत् की रक्षा करनेवाला है, प्रत्येक वस्तु की रक्षा समय पर होती है। (तस्य) उस वर्ष के। (आयेन) उस वर्ष के वासस्थान में घर है। (दक्षिणं) एक दक्षिणायन जब सूर्य दक्षिण की ओर जाने लगता है। (च)-और। (उत्तरम् च) दूसरे उत्तरायण जब सूर्य उत्तर की ओर जाने लगता है। (तत्) उनमें। (इह वै) जो मनुष्य निश्चय करके। (इष्टापूर्ति) वेदानुकूल यज्ञ, बावली, कूप, सर आदि लगाने। (कृतं) उनके फल की इच्छा रखते हुए। (उपासते) करते हैं। (ते) वह लोग। (चन्द्रं सम) भोग शक्ति प्रधान। (एव) है। (लोकम्) शरीर को। (अभिजयन्ते) विजय करते अर्थात् प्राप्त करते हैं। (ते) वह। (एव) है। (पुनरावर्त्तन्ते) बार-बार. जन्म लेते हैं। (तस्मात्) इन कर्मों से। (एते) यह। (ऋषयः) ऋषि लोग। (प्रजाकामा) संतान की इच्छा रखते हुए। (दक्षिणं) निचला अर्थात् कुमार्ग पर। (प्रतिपद्यन्ते) कर्म करते हैं। (यः) जो। (पितृयाणः) जो बार-बार जन्म देनेवाला पितादि (एषः) यह। (ह) किया हुआ। (वै) निश्चय। (रयि) भोगने योग्य वस्तु है।

अर्थ—वर्ष अर्थात् समय का एक भाग प्रजापति है। इसके जाने के दो मार्ग हैं—एक दक्षिण दूसरे उत्तर आदि हैं। वर्ष तक सूर्य पृथ्वी के भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर रहता है। अर्द्ध-वर्ष तक दक्षिण की ओर अर्थात् प्रजा भी दो प्रकार के काम करती है। एक वह काम जिसका फल जन्म-मरण है, जिसकी अभिलाषा मनुष्यों में लगी हुई है; जो कर्म प्रत्यक्ष वस्तु के प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। जिससे यज्ञ करना, कूप, सरित, बावली, वाटिका, उपवन इत्यादि बनवाना, इस तात्पर्य से कि दूसरे जन्म में भी ऐसा मिले, तो मन में इनके संस्कारों के स्थित रहने से अवश्य है। माता-पिता के द्वारा उन पदार्थों को भोगने के अर्थ जन्म लेना पड़ता है। स्वार्थ वाले कर्म का फल चन्द्रलोक में सफल है। यहाँ चन्द्रलोक से तात्पर्य वह शरीर है, जिसमें भोग भोगा जावे। इस स्वार्थ से कर्म करने वाले मनुष्य बार-बार इस संसार में जन्म लेते है। एक शरीर छूटता है, दूसरा तुरन्त मिल जाता है। इस कारण जो ऋषि सन्तानार्थ कर्म करते हैं, वह मुक्ति के अर्थ निष्काम कर्म करने वाले की अपेक्षा नीच कहलाते हैं। यद्यपि पाप की अपेक्षा स्वार्थ-कर्म जो शुभ हैं, उत्तम है; परन्तु उन कर्मों से जो किसी प्रत्यक्ष स्वार्थ से नहीं किये जाते हैं, जो केवल धर्म समझ कर किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा स्वप्न में उत्तम कर्मों के अर्थ उत्तर और नीच के लिये दक्षिण का शब्द प्रयोग किया गया है। निदान, जो पितृयाण बार-बार जन्म लेता है और शरीर के भोग को भोगता है, यही भोग्य है, इसको रयि कहा गया है।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया-त्मानम न्वष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणाना-

मायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुन-र्नावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेषः श्लोकः ॥१०॥

प० क्र०—(अथ) उसके बाद। (उत्तरेण) शुभ और उत्तम कर्मों से या ज्ञान-कर्म को दक्षिण मान कर ज्ञान से। (तपसा) गरमी-सरदी, मान-अपमान, भूक-प्यास और सतादि व्रतों के पालन में जो कष्ट होता है, उस। (ब्रह्मचर्येन) वेदानुकूल इन्द्रियों को वश में रखने से। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (विद्यया) ज्ञान से। (आत्मानम्) परमात्मा या जीवात्मा को। (अन्विष्य) जान कर। (आदित्यम्) सूर्य लोक को। (अभिजयन्त) वश में करते हैं। (एततवै) यही भोगता अर्थात् भोगने वाले का स्वरूप है। (प्राणानाम्) प्राणों को। (आयतनम्) ठहरने की जगह है; इसके आधार प्राण स्थित रहते हैं। (एतत्) यही। (अमृतम्) नाश रहित। (अभयम्) भय रहित। (एतत्) यही। (परायणम्) ज्ञान का अंतिम मार्ग। (एतस्मात् इस आत्मज्ञान से। (न) नहीं। (पुनःआवर्त्तन्ते) इस कल्प में लौटते हैं। (इति) अंतिम। (एप) यह निरुद्ध ज्ञान का अन्त है। (तत्) उसका वर्णन करने वाला। (एप) यह। (श्लोकः) श्लोक है।

अर्थ—जो मनुष्य दूसरे नियम पर जिसको देवयान अर्थात विद्वानों का मार्ग कहा गया है; कर्म करके, शीतोष्ण, क्षुधा, तृपा, मानापमान को सहन करता हुआ, ब्रह्मचर्य-व्रत को वेदाज्ञानुकूल पालन करने से इन्द्रियों को वश में रखकर गुरु आज्ञा में श्रद्धा रखता हुआ, रात-दिन विचार करके और सत् विद्या के द्वारा आत्मा को जान लेता है, वह आदित्य अर्थात् भोगता के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यही भोगता अर्थात.

जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान है, मनुष्य-जीवन का उद्देश मार्ग है। वहाँ पर पहुँचकर प्राणों का काम समाप्त हो जाता है। यह अमृत अर्थात् मुक्ति है और यही दशा प्रत्येक प्रकार के भय से रहित है। यह इस ब्रह्माण्ड के भीतर ज्ञान की सबसे अंतिम पदवी है। जिसके जानने के पश्चात् फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता; जिस प्रकार प्रत्येक जन्म में मरकर जन्म लेना पड़ता है और जन्म के पश्चात् मृत्यु आती है; यहाँ पहुँचकर वह क्रम टूट जाता है। इसको प्राप्त करके इस संकल्प के भीतर फिर जीवात्मा जन्म नहीं लेता। यही ज्ञान इस जन्म-मरण के चक्कर का जिसमें फँसा हुआ जीवात्मा दुःख उठा रहा है, समाप्त है।

प्रश्न—जब कि जीवात्मा नित्य है, तो वह सदा अमर है। इस दशा में अमृत क्यों कहा गया, जबकि सदा ही अमृत है?

उत्तर—जन्म के अर्थ, जीव और शरीर का संयोग है, और मरण का अर्थ जीव और शरीर का वियोग है, फिर जन्म के पश्चात् मरण और मरण के पश्चात् जन्म होता है; परन्तु मोक्ष वह अवस्था है, जो मरकर नहीं छूटती; किन्तु जन्म से छूटती है। इस कारण प्रत्येक योनि मरने से छूटती है और मोक्ष जन्म से छूटता है।

प्रश्न—इस दशा में मौत और मोक्ष में क्या भेद है, क्योंकि मोक्ष भी जन्म लेने से छूटती है और मृत्यु भी जन्म लेने से।

उत्तर—मृत्यु के समय कर्म विद्यमान होते है, जिनके कारण से भोग योनि या उभय योनि में जाना अवश्य होता है, परन्तु मोक्ष में कर्म नहीं होते। दूसरे मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर संस्कारों के सहित विद्यमान होता है; परन्तु मोक्ष में सूक्ष्म

शरीर और संस्कार विद्यमान नहीं होते, केवल कर्मयोनि में मोक्ष से लौटकर जीव आते हैं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मोक्ष में भी सूक्ष्म शरीर मन और इन्द्रियों को जीव के साथ मनाते हैं।

उत्तर—सूक्ष्म शरीर दो प्रकार है—एक तो सत्रह तत्वों का योग जो भूतों के अंशों से बना हुआ है। दूसरा जीवात्मा की स्वाभाविक शक्तिरूप सूक्ष्म भूतों का बना हुआ, तो पुनर्जन्म में साथ रहता है, परन्तु मुक्ति में दूसरा स्वाभाविक शरीर रहता है, भौतिक नहीं रहता।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य भौतिक सूक्ष्म शरीर को भी मुक्ति में जीव के साथ मानते हैं।

उत्तर—यह केवल अविद्या है, क्योंकि यदि भौतिक शरीर मुक्ति में भी नाश न हो, तो बंधन में किस प्रकार नाश हो सकता है; क्योंकि उस समय कर्मों के संस्कार जो भोगने योग्य हैं, मन में विद्यमान होते हैं। जो मुक्ति और बंधन दोनों दशाओं में नाश न हो, वह नित्य हो जावेगा। जब सूक्ष्म शरीर नित्य हो गया, तो वह भौतिक कहला नहीं सकता; क्योंकि भौतिक उसे कहते हैं जो भूतों के अंशों से बना हो। जो बना है, वह नित्य कहला नहीं सकता। सम्भव है, बहुत से मनुष्य कहने लगें कि जिस प्रकार वेद बने हैं और नित्य भी हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर बना भी है और नित्य भी है; परन्तु यह विचार सत्य नहीं, क्योंकि वेद गुण है। परमात्मा ज्ञानस्वरूप का गुण का गुणी के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। अतः जब से परमात्मा है तब से उसका ज्ञान वेद भी है।

प्रश्न—जब से परमात्मा है, यदि तब ही से वेद भी हैं, तो वेद-ईश्वरकृत हैं, क्यों कहते हैं ?

उत्तर—ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, उसमें जीवों की मुक्ति के योग्य ज्ञान परमात्मा वेद के द्वारा देते हैं। अपने अनंत ज्ञान में से विभाग करने के कारण वह वेद के कर्ता कहलाते हैं। विभाग से उत्पन्न हुए से कहलाये और इस उत्पत्ति से पूर्व वैसे ही विद्यमान होने के कारण नित्य हो सकते हैं परन्तु भौतिक सूक्ष्म शरीर संयोग से उत्पन्न होता है। संयोग से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नित्य हो ही नहीं सकती।

पंचपादम् पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्। अथेमेऽन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडरआहुरर्पितमिति ॥११॥

प० क्र०—(पंचपादम) पंच ऋतु जिनके पांव के अनुकूल (द्वादशाकृतिं) द्वादश मास जिसकी आकृति। (पितरम्) रक्षा करने वाले। (दिवा) सूर्य से ऊपर का आकाश। (आहुः) कहते हैं। (परे) परली ओर के। (अर्द्ध) अर्द्ध भाग में। (पुरीषिणम्) जिसके साथ जल का कारण कार्य भाव का सम्बन्ध है अर्थात् वर्षा का कारण है। (अथ) अब और। (अन्ये) दूसरे विद्वान्। (परे) उस वर्ष को जो काल का उत्तम भाग है। (विचक्षण) जो विशेषता के साथ दूसरों को दिखला सकता है। (सप्तचक्रे) जो भू आदि सप्त लोकों में घूमता है अथवा सात रंगों की जिसकी किरणें हैं। (षडः) षट् ऋतु जिस वर्ष के अंग हैं। (आहुः) कहते हैं। (अर्पितम्) रथ में जिस प्रकार नाभी लगी होती हैं, ऐसे लगा हुआ।

अर्थ—जिस वर्ष को प्रजापति बताया था अब उसका लक्षण बताते हैं कि वह संसार में पंच ऋतुओं को पिता की भाँति उत्पन्न करता और रक्षापूर्वक नियम में चलता है, यद्यपि ऋतुएँ षट् हैं परन्तु यहाँ शरद ऋतु को हेमन्त में संयुक्तकर दिया है क्योंकि दोनों में शीत होता है। केवल न्यूनाधिक का अन्तर है जिसकी आकृति द्वादश मास को एकत्रित करने से प्रकट होती है अर्थात् द्वादश मास का वृत्तान्त है। जिसका वर्षा के साथ उत्पन्न करने का सम्बन्ध अर्थात् जो वर्षा को उत्पन्न करता है, जिसके ऊपर के अर्द्ध भाग में सूर्य के ऊपर का भाग है। दूसरे विद्वान लोग इस प्रकार भी विभाग करते हैं कि वह काल का उत्तम भाग है जो षट् ऋतुओं का योग है। जिस प्रकार सूर्य आदि सप्त लोकों को अपने सामने घुमाता है और जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे लगे होते है, उसी प्रकार इस वर्ष के चक्कर में यह सब ऋतुएँ और मास इत्यादि लगे हुए हैं।

प्रश्न—लक्षण तो वर्ष का करने लगे थे, परंतु वर्णन बहुत कुछ सूर्य की परिक्रमा का कर दिया।

उत्तर—सूर्य के परिक्रमा से ही काल अर्थात् समय का विभाग होता है, इस कारण दिन, रात, मास, वर्ष, सूर्य की चाल से ही प्रकट होते हैं।

प्रश्न—सूर्य घूमता है या पृथिवी घूमती है क्योंकि; रातदिन इत्यादि भूमि की चाल से उत्पन्न हुए माने जाते हैं। इसे सूर्य की चाल क्यों लिखा?

उत्तर—यहाँ उपचार से दिखलाया है कि जैसे रेल में बैठ कर जब लाहौर पहुँचते हैं, तो कहते हैं कि लाहौर आ गया।

यहाँ आना लाहौर में है या रेल में ? आना रेल में है, परन्तु कह लाहौर में देते हैं।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एवरयिः। शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(मासो) मास जो है। (वै) निश्चय करके। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी उत्पत्तिकर्ता है। (तस्य) उसका। (कृष्णपक्ष) अँधेरा पक्ष जो है। (रयि) भोगने योग्य वस्तु है और। (शुक्लपक्ष) चंद्रपक्ष। (प्राणः) भोगता है। (तस्मात्) इस कारण से। (एते ऋषयः)। यह ऋषि लोग (शुक्ले) उजाला पक्ष। (इष्ट) यज्ञ को। (कुर्वन्ति) करते है। (इतने) जो वेद के ज्ञान से शून्य हैं। (इतरस्मिन्) कृष्ण पक्ष में यज्ञ करते हैं।

अर्थ—पाँच गुणों के अतिरिक्त जो गुण अवयवों में न हो, वह अवयवी में हो नहीं सकता; इस हेतु वर्ष के भाग मास हैं। उनसे प्राण अर्थात् भोगता योग्य वस्तु का विभाग दिखाते हैं कि कृष्ण पक्ष है और शुक्लपक्ष प्राण है। तात्पर्य यह है कि जिसमें ज्ञान है; वह भोक्ता और जो ज्ञान से रहित है, वह भोगने योग्य वस्तु है। जो मनुष्य वेदों के ज्ञाता हैं, वह ज्ञानानुकूल यज्ञादि सब कार्य करते हैं। वह शुक्लपक्ष में यज्ञ आदि कर्म करते हैं और जो मनुष्य ज्ञान से रहित हैं, वह वेद विरुद्ध कर्म करके दुःख पाते हैं; क्योंकि जो अँधेरे में चलता है, वह निश्चय मार्ग पर नहीं पहुँच सकता; प्रायः ठोकर खाता है और जो प्रकाश में अर्थात् उद्देश और पथ को देखकर कर्म

करता है, वह सफलता को प्राप्त होता है। देखकर चलनेवाले को ठोकरें भी नहीं मिलतीं। तात्पर्य यह है कि दो शक्तियें मार्ग पर ले जानेवाली होती हैं—एक नेत्र, दूसरे सूर्य। जो इन दोनों को काम में लाता है, वह दुःखों से बच जाता है। जो अँधेरे में चलता है या दिन के समय नेत्र बन्द करके चलता है, दोनों दशाओं में हानि उठाता है। इस हेतु आत्मिक मार्ग समाप्त करने के हेतु वेद और बुद्धि दोनों के अनुकूल कर्म करना चाहिये। यदि वेद के अर्थों को बिना बुद्धि से काम लिया जावे, या बुद्धि को बिना वेद के काम में लाया जावे तो दोनों अवस्थाओं में सफलता नहीं मिल सकती। ऐसी भूल में सम्पूर्ण संसार के मनुष्य लिप्त हुये दुःख पा रहे हैं।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

प० क्र०—(अहोरात्रः) दिन-रात। (वै) निश्चय करके। (प्रजापतिः) संसार के प्रबन्ध के चलानेवाले हैं। (तस्य) उसका। (अह एव) दिन ही। (प्राणः) प्राण अर्थात् भोगता शक्ति है। (एव) ही (रात्री) रात। (रयिः) भोगने योग्य वस्तु है। (प्राणं) प्राणों को। (दिवा) जो मनुष्य। (एते) यह। (प्रस्कन्दन्ति) सुखाते या विनाश करते हैं। (यः) जो। (दिवा) दिन। (रत्या) स्त्री से। (संयुज्यन्ते) सम्बन्ध करते हैं। (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्य। (एव) भी है। (तत्) वह

(यत्) जो । (रात्रौ) रात के समय । (रत्या) स्त्री से । (संयुज्यन्ते) सम्बन्ध करते हैं ।

अर्थ—अब रात्रि-दिवस जो सूर्य के सम्मुख पृथिवी के परिक्रमा से उत्पन्न होते हैं, प्रजापतिः मानकर कहते हैं कि इन में से दिन प्राण हैं अर्थात् भोक्ता है। जो इस भोगने वाले दिन में भोग करता है, वह अपने प्राणों को हानि पहुँचाता है अर्थात् जीवन को न्यून करता है। इस कारण दिन के समय भोग करना पाप है। जो मनुष्य रात्रि को सम्बन्ध करते हैं, वह एक प्रकार के ब्रह्मचारी हैं; क्योंकि इन में अर्द्ध रात्रि तक विषय-वासना को रोकने की शक्ति है। जितना मन और इन्द्रियों पर अधिकार रख सके और वेदाज्ञानुकूल कर्म करे, यही ब्रह्मचर्य और जितना वेद-आज्ञा के विरुद्ध इन्द्रियों का दास बनकर कर्म करे, यही हानिकारक है। निदान, दिन में विषय-भोग आत्मा के बल को हानि पहुँचाने वाला है, या शरीर को रोग-ग्रसित करने वाला है। जितना रोका जावे, उतना लाभकारी है। सूर्य या दीपक किस प्रकाश की दशा में यह प्राणों को हानि कारक हैं।

अन्नम् वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

प० क्र०—(अन्नम् वै) यह गोधूम, माष, चावल इत्यादि जो अन्न है। (प्रजापतिः) सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने से प्रजापति कहलाता है। (ततो ह वै) उस प्रसिद्ध अन्न से ही। (तत्) उससे। (रेतः) स्त्री-पुरुष का रज वीर्य्य उत्पन्न होता है। (तस्मात्) उस रज वीर्य्य से।

(इमाः प्रजाः) यह जीवयुक्त संसार। (प्रजायन्त) उत्पन्न होती है।

अर्थ—सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने के जैसे अन्न ही प्रजापति हैं, उस अन्न के खाने से स्त्री और पुरुष जीवों में वीर्य्य और रज उत्पन्न होता है; जिससे सम्पूर्ण प्रत्यक्ष दृष्टि आने वाली जगत् की उत्पत्ति होती है; क्योंकि विना रज वीर्य्य के संयोग के सृष्टि उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न—आदि सृष्टि में जो ऋषि उत्पन्न हुए या यवनमत के अनुसार जो पैगम्बर उत्पन्न हुए, वह किसके रज-वीर्य्य से उत्पन्न हुए?

उत्तर—दो प्रकार से सृष्टि उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है। यथा कोई साँचा बनाता है, तो वह साँचे से साँचा नहीं बनाता; किन्तु पहला साँचा हाथ से बनाता है, फिर साँचे से साँचा बनता है। इसी प्रकार आदि सृष्टि में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वह प्रकृति माता और परमात्मा पिता के कारण ईश्वर की शक्ति के साथ से उत्पन्न होते हैं। पश्चात् जब मनुष्य साँचा में बन जाता है, तो उनके रज-वीर्य्य के साथ उत्पत्ति का क्रम आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या, इन ऋषियों को पृथ्वी उगल देती है, जो एक साथ युवा उत्पन्न हो जाते हैं?

उत्तर—रज-वीर्य भोजन से उत्पन्न होता है। भोजन में कहाँ से आता है—परमाणु से। अतः परमात्मा क्रिया हरकत देकर रज-वीर्य बनने योग्य परमाणुओं को नियम से मिला देते हैं, जिससे वह शरीर बन जाते हैं।

प्रश्न—यह बात समझ में नहीं आती कि एकदम से युवा कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?

उत्तर—जब सूर्य-चन्द्र या और पृथ्वी जैसे बड़े-बड़े लोक बनते हुए मानते हो, तो क्या सूर्य थोड़ा-थोड़ा सा मिलकर बना है अथवा एकदम से ? यदि थोड़ा-थोड़ा सा बनता, तो सूर्य सम्बन्धी लोक कभी स्थित नहीं होता। जिस प्रकार यूरुप में एंजन ढालने वाले कार्यालय है। एकदम से इतना बड़ा एंजन, बड़े-बड़े गार्डर इत्यादि ढल जाते हैं; परन्तु भारत वर्ष में नहीं ढलते; तो क्या यह विचार करना चाहिये कि यह पूर्व बहुत छोटे उत्पन्न होते हैं, पुनः पालन-पोषण से इतने बढ़ जाते हैं। यह समझ में न आना केवल परमात्मा की शक्तियों को न जानने का फल है। एक ओर तो बड़े आम की गुठली से आम का वृक्ष होता है, दूसरी ओर बूहर अत्यन्त छोटे बीज से आम से भी बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(तत्) वह उपरोक्त कथित । (ह) प्रसिद्ध। (ये) जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में रखनेवाले हैं। (प्रजापतिव्रतं) प्रजा के रक्षा व्रत को अर्थात् नियम-पूर्वक गर्भाधान आदि। (चरन्ति) चरते हैं। (ते) वह लोग। (मिथुनम्) पुत्र-पुत्री दोनों प्रकार की सन्तान को। (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं। (तेषाम्) उनके अर्थ ही। (ब्रह्मलोक) ब्रह्मज्ञान का दर्शन होता है। (येषाम्) जिनका मन। (तपः) तप। (ब्रह्मचर्यम्) इन्द्रियों को रोककर नियमपूर्वक वेदों की शिक्षा पाना। (येषु)

जिनमें। (सत्यं प्रतिष्ठितम्) सत्य व्रत अटल, जिनका व्रत कभी न टले।

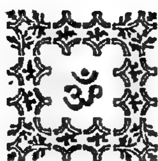
अर्थ—जो मनुष्य नियमानुसार इस संसार में संतान उत्पन्न करते हैं अर्थात् व्यभिचार आदि से रहित होकर जो नियम पूर्वक गृहस्थाश्रम करते हैं, उनकी सन्तान दोनों प्रकार की होती है। जो मनुष्य नियम-विरुद्ध व्यभिचार आदि करतेहैं, वह सन्तान रहित इस संसार से चलदेते हैं। वही मनुष्य ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करते हैं, जो पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम नियमानुकूल करके और विद्या से आत्मा को दृढ़ बना लेते हैं, अथवा तप से। और ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्था-श्रम, वानप्रस्था श्रम इन तीनों को वेद के अनुकूल दृढ़व्रत होकर करते हैं; जिनके भीतर ईश्वर-विश्वास दृढ़तापूर्वक स्थित होता है कि जिसको कोई गिरा ही न सके। ईश्वर-विश्वास संन्यासा-श्रम में दृढ़ होता है। अतः मुक्ति के परमानन्द को वही मनुष्य प्राप्त करते हैं, जो चारों आश्रम—ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ और संन्यास वेद की आज्ञानुकूल मार्ग से न गिरते हुए कर्म करते हैं और जो मनुष्य आश्रम व्यवस्था को तोड़ने अथवा अवैदिक रीति से आश्रम ग्रहण करते हैं, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्मम-नृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

प० क्र०—(तेषाम्) उन मनुष्यों के लिये। (असौ) उपरोक्त शरीर छोड़ने के पश्चात् प्राप्त होनेवाला। (विरजः) सब प्रकार के दोषों से रहित। (ब्रह्मलोको) ब्रह्म देश है। (न) नहीं। (येषु) जिनमें। (जिह्म) छल-कपट धूर्तता इत्यादि।

(अनृतम्) मिथ्या काम। (न) नहीं। (माया) आत्मा के विरुद्ध। (च) और। (इति) यह प्रथम प्रश्न समाप्त हुआ।

अर्थ—वही मनुष्य परमात्मा के दर्शन करने योग्य हैं कि जो छल-कपट, धोका आदि हर प्रकार से रहित हैं, न जिनमें कुटिलता है; जो किसी प्रकार के मिथ्या कर्म करते हैं, बिना ज्ञान के अन्य पदार्थों की उपासना करते हैं और न आत्मा के विरुद्ध मानते और न करने को उद्यत होते हैं। जो मनुष्य इन दोषों से रहित होकर चारों आश्रमों को पूरा करते हैं, वह मुक्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।



अथ द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत् प्रकाशयंते, कः पुनरेषांवरिष्ठ इति ॥ १ । १७ ॥

प० क्र०—(अथ) कात्यायन के प्रश्नोत्तर के पश्चात् । (एनं) इस पिप्पलाद ऋषि को (भार्गवः) भार्गव ऋषि के गोत्र में उत्पन्न हुआ । (वैदर्भिः) वैदर्भि के पुत्र ने । (पप्रच्छ) पूछा । (भगवन्) हे गुरु महाराज । (कति) कितने । (एव) ही । (देवः) देवता । (प्रजां) प्रजा को । (विधारयन्ते) स्थापित रखते हैं । (कतरः) कितने । (एतत्) इस जगत् को । (प्रकाशयन्ते) प्रकाशक । (कः) कौन । (पुनः) फिर । (एषाम्) इनमें । (वरिष्ठ) उत्तम है । (इति) इस प्रकार पूछा ।

अर्थ—जब कात्यायन के प्रश्न का उत्तर पिप्लाद ऋषि दे चुके, तो भार्गव-गोत्र में उत्पन्न हुए वैदर्भि नामी ऋषि ने प्रश्न किया कि महाराज इस जगत् को विशेष धारण करने वाले कितने देवता हैं; क्योंकि कोई वस्तु स्वयम् बिना कर्ता के कभी स्थित नहीं हुआ करती है और जो उत्पन्न होती है, वह किसी

के बिना रह नहीं सकती। कौन से देवता हैं, जो मुक्तिरूप होकर उस प्रजा की अनेक प्रकार की आकृति को स्थित रखते हैं और कौन उसको प्रकाशित करते हैं? फिर इन देवताओं में सर्वोत्तम कौनसा देवता है? इस एक प्रश्न में तीन प्रश्न हैं। प्रथम इस जगत् की आकृति कौन धारण करता है अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण क्या है? द्वितीय यह कि कौन इसको प्रकाशित करता है अर्थात् इसमें जो ज्ञान है, उसका साधन क्या है? तृतीय इन सब देवताओं में सबसे उत्तम देवता कौन है? इसका उत्तर ऋषि देते हैं।

तस्मै स होवाचाकाशो हवा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २। १८॥

प० क्र०—(तस्मै) उस वैदर्भि को। (सः) वह पिप्पलाद ऋषि। (होवाच) स्पष्ट कहने लगे। (हवै) निश्चय करके। (आकाशः) आकाश। (एव देवः) प्रकाशमान। (वायुः) वायु। (अग्निः) अग्नि। (आपः) जल। (पृथिवी) भूमि। (वाक्) जिह्वा। (मनः) मन। (चक्षुः) नेत्र। (श्रोत्रम्) कान। (च) और। (ते) वह। (प्रकाश्य) निज महिमा को प्रकाशित करते हुए। (अभिवदन्ति) कहते हैं। (वयम्) हम भी। (एतत्) इसके। (बाणम्) इसके ठहरने में सन्देह है। (अविष्टभ्य) रोक कर। (विधारयामः) विशेषता के सहित धारण करते हैं।

अर्थ—पिप्पलादि ऋषि ने स्पष्ट उस वैदर्भि ऋषि ने कहा कि निश्चय करके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पंच

तत्व इस शरीर के उपादान हैं और वाक, हस्त, पाद, उपस्थत तथा लिंगेन्द्रिय मिलाकर पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन अर्थात् चारों प्रकार के अन्तःकरण जिसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कहते हैं, जो मन की चार प्रकार की अवस्थायें हैं और आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ यह अभिमान से कहते हैं कि जिस प्रकार उस मकान की छत को जिसके गिरने का संदेह हो, धन्न के थुने देकर स्थित रखते हैं; ऐसे ही हम इस शरीर को स्थित रखते हैं। यद्यपि मन और इन्द्रियाँ प्राण सब जड़ हैं, परन्तु अलंकार रूप से जो उनका शास्त्रार्थ है, उसको प्रकाशित करते हैं, जिससे सत्य ज्ञान के जाननेवालों को विदित हो जावे कि आन्तरिक अवस्था क्या है। इस कारण इस प्रश्न के उत्तर में ऋपि प्राण और इन्द्रियों का शास्त्रार्थ दिखलाते हैं।

प्रश्न—श्रुति ने केवल वाणी पृथक इन्द्रिय लिखी। तुमने पाँचों कर्म-इन्द्रियाँ किस प्रकार ग्रहण की और मन लिखा है। उसके चारों प्रकार के अन्तःकरण और आँख कान से सब कर्म इन्द्रियाँ कैसे ग्रहण की?

उत्तर—लक्षण आदि से उस प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण होता है। इसलिये उपपन्न अर्थात् एक-एक, दो-दो वर्णन करके आगे श्रुति ने सबका लक्षण दे दिया है; जिससे सब कर्म-इन्द्रियाँ, ज्ञान-इन्द्रियाँ और चारों प्रकार के अन्तःकरण लिये जा सकते हैं।

प्रश्न—जड़ इन्द्रियों में अभिमान कैसे हो सकता है? जब अभिमान हो ही नहीं सकता, तो अभिमान से कहना क्यों लिखा?

उत्तर—अभिमान न तो चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप को होता है और न जड़ को होता है; किन्तु सदा न्यूना द्विवियवाले को

होता है। सो यह इन्द्रियाँ, जो अल्प-ज्ञानी जीवात्मा की शक्ति से क्रिया पाती हैं, अहङ्कारी अर्थात् अभिमान कहला-सकती हैं।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमा-पद्यथा ऽहमेवैतत्पञ्चाधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैत द्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥ १६ ॥

प० क्र०—(तान्) उन इन्द्रियरूप देवतों को। (वरिष्ठः) इनमें सब से उत्तम। (प्राणः) प्राणों ने। (उवाच) कहा। (मा) मत। (मोहं) मोह। (आपद्यथ) अभिमान से भूल मत करो। (अहम्) मैं। (एव) है। (एतत्) इस प्रत्यक्ष। (पंचधात्मानं) इस पाँच प्रकार के प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। (प्रविभज्य) विभाग करके। (एतत्) इस। (वाणम्) शरीर को। (अवष्टभ्यः) रोककर। (विधारयामि) धारण करता हूँ।

अर्थ—इन्द्रियों के इस अभिमान को देखकर उनमें से सबसे श्रेष्ठ जो प्राण हैं, उसने कहा—हे इन्द्रिय रूप देवतो! तुम अज्ञान से भूल में मत पड़ो। इस शरीर को तुम धारण नहीं करते कि तुम्हे स्वयम् आपको पाँच प्रकार से विभाजित करके अर्थात् एक, प्राण, द्वितीय अपान, तृतीय व्यान, चतुर्थ समान, पंचम उदान रूप होकर, इस शरीर को गिरने से रोककर धारण करता हूँ। तुम इसको धारण करनेवाले नहीं; किन्तु मैं हूँ। अब यह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ कि शरीर को धारण करनेवाला कौन है? इन्द्रियों का पक्ष है कि शरीर हमारे कारण से स्थित है। आगे चलकर प्रमाणों से निर्णय होगा; क्योंकि इस सिद्धान्त के साथ मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है कि मनुष्य का

इन्द्रियों के विषयो के भोगने से जीवन होता है अथवा प्राणों की रक्षा। प्राणायाम इत्यादि और प्राणों को ठीक रखनेवाला भोजन हो और अन्य सामान से आगे इस विचार को देखते हैं।

तेऽश्रद्दधाना बभूवः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरेसर्वएवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते। तद्यथामक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रान्तं सर्वा एवोत्क्रामंते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रंच ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥४।२०॥

प० क्र०—(ते) वह इन्द्रियरूप देवता। (अश्रद्दधानाः) श्रद्धा से शून्य। (बभूवुः) हो गये या उन्होंने अपना काम छोड़ दिया, जिससे शरीर नष्ट हो जावे, इस पर वह प्राण। (अभिमानात्) अभिमान से। (ऊर्ध्वमुत्क्रमतः) शरीर को छोड़ कर चल दिया। (तस्मिन्) उस प्राण। (उत्क्रामत्यथ) उठकर जाने से। (इतरे) अन्य सब देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। (सर्व एवोत्क्रामंते) सब छोड़ कर चल दिये। (तस्मिन् प्रतिष्ठमाने) उसके आ जाने पर। (सर्व) सब इन्द्रियाँ। (एव) है। (प्रतिष्ठंत) ठहर गये। (तत्) वह। (यथा) जैसे। (मक्षिका) मधुमक्खी। (मधुकर राजान) मक्खियों के राजा के। (उत्क्रामन्तं) उठते ही। (सर्वा) सब। (एव) ही। (उत्क्रामन्ते) उठकर चल देती हैं। (च) और। (तस्मिन्) उसके। (प्रतिष्ठमाने) ठहरने पर। (सर्व) सब। (एव) ही। (प्रतिष्ठंते) ठहर जाते हैं। (एवम्) इसी प्रकार। (वाक्) वाणी। (मनः) मन। (श्रोत्रम्) कान। (च) और। (ते) वह।

(मीताः) प्राण को अपना जीवन समझ कर । (प्राणः) प्राण को । (स्तुन्वन्ति) प्रशंसा करते हैं ।

अर्थ—जब प्राण ने कहा कि मैं इस शरीर को रोकने वाला हूँ; तब इन्द्रियों ने इसको बड़ा मानकर, निज कार्य को त्याग दिया । यह शरीर नेत्र के जाने से अन्धा हो गया, परन्तु जीवित रहा; कान के काम न करने से बधिर हो गया, परन्तु जीवित रहा; वाणी के काम न करने से गूँगा हो गया, परन्तु जीवित रहा; हाथ के काम न करने से लूला हो गया, परन्तु जीवित रहा और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के काम त्याग देने से जीवित बना रहा । इन्द्रियों की इस दशा को देखकर प्राण ने अपना बल दिखाने के अर्थ अभिमान से शरीर को त्याग दिया; क्योंकि बिना प्राण के इन्द्रियों की रक्षार्थ जिस रस की आवश्यकता है, वह रस किस प्रकार मिल सकता था । प्राण ही भोजन को पचा करके सम्पूर्ण शरीर को विभाजित करता है, जिससे इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं । जब प्राण के साथ ही इन्द्रियाँ शरीर को त्याग कर चली गईं, तो प्राण फिर शरीर में आ गया; जिसके साथ ही इन्द्रियाँ पुनः आ गईं; क्योंकि इन्द्रियाँ बिना प्राणों के कुछ कर ही नहीं सकतीं । जिस प्रकार मधु के छत्ते में जो मक्खियों की रानी होती है, जब तक वह छत्ते में रहती है, तब तक मक्खियाँ बैठी रहती हैं और जब वह रानी छत्ते को त्याग कर चल दे, साथ ही मक्खियाँ भी चली जाती हैं । जहाँ रानी बैठ जावे; वहीं सब बैठ जाती हैं । ऐसा ही सम्बन्ध प्राण और इन्द्रियों का है । जहाँ प्राण होंगे, वहीं इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं । यदि प्राण न हो, तो इन्द्रियाँ कुछ कर ही नहीं सकतीं । मन और इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है । जब तक प्राण वश में न आवे, मन और इन्द्रियाँ वश में आ ही नहीं सकतीं । प्रत्येक कर्म

जो इस शरीर से होता है, उसका मूल प्राण है; क्योंकि प्राण ही से सम्पूर्ण शरीर क्रिया करता है। जब इन्द्रियों ने देखा कि हमारा जीवन ही प्राणों के साथ है, जब तक प्राण रहेंगे तब ही तक हम जीवित रहकर काम कर सकती हैं और जहाँ प्राण पृथक् हुए, हम इस शरीर में रह ही नहीं सकतीं; तब प्राणों को अपना जीवन समझकर उसकी प्रशंसा (बड़ाई) करने लगीं। ब्रह्मविद्या के जाननेवालों ने इस ज्ञान से भी इसे योग दिया कि हम प्राणायाम आदि करके जीवन को भी स्थित रख सकते हैं और मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको भी रोक सकते हैं।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिविरयिर्देवः सदसच्चाऽमृतं च यत् ॥ ५ । २१ ॥

प० क्र०—(एष) भोगनेवाले प्राण। (अग्नि) आग होकर। (तपति) तपता है, यदि प्राण अर्थात् वायु न हो, तो अग्नि नहीं जल सकती। (एष) यही। (सूर्य) सूर्य ही। (एष पर्जन्यो) इस प्राण के कारण से वर्षा होती है। (एष) यही प्राण। (मघवन) अनेक प्रकार के धन को उत्पन्न करता है। (एष) यही। (वायुः) ले जानेवाला वायु है। (एष) यही प्राण। (पृथिवी) पृथ्वी की भाँति प्रत्येक वस्तु को रोकता है। (रयिर्देवः) यही सबको भोगता है। (सत्) कारणरूप। (असत्) कार्यरूप। (अमृतम्) नाश से रहित कारणरूप। (च) और। (यत्) जो है।

अर्थ—प्राण का लक्षण करते हैं कि यह अन्न ही अग्नि की गरमी का कारण है; क्योंकि वायु से ही अग्नि उत्पन्न होती

है। जहाँ प्राण वायु न हों, वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकती। यदि घड़े के भीतर जहाँ वायु न लगे, दीपक जलाकर रख दिया जावे, तो बहुत शीघ्र ही बुझ जाता है। कारण यह है कि प्राण वायु इधर-उधर से अग्नि के परमाणु को लाकर सम्मिलित नहीं करता। सूर्य तो प्राणरूप है, क्योंकि सूर्य भी अग्नि का बीज है और अग्नि प्राण से उत्पन्न हुई। अतः सूर्य भी प्राण से ही उत्पन्न हुआ है। यही प्राण वायुस्वरूप है और इसके कारण पृथिवी स्थित है; यही पृथिवी का काम देता है; क्योंकि सब शरीरों को जिस प्रकार पृथिवी स्थित रखती है, इसी प्रकार प्राण ही शरीरों के धारण करनेवाला है। निदान जो कारण कार्यरूप अर्थात् मूर्ति से रहित और मूर्तिमान या वायु द्रव और ठोस जगत है, उस कारण का कारणरूप प्राण है।

अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ऋचो यजुꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ । २२ ॥

प० क्र०—(अरा इव) जैसे आरे। (रथनाभौ) रथ की नाभि में लगे होते हैं। (प्राणे) प्राणों में। (सर्वं) सब। (प्रतिष्ठितं) ठहरे हैं। (ऋचः) स्तुति। (यजूꣳषि) कर्म-काण्ड। (सामानि) उपासना। (यज्ञ) देव-पूजा, दान आदि। (क्षत्रं) बल। (च) और। (ब्रह्म) ज्ञान।

अर्थ—जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में आरे लगे होते हैं, जो नाभि के बिना स्थित नहीं रह सकते; ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ प्राणों से स्थित रहते हैं। ऋग्वेद जिससे स्तुति की जाती है, वह प्राणों से स्थित; यजुर्वेद जिससे क्रिया होती है, वह भी प्राणों से स्थित है और सामवेद जिससे

उपासना होती है, वह भी प्राणों के कारण से है। यज्ञादि कर्म भी प्राणों के ही द्वारा होते हैं। शरीर में जो बल स्थित है, वह भी प्राणों के ही कारण से है। निदान वाह्य पदार्थों का ज्ञान जिससे ब्राह्मण बनते हैं, वह भी प्राण वायु के ही आधार से है। तात्पर्य यह है कि चाहे किसी प्रकार का काम या ज्ञान करना हो, वह प्राणधारी जीव ही कर सकता है प्राण से रहित जीवात्मा सब कामों से शून्य होता है अर्थात् वह कुछ काम नहीं कर सकता। ज्ञान, बल, यज्ञ, स्तुति, कर्म, उपासना सब प्राणों से ही हो सकते हैं अर्थात् जो जीव का लक्षण है कि वह ज्ञान तो स्वाभाविक रखता है, अन्य कामों को यन्त्रों से कर सकता है। जिस यंत्र से जीव काम करता है, वह प्राण ही है, अतएव प्रत्येक योनि में रहता हुआ जीव प्राणी कहलाता है। जो कुछ वृद्धि, क्षय, उत्पत्ति कमी इत्यादि विकार हैं सब प्राणों के कारण ही है।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राणः! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ । २३ ॥

प० क्र—(प्रजापति) सम्पूर्ण उत्पन्न हुए संसार के पालनकर्ता होने से प्रजापति प्राण का नाम है (चरसि) क्रिया करता है या रहता है। (गर्भ) माता के गर्भ में। (त्वमेव) तू ही। (प्रतिजायसे) तू ही सन्तान रूप में उत्पन्न होता है। (तुभ्यं) तेरी रक्षार्थ। (प्राण) हे प्राण। (प्रजाः) संसार। (त्वं) तू भी। (इमा) यह। (बलिम्) मास। (हरन्ति) खाते हैं। (यः) जो। (प्राणैः) पाँच प्रकार के प्राणों रूप से

अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान व्यान रूप से शरीर में। (प्रतितिष्ठसि) स्थित होकर रह सकते हैं।

अर्थ—इस शरीर में जितने काम होते हैं उन सबका कारण प्राण है। जीव तो केवल नियम में रखनेवाला है शेष सब क्रिया प्राणों से होती है। प्राण ही माता के उदर में जाकर लोथड़ा बनाते हैं, प्राण-पुत्र और पुत्री के रूप में उत्पन्न होकर बाहर दृष्टि पड़ते हैं। यह सब जगत पशु और पक्षी तथा जीव-जन्तु प्राणों की रक्षार्थ ही भोजन करते हैं, क्योंकि क्षुधा तृषा प्राणों का ही धर्म है। यदि प्राणों को उसकी भोग वस्तु न दी जावे, तो भूख, प्यास से शरीर समाप्त हो सकता है, प्राण ही खाने वाला है।

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ॥८। २४॥

प० क्र०—(देवानम्) देवता में। (असि) है। (वह्नितमः) बहु प्रकारके कामों को चलानेवाला। (पितॄणां) उत्पन्न करने वालों में। (प्रथमा) सबसे पहिला। (स्वधा) कल्याणकारक (ऋषिणां) ऋषियों में। (चरित) कर्म काण्ड। (सत्यं) सत्य। (अथर्व अंगिरसाम्) निश्चयात्मक ज्ञानवाले तपस्वी मनुष्यों में। (असि) है।

अर्थ—जितने वसु, रुद्र, आदित्य देवता हैं, उनमें तू सबसे अधिक आवश्यक है क्योंकि विना तेरे उनकी सत्ता से जीवों को लाभ नहीं पहुंच सकता। जितने देवता हमको लाभ पहुँचाते हैं वह तब ही हो सकता है, जबकि शरीर में प्राण हों क्योंकि प्राणों के विना शरीर शिथिल रहता है और संतान उत्पन्न करनेवाला पुत्रों में भी तू ही सबसे प्रथम है क्योंकि प्राण के

बिना संतान उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसमें प्राण हैं वही सन्तान पैदा कर सकता है और ऋषियों में तप और कर्म किया जाता है वह भी प्राणों के द्वारा ही होता है। सब से श्रेष्ठ कर्म योग है, वह प्राणों के रोकने और नियम के अनुकूल चलाने के बिना नहीं हो सकता अर्थात् ऋषि प्राणों से ही बनते हैं और जो मनुष्य अंगिरा ऋषि पर प्रकट होने वाले अथर्व वेद से सत्य को निश्चय करते हैं, उसमें भी यही कारण है।

प्रश्न—यहाँ सत्य के साथ अथर्व वेद का क्यों सम्बन्ध प्रकट किया?

उत्तर—ऋग्वेद, पदार्थों की परिभाषा अर्थात् लक्षण बताता है; जिसको जाग्रत अवस्था श्रवण ज्ञानकाण्ड और ब्रह्मचर्याश्रम के साथ उपमा दी गई है और यजुर्वेद में यज्ञ आदि कर्मों की विधि को बतलाया है; जिससे उससे स्वप्न अवस्था में कर्मकाण्ड और गृहस्थाश्रम के साथ अनुकूलता बतलाई है। वेद उन कर्मों के फलों का गान करता है, जिससे उसे सुषुप्ति अवस्था निदिध्यासन, उपासना काण्ड और वानप्रस्थ आश्रम से प्रकट किया गया। अथर्ववेद ने उन सब की रक्षा का विधान बताया है। जिस कारण तुरीयावस्था साक्षात्कार विज्ञान काण्ड और संन्यास-आश्रम के साथ विदित किया गया है। साक्षात्कार विज्ञान सत्य है, इस कारण अथर्ववेद के सम्बन्ध से प्रकाश किया गया है।

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९। २५॥

प० क्र०—(इन्द्र) वर्षा करने वाला। (त्वम्) तू ही। (प्राण) हे प्राण। तेजसः) तेज शक्ति के कारण से। (रुद्रः) रुलाने वाला। (असि) है। (परिरक्षिता) सब प्रकार रक्षा करने वाला तू है। जब तक प्राण हैं, तब तक कोई मर ही नहीं सकता। (त्वम्) तू। (अंतरिक्षे) आकाश में। (चरसि) हरकत करता है। (ज्योतिषांपतिः) चन्द्र, सूर्य तारे इत्यादि जितने प्रकाशक पदार्थ हैं, उन सब का पति अर्थात् रक्षक सूर्यरूप तू ही (परमात्मा) है।

अर्थ—संसार में जिस प्रकार की क्रिया पाई जाती है, वह सब प्राणों के कारण से है। प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य दूसरे विशेष प्राण। सामान्य प्राण से सामान्य क्रिया का और विशेष प्राण से विशेष क्रिया का प्रकाश होता है और वर्षा, सामान्य प्राण से होती है और उसके कारण का नाम इन्द्र रक्खा गया है। इस कारण कहते हैं कि हे प्राण! वर्षा के हेतु तू इन्द्र है और जितने जीव होते हैं, वह सब मृत्यु के कारण रुदन करते हैं और मृत्यु प्राण के कारण से होती है। जब नियमित प्राण समाप्त हो जाते हैं, तब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, जिसका नाम मृत्यु है और मृत्यु के भय से मनुष्य रुदन करते हैं। इस हेतु हे प्राण! तू अपनी महान् शक्ति रुदन-कर्ता है और जब तक प्राण विद्यमान हैं, जीव शरीर को त्याग नहीं सकता। इस कारण जीव के रहने का स्थान जो शरीर है, उसका रक्षक भी, हे प्राण! तू ही है। हे प्राण! तू आकाश में घूमने वाला और सम्पूर्ण, सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि पदार्थों का पति है। अर्थात् सामान्य प्राण के द्वारा ही इन सब की सत्ता स्थित है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० । २६ ॥

प० क्र०—(यदा) जब । (त्वम्) तू । (अभिवर्षस्य) बादलों के जल को पृथ्वी पर डालता है । (अथ) तब । (इमा) यह सांसारिक मनुष्य । (प्राण) हे प्राण । (ते) तेरे । (प्रजाः) प्रजा । (आनन्दरूपाः) प्रसन्नता की दशा में आकर। (तिष्ठन्ति) स्थित होती हैं । (कामयः) आवश्यता के हेतु । (अन्नम्) अन्न । (भविष्यति) उत्पन्न हो जावेगा । (इति) इस कारण।

अर्थ—हे प्राण ! जब तू बादल से बादल को टकराकर जल को पृथिवी पर गिराता है, तो उस समय सम्पूर्ण जीव चाहे मनुष्य हों अथवा पशु, अन्य जीव-जन्तु पक्षी इत्यादि सम्पूर्ण तेरी प्रजा आनन्दस्वरूप हो जाती है; क्योंकि इनको अपने मार्ग पर पहुंचने के लिये जीवन की आवश्यकता हैं, जीवनार्थ भोजन की आवश्यकता है, और वर्षा से प्रत्येक जीव का भोजन उत्पन्न होता है; क्योंकि वह देखते हैं कि वर्षा हो गई, अब अन्न घास इत्यादि बहुत हो जावेंगे।

प्रश्न—जो पशु वनस्पति इत्यादि खाते हैं। उनको तो वर्षा से भोजन उत्पन्न होने की प्रसन्नता होती है, परन्तु मांस-भक्षक पशुओं को वर्षा से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जब घास न हो, तो घास खाने वाले जीव जीवित ही न रहें, तो मांस-भक्षक किसका मांस खावें। अतः सब का जीवन वर्षा पर निर्भर है। जिन देशों में घास उत्पन्न होती, वहाँ मांस-भक्षक जीव भी नहीं होते और जहाँ यह पशु न हों, तो वहाँ मांस-भक्षक किस प्रकार रह सकते हैं । अतः कुल संसार वर्षा से प्रसन्न होता है।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः॥११।२७॥

प० क्र०—(व्रात्यः)संस्कार न करने योग्य। (त्वम्) तू ही। (प्राण) हे प्राण। (एक) बहुत से जीवों में एक आकार का। (ऋषि) हर समय चलनेवाला। (अत्ता) प्रत्येक वस्तु का भक्षक। (विश्वस्य) सब जगत् का। (सत्पतिः) ठीक-ठीक रक्षक। (वयम्) हमको। (आद्यस्य) अन्न आदि भोजन का। (दातारः) दाता। (पिता) उत्पादक। (त्वम्) तू ही। (मातरिश्वनः) हे प्राणवायु।

अर्थ—हे प्राण! तू पृथिवी, जल, अग्नि से सूक्ष्म है और उनके गुण तुझ में आ नहीं सकते, इस हेतु संस्कारों की आवश्यकता से रहित है और तू बहुत से जीवों में एक ही रूप से विद्यमान् है। अतः प्रत्येक समय क्रिया करनेवाला और अपने साथ अन्य वस्तुओं को हरकत देनेवाला है और समस्त जगत् का रक्षक है। यदि तू न हो, तो कोई जीव जीवित नहीं कहला सकता, क्योंकि प्राण का नाम ही जीवन है और सब इन्द्रियों का पोषक पिता हे प्राणवायु! तू ही है।

प्रश्न—हम तो वायु को दुर्गंध तथा सुगंधयुक्त देखते हैं, फिर वायु का संस्कार क्यों नहीं?

उत्तर—वायु, जल और मिट्टी के परमाणुओं को उठाकर चलती है, तो वह सुगंध तथा दुर्गंध उन परमाणुओं में है न कि वायु में; क्योंकि सूक्ष्म वायु के भीतर यह दोष नहीं आ सकता।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥ २८॥

प० क्र०—(या) जो। (ते) तेरा। (तनु) विस्तार फैला। (वाचि) वाणी। (प्रतिष्ठित) प्रतिष्ठित है। (या) जो। (श्रोत्रेः) कानों में। (चक्षुपि) नेत्रो में है। (या) जो। (च) और। (मनसि) मन में। (सन्तान) मन की वृत्तियों में फैला हुआ है। (शिवां) कल्याणकारक। (ताम्) उसको। (कुरु) कर। (मा) मत। (उत्क्रमीः) वहाँ से पृथक्।

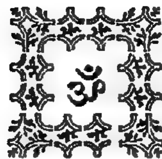
अर्थ—प्राण! तेरा जितना विस्तार वाणी में स्थित है, जितना श्रोत्र, नेत्र इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों में फैला हुआ है और जितना मन की वृत्तियों में फैला हुआ है, इसीसे हमारा कल्याण अर्थात् जीवन है; तू इसको इस स्थान से मत हटा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो काम होता है, वह उसके भीतर रहनेवाले प्राणों द्वारा होता है। यदि प्राण उस स्थान से पृथक् हो जावें, तो इन्द्रियाँ कुछ भी काम नहीं कर सकतीं। अतएव, तुम यदि इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहते हो, तो प्राणों को रोको; क्योंकि प्राणों के रुकने से इन्द्रियाँ रुक जातीं हैं और प्राणों के रुकने से मन भी रुक जाता है। बिना प्राण के रोकने के इनका रोकना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ २६ ॥

प० क्र०—(प्राणस्य) प्राणों में। (इदम्) यह। (वशे) वश में है। (सर्वम्) सब कुछ जो। (त्रिदिवे) तीन प्रकार लोकों में। (यत्) जो। (प्रतिष्ठितम्) जो स्थित है। (माता इव) माता की भाँति। (पुत्रान्) बेटों को। (रक्षस्व) रक्षा कर। (श्रीश्च) धर्म की शोभा। (प्रज्ञाम्) ज्ञान या बुद्धि। (विधेहि) धारणकर। (न) हमको। (इति) बस।

अर्थ—तीनों प्रकार के लोक अर्थात् कर्मयोनि, भोगयोनि, उभययोनि, ऊपर, नीचे या मध्य में जो कुछ स्थित है, वह सब प्राणों के वस में है। किसी योनि को प्राण त्याग जावें, वह अपने काम में रुक जावेगी। रक्त-भक्षक सिंह तब ही तक जीवित है, जब तक उसमें प्राण हैं। यदि सिंह के शरीर में प्राण पृथक् हो जावें, तब अपना काम नहीं कर सकता। दुग्ध-दाता परोपकारी पशु तब ही तक उपकार कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण हैं। यदि उनमें प्राण न हो, तो वह कर्म नहीं कर सकते, मनुष्य तब ही तक शुभाशुभ कर्म कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण हैं। जब प्राण निकल गये, तब बली, निर्बल, विद्वान् और अविद्वान् नृप और अनाथ सब समान हो जाते हैं। प्राण तुम्हारे वश में नहीं; किन्तु तुम प्राणों के वश में हो। कोई बड़े से बड़ा राजा कितना ही प्रबन्ध क्यों न करे, कैसे ही भवन क्यों न बनावे, कितनी ही सेना क्यों न रक्खे, प्राणों के आवागमन को रोक नहीं सकता। जब चाहे, प्राण उसके ऐश्वर्य, शासन तथा बल की समाप्ति कर सकते हैं। प्राण इस प्रबन्ध में चलते हैं, जैसे एंजन के भीतर जो ड्राइवर होता है, एंजन की भाप उसके वश में होती है, एंजन भाप के वश में होता है, और सब गाड़ियाँ एंजन के आधीन होती हैं और गाड़ियों पर बैठनेवाले, गाड़ियों के भीतर होते हैं। निदान, प्राणों के आधीन सब जगत् है और प्राणों के प्राण परमात्मा के आधीन हैं; जिसका विचार वेदान्त-दर्शन और केनोपनिषद् में कर चुके हैं।

इति द्वितीय प्रश्न समाप्तः।



अथ तृतीय प्रश्न

अथहैनं कौसल्यश्चाऽश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्! कुत एष प्राणो जायते कथमायात्ययस्मिन् शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं वाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ । ३० ॥

प० क्र०—(अथ) उस वैदर्भि के प्रश्न के पश्चात् । (एनम्) उस पिप्पलाद ऋषि को । (कौशल्य अश्वलायन) कौशलनामी अश्वल के पुत्र ने । (पप्रच्छ) प्रश्न किया । (भगवन्) हे गुरु । (कुतः) कहाँ से । (एष) यह । (प्राणः) प्राण । (जायते) उत्पन्न होते हैं । (कथम्) कैसे । (अयाति) आता है । (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में । (आत्मानम्) अपने को । (वा) या । प्रविभज्य) विभाग करके । (कथम्) कैसे । (प्रतिष्ठते) स्थित रहता है । (केन) किसके । (उत्क्रमते) शरीर को त्यागकर निकलता है । (कथम्) कैसे । (वाह्यम्) बाहर की वस्तुओं को । (अभिधत्ते) धारण करता है । (कथम्) कैसे । अध्यात्मम्) भीतरी वस्तुओं को । (इति) यह ।

अर्थ—प्रथम तो आचार्य से यह प्रश्न किया कि इस प्रजा को कौन उत्पन्न करता है। फिर पूछा कि इनमें कौन इस शरीर को स्थित रखता और प्रकाश करता है और कौनसा सबसे श्रेष्ठ देवता है। इसके पश्चात् अब प्रश्न हुआ कि यह प्राण, जिसको महाश्रेष्ठ बताया है, किससे उत्पन्न होता है, किस प्रकार इस शरीर में आता है और किस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान होकर किस-किस स्थान में स्थित होता है? किसकी शक्ति से शरीर से निकलता है किस प्रकार बाह्य पदार्थों को धारण करता है और किस प्रकार शरीर के भीतर की वस्तु को। इस प्रश्नोत्तर के क्रम से विदित होता है कि प्राचीन काल के विद्वान किस उत्तम विधि से ज्ञान के मार्ग को पूर्ण करते थे। जिस प्रकार वर्तमान काल में अज्ञानी मनुष्य ज्ञानी होने का अभिमान रखते हैं, यह दशा उस समय न थी।

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहंब्रवीमि॥ २ / ३१॥

प० क्र०—(तस्मै) उसको कौशल को। (सः) वह पिप्पलाद ऋषि। (होवाच) कहने लगे। (अति प्रश्नान्) बहुत कठिन प्रश्नों को। (पृच्छसि) तू पूछता है। (ब्रह्मष्ठि) तू ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखने वाला। (असि) है। (तस्मात्) इस कारण से। (ते) तुझको। (अहम्) मैं। (ब्रवीमि) बताता हूँ।

अर्थ—इन प्रश्नों को श्रवण कर कौशल से पिप्पलाद मुनि ने कहा कि तुम बहुत कठिन प्रश्नों को पूछते हो और तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण अभिलाषी तथा अधिकारी हो अर्थात् इन प्रश्नों को समझने योग्य हो। इस कारण इनका उत्तर तुमको देता हूँ।

जो जिसके योग्य हो वह उसको देना आवश्यक है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि अधिकारी को ही उपदेश देना उचित है। जो योग्य नहीं, उसको उपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि ठीक आशय को तो वह समझ नहीं सकता और जो अर्थ उस उपदेश से निकलता है, निकाल नहीं सकता; किन्तु शब्दों को तोते की भाँति उच्चारण करने लगता है। दूसरे मनुष्य उसे ज्ञानी समझते हैं। वास्तव में ज्ञानी न होने से वह उस कर्म से वंचित रहता है; क्योंकि जिस ज्ञान को निश्चय कर लिया हो, उसी को कर्म द्वारा करते हैं; क्योंकि बिना निश्चय ज्ञान के कभी कर्म नहीं होता। नित्य प्रति हम देखते हैं कि मनुष्य नित्य श्रवण करते हैं; परन्तु कर्म उसके विरुद्ध करते हैं। अन्यों का वैराग्य का उपदेश करने वाले साधु, स्वन् धन को जमा करते हैं। पिप्पलाद ऋषि यह उत्तर देते हैं।

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैशापुरुषे छायैतस्मिन्नेदाततं । मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥ ३ । ३२ ॥

प० क्र०—(आत्मनः) उस सर्वव्यापक परमात्मा से । (एष) यह । (प्राणः) प्राण । (जायते) उत्पन्न होते हैं । (यथा) जैसे । (एष) इस । (पुरुष) पुरुष होने से । (छाया) छाया होता है और नहीं होने से नहीं होता । (तस्मिन्) इस प्राण में । (एतत्) यह आत्मा । (आततम्) व्यापक हो रहा है । (मनोकृतेन) मन के किये हुए शुभाशुभ वासना से । (आयाति) आता है । (अस्मिन्) इस । (शरीरे) शरीर ।

अर्थ—पिप्पलादि ऋषि कहते हैं कि इस प्राण का उत्पन्न करनेवाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के होने से छाया होती है और शरीर के न होने से छाया नहीं होती; इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति से यह प्राण उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्मा प्रकृति में से प्राण बनाते हैं। जड़ प्रकृति के भीतर संयोग की शक्ति होने से प्राण बनने के नहीं। प्राणों के भीतर परमात्मा व्यापक हो रहा है। जहाँ सामान्य प्राण हैं, वहाँ परमात्मा और जहाँ विशेष प्राण हैं, वहाँ जीवात्मा, परमात्मा दोनों विद्यमान हैं। इस शरीर में प्राण मन की शुभाशुभ वासनाओं से आया है। दूसरे स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि उस परमात्मा से ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। बिना परमात्मा के प्राण कर्म नहीं कर सकता। सम्पूर्ण जगत् में प्राण व्यापक है क्योंकि वह जगत् से सूक्ष्म है परन्तु आत्मा में प्राण व्यापक नहीं, किन्तु प्राणों में आत्मा व्यापक है। आत्मा ही प्राणों को विभाग करके इस शरीर की घटिका को चलाता है।

प्रश्न—किस प्रकार मानें कि प्राणों को आत्मा ने उत्पन्न किया?

उत्तर—प्राण संयोग है अर्थात् अग्नि से मिश्रित वायु है। संयोग वस्तु बिना मिलाप के हो नहीं सकती और योग या तो परमाणु का स्वभाव स्वीकार किया जावे अथवा नैमित्तिक, यदि परमाणु का स्वभाव संयोग हो, तो कर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः परमाणु स्वाभाविक ही संयोग अवस्था में होने वाले होंगे अर्थात् स्वयम् क्रिया करते होंगे। जब सब परमाणु गतिमान होंगे, तो उनकी शक्ति परमाण

होने से समान होगी, जिससे क्रिया सम होगी, क्रिया के सम होने से उनके मध्य जो अन्तर था, वह कभी दूर नहीं हो सकता; जिससे वह मिल नहीं सकते। यदि यह निष्क्रिय हो तो क्रिया के न होने से अन्तर दूर हो नहीं सकता। यदि संयोग का नैमित्तिक गुण स्वीकार किया जावे, तो उस का कारण परमाणुओं से पृथक् मानना पड़ेगा, जो आत्मा के अतिरिक्त दूसरा हो नहीं सकता, क्योंकि क्रिया दो प्रकार से दी जाती है—एक भीतर से, दूसरी बाहर से। प्राण भीतर से गति देते हैं। एंजन के भीतर भाप भीतर से गति देती है। गाड़ी, घोड़े, बैल, ऊँट बाहर से हरकत देते हैं। परमाणु के सूक्ष्म होने से बाहर से गति दी नहीं जा सकती। अतः परमाणुओं को भीतर से ही गति दे सकते हैं, जो परमाणु के भीतर भी प्रवेश हो जावे, वही उसे गति दे सकता है; अतः उसका नाम आत्मा है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कहते हैं कि परमात्मा है, तो हमारे हाथ नीचे करदे और मेज पर से पेंसल उठावे।

उत्तर—वह मनुष्य मूर्खों को धोखा देते हैं, क्योंकि परमात्मा उनका दास नहीं, जो उनकी आज्ञा का पालन करे। यदि कोई कहे कि हमारे भारतवर्ष में गवर्नर जनरल हैं, तो हमारे घर में झाड़ू देवें। यदि हमारे घर में झाड़ू न दें, तो हम उनकी सत्ता से ही इनकार कर देंगे। जिस प्रकार गवर्नर जनरल झाड़ू देने को नहीं; किन्तु प्रबन्ध करने के वास्ते हैं; इसी प्रकार परमात्मा जगत् का प्रबन्धकर्ता है, न कि मूर्खों की सेवा करने को।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर के मानने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ईश्वर के माननेवाले में सच्ची शान्त, आत्मिक बल, परोपकार का भाव होता है और जो ईश्वर-विश्वासी है, वह निराश्रय होने से शान्त रहते हैं। पराश्रित दुखी रहता है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान् ग्रामानेता ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैषप्राण । इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ।। ४ । ३३ ॥

प० क्र०—(यथा) जैसे। (सम्राट्) चक्रवर्ती राजा। (अधिकृतान्) स्वाधीन राजाओं को। (अभियुक्तान्) नियत करता है। (एतान्) इन। (ग्रामान्) इन गाँवों को। (एतान् ग्रामानधितिष्ठस्व) नियम पूर्वक ठहरकर प्रबन्ध करो। (इति) ऐसे ही। (एवम्) इस शरीर में। (एष) यह। (प्राणः) प्राण। (इतरान्) दूसरे। (प्राणान्) प्राणों। (पृथक्) पृथक्। (एव) यह। (सन्निधत्ते) स्थित करता है।

अर्थ—जिस प्रकार गवर्नमेण्ट या चक्रवर्ती राजा अपने आधीन राज या सूबों और रजवाड़ों की सीमा नियत करके उससे प्रबन्ध का काम लेता है, प्रत्येक थानेदार अपने थाने की सीमा के भीतर और तहसीलदार तहसील की सीमा में, डिप्टी कमिश्नर प्रान्त की सीमा में लेफ्टीनेंट गवर्नर देश की सीमा में रहकर सब प्रबन्ध करते हैं और अपनी पदवी की आज्ञा के अनुकूल ही काम करते हैं; इसी प्रकार सामान्य प्राण शरीर के भीतर अनेक स्थान में अनेक प्राणों को स्थित करके उनके शरीर के प्रबन्ध का काम लेते हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी सीमा में ही काम करता है। सामान्य प्राण सारे संसार में चक्रवर्ती राजा की भाँति काम करता है और विशेष प्राण अपने-अपने शरीर के

भीतर अपने नियमित स्थान पर ही काम करते हैं। तात्पर्य यह है कि आँख, नाक, कान, वाणी, त्वचा, हाथ, पाँव इत्यादि जितनी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उन सबके भीतर चलानेवाले प्राण ही काम कर रहे हैं। विना प्राणों के इन्द्रियाँ स्वयम् कुछ काम नहीं कर सकतीं क्योंकि वह जड़ हैं। जिस प्रकार एँञ्जिन में स्टीम को ड्रायवर कायम करता है और प्राण इन्द्रियों को हरकत देते हैं, उससे सब काम बाहर भीतर के होते हैं।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते, मध्येतुसमानः। एषह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताःसप्तार्चिषो भवन्ति ॥५।२४॥

प० क्र०—(पायूपस्थे) उपस्थ और लिंगेन्द्रिय। (अपानम्) अपान प्राण रहता है। (चक्षुः) नेत्र में। (श्रोत्रे) कान। (मुखनासिकाभ्य) मुख और नाक में। (प्राणः) प्राण। (स्वयं) स्वयम्। (प्रतिष्ठते) स्थित होती है। (मध्येतु) मध्य में। (समानः) समान वायु रहता है। (एषः) यह। (हि) निश्चय करके। (एतत) इसमें। (हुतम्) भोग्य। (अन्नम्) अन्न। (समं) सम भाग। (नयिति) पहुँचता है (तस्मात) इस कारण से। (एतत) यह। (सप्त) सात। (अर्चिषः) प्रकाशक। (भवन्ति) होते हैं।

अर्थ—गुदा तथा मूत्र-स्थान में अपान वायु होती है, जो मल-मूत्र आदि को नीचे की ओर निकालती है और नेत्र, नासिका, श्रोत्र, मुख में स्वयं प्राण भीतर से बाहर जाता और बाहर से भीतर आता अर्थात् प्राण के आवागमन का यह मार्ग

है और उदर के समीप इनके मध्य समानवायु रहती है, जिससे खाया हुआ भोजन रस बनकर सम भाग कुल इंद्रियों को विभाजित होता है। जो जिस इन्द्रिय का भाग है उसको वैसा ही समान वायु के द्वारा मिलता है। उसका नाम समान इसी कारण से है कि वह सबको समान दृष्टि से रस पहुँचाती है। जिस प्रकार सप्तमार्ग जल के निकलने के होते हैं इसी प्रकार प्राण वायु के निकास के सप्तमार्ग हैं। दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक मुख, इन सात मार्गों में प्राण शरीर में प्रवेश होता और निकलता है।

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः। प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्यासुव्यानश्चरति ॥६।३५॥

प० क्र०—(हृदि) हृदय में। (हि) निश्चय करके। (एष) यह। (आत्मा) आत्मा के देखने के स्थान अर्थात् नाभि कमल है। (अनु) इस नाभि कमल में। (एतत्) उन। (एकशतम्) एक सौ एक नाड़ियों का सम्बन्ध है। (तासाम्) उन नाड़ियों का (शतं) सौ सौ। (एकैकस्यां) फिर उनमें से एक-एक का (द्वासप्ततिर्द्वासप्तति) बहत्तर-बहत्तर। (प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि) उसकी सहस्रों प्रति शाखा। (भवन्ति) होती हैं। (असु) नाड़ियों में। (व्यानः) व्यान वायु। (चरति) क्रिया करता है।

अर्थ—शरीर के भीतर हृदय-आकाश में जहाँ आत्मा का दर्शन होता है, वहाँ नाड़ियों का एक चक्कर होता है जिसमें १०१ नाड़ी हैं। उन एक सौ एक नाड़ियों के आगे-आगे सौ

सौ शाखें हैं जो दस सहस्र एक सौ हैं और उनकी ७२, ७२ शाखें हैं फिर उनकी १०००-१००० शाखें है। इन कुल ७२७२१० २०१ शाखा में व्यान वायु चक्कर खाता हुआ इस शरीर की रक्षा करता है।

प्रश्न—यहाँ शरीर में इतनी नाड़ियाँ बताई इनका प्रमाण क्या? इनको किसी ने देखा है? इनकी गणना भी कठिन है।

उत्तर—शरीर के भीतर की ठीक दशा योगियों को विदित होती है और इन उपनिषदों के बनानेवाले योगी हैं।

प्रश्न—यहां आत्मा को शरीर के एक स्थान में माना है और छान्दोग्योपनिषद् में जब शरीर के एक भाग को जीव छोड़ता है, तब वह सूख जाता है। जब दूसरे को छोड़ देता है,तब वह सूख जाता है। जब तीसरे को छोड़ देता हैं, तब तीसरा सूख जाता हैं; जब सब शरीर को छोड़ता है, तब सम्पूर्ण सूख जाता है। जीव के पृथक् हो जाने से यह शरीर मरता है;जीव नहीं मरता; जिससे जीव शरीर के प्रत्येक भाग में होना पाया जाता है। इन दोनों में कौन सी बात सत्य है?

उत्तर—आत्मा शब्द ही से उसका शरीर में व्यापक होना विदित होता है, परन्तु 'रोहे' वह स्थान है, जहाँ पर मन के शुद्ध होने पर उसको देख सकते है। इस विचार से उसको हृदय के अंगुष्ठ समान स्थान में बताया है। यद्यपि पृथिवी के नीचे प्रत्येक स्थान में जल है, परन्तु लाने को कुवाँ, सरिता, नहर इत्यादि ही बताते हैं; क्योंकि और स्थान से मिल नहीं सकता। सूर्य का प्रतिबिम्ब कुल देश में पड़ता है, परन्तु देखने को शुरू दर्पण तथा जल ही बताते हैं।

अथैकयोर्ध्वउदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम् ॥ ७ । ३६ ॥

प० क्र०—(अथ) इन नाड़ियों में से। (एकयोः) एक में से। (उर्ध्व) जो तालु से ऊपर को है। (उदानः) उदान वायु रहती है। (पुण्येन) अच्छे कर्मों से । (पुण्यलोकम्) जिस शरीर में शुभ कर्मों का फल मिलता है अर्थात् विद्वान् कर्म-काण्डी के शरीर में या योगियों के घर में। (नयति) ले जाता है। (पापेन) पाप करने। (पापम्) पाप का फल भोगनेवाली पशु आदि की भोग योनियों में । (उभाभ्यास) यदि पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म दोनों समान हों। (एव) इसी प्रकार। (मनुष्यलोकम्) मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है।

अर्थ—इन एक सौ एक बड़ी नाड़ियों में से एक नाड़ी के भीतर उदान वायु चलता है अर्थात् जो नाड़ी नाभि-चकर से सीधी सिर की ओर जाती है; जिसको सुषुम्ना नाड़ी के नाम से योगीजन वर्णन करते हैं, उसके द्वारा प्राण जिसका नाम उदान है, चलता है और सूक्ष्म शरीर को लेकर शरीर से निकलता है और इस पर आरूढ़ होकर सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा, परमात्मा के नियमानुकूल जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उसी प्रकार के शरीर को प्राप्त कर लेता है। जिस मनुष्य ने पुण्य अधिक किये हैं और पाप कम, उनको देवताओं के घर ले जाता है। जिसने पाप अधिक किये हैं,उनको पशु, पक्षी,कीट पतंगादि की भोग-योनि में लेजाता है और जिसके दोनों समान हैं; उसको साधारण मनुष्यों का जन्म मिलता है। इस स्थान पर ऋषि कर्मों का फल भी प्रकाशित करते हैं और विधान भी बताते हैं।

प्रश्न—क्या शुभ कर्मकारक देवता नहीं होते ? बहुत से मनुष्य बताते हैं कि जो मनुष्य परोपकार और यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं, वह स्वर्ग में देवता-योनि को प्राप्त होते हैं।

उत्तर—देवता दो प्रकार के हैं—एक तो जड़; दूसरे चैतन्य देवता। जड़ देवताओं की योनि में तो जीवात्मा जा ही नहीं सकता, केवल चैतन्य देवताओं के शरीर मे ही जायगा; क्योंकि चैतन्य का जड़ हो जाना अपने स्वाभाविक गुण का नाश करना है, जो असम्भव है।

प्रश्न— जड़ देवता कौन से हैं और चैतन्य देवता कौनसे हैं?

उत्तर—वसु, रुद्र और आदित्य आदि २३ देवता प्रसिद्ध ही जड़ हैं, इसके अतिरिक्त और भी कोई हो। जितने ज्ञानी पुरुष चैतन्य देवता हैं, जिनके अर्थ विद्वान् ही देवता हैं। शतपथ ब्राह्मण ने बताया है और महाभाष्यकार पातंजलि और उसके टीकाकार कैय्यट ने भी स्वीकार किया है कि चैतन्य देवता सत्यासत्य के ज्ञाता पंडित हैं और शंकराचार्य आदि ने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में लिखा है।

प्रश्न—जड़ और चैतन्य दो प्रकार के देवता क्यों स्वीकार करें ?

उत्तर—देवता बनाने वाला सतोगुण हैं, जिन सांसारिक वस्तुओं में सतोगुण के काम अथवा सतोगुण विशेष हों, वह जड़ देवता हैं और जिन जीवों का मन सतोगुणी हो, वह चैतन्य देवता हैं।

प्रश्न—यदि महाभाष्यादि में विद्वानों को देवता स्वीकार किया गया हो, तो भी वह अप्रसिद्ध देवता हैं। वास्तव में इंद्रादि ही देवता हैं, जो प्रसिद्ध हैं। अतएव प्रसिद्ध अर्थ को ही लेना उचित है।

उत्तर—वास्तव में विद्वान देवता ही प्रसिद्ध अर्थ हैं, इंद्रादि शब्द प्रसिद्ध है। जब सूर्यादि जड़ देवतों का नाम लेते हैं, तो वह प्रसिद्ध तो होता है, परन्तु यह कोई योनि नहीं। कोई मनुष्य मरकर सूर्य नहीं हो सकता, न चन्द्र बन सकता है और न रुद्र बन सकता है, न वसु; क्योंकि वह नियमित हैं अधिक हो ही नहीं सकते। इसलिये, वह देवता जो मरकर होते हैं, वह तो विद्वानों का ही नाम है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशो स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ । ३७ ॥

प० क्र०—(आदित्य) सूर्य । (ह वै) निश्चय करके। (बाह्यः प्राण) शरीर से बाहर जो सामान्य प्राण हैं। (उदेति) प्रकाश-कारक। (एष) यह सूर्य। (हि) निश्चय करके। (एनम्) इसको। (चुचापम् प्राणम्) नेत्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्राण को। (अनुगृह्णानः) प्राप्त करने के पश्चात् ही। (पृथीव्याम्) पृथ्वी में। (यः) जो। (देवता) प्रकाश-कारक हैं। (सः) वह। (एषः) इस। (पुरुषस्य) इस शरीर धारी जीव का। (अपानम्) अपान को। (अवष्टभ्य) रोक-कर। (अन्तरा) शरीर के मध्य। (यत्) जो। (आकाशः) आकाश हैं। (सः) वह। (समानः) समान है। (वायुः) वायु। (व्यान) है।

अर्थ—प्रथम भीतरी प्राणों का वर्णन करके अब बाहर प्राणों का, जिससे भीतरी प्राण सहायता पाकर ही काम कर सकते हैं, वर्णन करते हैं। सूर्य के प्रकाश से किरणों के द्वारा

नेत्र के भीतर रहने वाले प्राणों को सहायता मिले बिना प्रकाश को नेत्र देख नहीं सकते। पृथिवी में रहने वाले प्राणों से अपान वायु को सहायता मिलती है, जिससे सहायता पाकर अपान मल-मूत्र को पृथिवी की ओर को निकालते हैं। जहाँ मल-मूत्र के निकालने में किसी प्रकार का अन्तर आ जावे, वहीं आरोग्यता बिगड़ जाती है। समान वायु को आकाश से सहायता मिलती है। यदि भीतर ठसाठस भर दिया जावे और उदर में स्थान समान-वायु को न रहे, तो भी आरोग्यता के बिगड़ने का वैसा ही सन्देह है और व्यान वायु जो इस शरीर को चलाती है, उसको उठा ले जानेवाली वायु से सहायता मिलती है अर्थात् कोई इन्द्रिय अथवा प्राण बाहर की सहायता के बिना जीवित नहीं रह सकते। जिस प्राण की सहायता में त्रुटि हो जावे, उसके कर्मों में अन्तर आ जाता है।

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भव-मिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ६ । ३८ ॥

प० क्र०—(तेजः) सर्वव्यापक अग्नि। (ह वै) निश्चय करके। (उदानः) उदान वायु से। (तस्मात्) इस कारण से। (उपशान्त तेजाः) जब भीतर की सामान्य अग्नि शांत हो जावे। (पुनर्भवम्) अन्य जन्म में प्राप्त होनेवाले शरीर को। (इन्द्रियः) नेत्र, कान इत्यादि। (मनसि) मन के साथ। (सम्पद्यमानैः) प्रविष्ट होकर।

अर्थ—सारे जगत् में व्यापक जो गरमी है, वह गले में रहनेवाली उदान वायु की सहायक है और उस गरमी से सहायता पाता हुआ उदान ही जीवों को जीवित रखता है। जब तक बाहर से गरमी पहुँचती रहती है, तब तक मनुष्य जीवित

रहता है। यदि बाहर से उष्णो वायु के स्थान में जल के परमाणुओं से संयुक्त वायु बराबर पहुँचे, तो उदान की सहायता बन्द हो जाती है। उस दशा में उदान, जीव को इन्द्रियों और मन के सहित लेकर दूसरे शरीर में चला जाता है और यह प्रसिद्ध बात है कि बाहर से जो वायु भीतर जाता है उसमें केवल अग्नि और वायु सम्मिलित होती है और वह भीतर से जल के परमाणुओं को लेकर बाहर मिलती है। अग्नि से मिली हुई वायु में तो पाचन-शक्ति होती है, परन्तु जिस वायु में जल और पृथिवी के परमाणु भी सम्मिलित हो गये हैं, उसमें पाचन-शक्ति नहीं रहती; क्योंकि जितना जल और पृथिवी के परमाणुओं को प्राण में रहनेवाली वायु उठा सकती थी, वह उसके पास पहिले विद्यमान है। इस कारण जिस मकान में स्थान कम और मनुष्य अधिक हों अथवा भूमि जलवाली होने से भीतर जानेवाली वायु अग्नि के परमाणुओं को त्याग, जल के परमाणुओं को लेकर जावे, वहाँ अवश्य ही आरोग्यता बिगड़ जावेगी। जिन मकानों में अधिक काल से अग्नि न जली हो या सूर्य का प्रकाश न जाता हो, तो वह भी आरोग्यता को निर्बल करते हैं अर्थात् वह मकान भी हानिकारक होते हैं।

प्रश्न—जब जीव शरीर को त्यागकर जाता है, उसके लिये कौन से पदार्थ जाते हैं ?

उत्तर—सूक्ष्म शरीर कर्मों के संस्कारों सहित जीव के साथ जाता है और उन संस्कारों के कारण से कर्म का फल मिलता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः ।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥३६॥

प० क्र०—(यच्चित्तः) कर्मों के संस्कार से जिस जन्म के योग्य चित्त में वासना होती है। (तेन) उससे। (एष) यह। (प्राणम्) प्राण। (आयाति) शरीर को ग्रहण करता है। (प्राणः) प्राण। (तेजः) वाह्य तेज से सहायता प्राप्त युक्त उदान के साथ। (युक्तः) मिलकर। (सहात्मना) जीवात्मा के साथ। (यथा) जैसा। (संकल्पितं) कर्मों के कारण जैसा शरीर बना है। (लोकम्) उस शरीर को। (नयति) प्राप्त होता है।

अर्थ—जो कुछ मनुष्य कर्म करता है, उसके दो प्रकार के अंकुर होते हैं—एक का नाम अविरिष्ट और दूसरे का नाम संस्कार। जिस प्रकार अवरिष्ट होता है उस प्रकार अन्तिम वायु में जीव के मन में उत्पन्न होती है और जिस प्रकार की वासना होती है, उस प्रकार का शरीर परमात्मा के नियम से बनता और जिस किसी मनुष्य या पशु से कर्म का संबंध होता है, वहीं पर जाकर जीव कर्मों का फल भोगता है। अतः कर्मों के अनुसार जो शरीर परमात्मा ने बना दिया है, उसमें उदान वायु सूक्ष्म शरीर और आत्मा को ले जाकर पहुँचा देता है। इसलिये प्रायः विद्वानों का विचार है कि जब किसी मनुष्य को मरना होता है, उससे षट् मास पूर्व उसकी प्रकृति परिवर्तन हो जाती है अर्थात् जैसा फल उसको मिलनेवाला होता है, वैसे ही उसके विचार हो जाते हैं।

य एवं विद्वान् प्राणम् वेद, न हास्य प्रजाहीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥ ४० ॥

प० क्र०—(यः) जो। (एवम्) इस प्रकार। (विद्वान्) ज्ञाता। (प्राणं) प्राणों। (वेद) जानता है। (न) नहीं।

(हास्य) उस विद्वान् की। (प्रजा) संतान। (हीयते) नाश होती है अर्थात् उसके सन्तान। (वंश) का नाश नहीं होता। (अमृतः) नाश-रहित। (भवति) होता है। (तत्) उसके अर्थ। (एष) यह। (श्लोकः) श्लोक वर्णन किया है।

अर्थ—जो विद्वान इस प्राण की विद्या को ठीक प्रकार समझकर वैसा ही आचरण करता है अर्थात् दिन में और काम नहीं करता और कोई भी काम वेद के विरुद्ध नहीं करता, सत्य बोलता, विद्याभ्यास करता और उपकार में लगा रहता है; उसके कुल अर्थात् संतान का नाश नहीं होता; क्योंकि संतान दो प्रकार की होती है, एक जन्म से, जैसे बेटे पोते आदि; दूसरे शिक्षा और उपदेश से। इन दोनों प्रकार की संतान में से उसका कोई उत्तराधिकारी बना ही रहता है, चाहे उसके शिष्य संसार में शिक्षा दे रहे हों, चाहे उसकी सन्तान कुलवृद्धि कर रही हो अर्थात् नाम को स्थिर रखने के लिये श्रम करने में उनको चाहिये कि विद्वान् बनकर जीवन व्यतीत करें। आज गौतम जीवित है, क्योंकि करोड़ों न्याय के जानने और माननेवाले उसकी संतान हैं; कणाद जीवित हैं, कपिल और पातञ्जलि जीवित हैं, जैमिन और व्यास नहीं मरे; क्योंकि उनके काम और नाम दोनों शेष हैं, अतः वह अमर हैं।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वंचैव पञ्चधा। अध्यात्मचैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते, विज्ञाया ऽमृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥ ४१ ॥

प० क्र०—(उत्पत्ति) परमात्मा के द्वारा प्राण की उत्पत्ति। (आयतिम्) शरीर में आने को। (स्थानम्) प्राणों के रहने को जो स्थान बताये हैं। (विभुत्वम्) सामान्य प्राण के सर्व-

व्यापक होने को। (च एव) और भी। (पंचधा) शरीर के भीतर पाँच प्रकार के विभाग को अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान को। (अध्यात्मम्) शरीर के भीतर प्राणों के काम को। (च एव) और भी व्याख्या को। (विज्ञाय) ठीक-ठीक जानकर। (अमृतम्) मोक्ष को। (अश्नुते) भोग करता है अर्थात् दुखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त करना। दो बारं प्रश्न के समाप्ति को लिखा।

अर्थ—अन्त में पिप्पलाद ऋषि इस फल को बताते हैं; जो इस प्राण-विद्या को इस प्रकार जानता है कि प्रथम प्राण कहाँ से उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्राणों की उत्पत्ति कारण परमात्मा है परमात्मा के अतिरिक्त और कोई शक्ति प्राणों को उत्पन्न नहीं कर सकती; क्योंकि औरों को स्वयम् प्राणों की आवश्यकता है। यद्यपि चेतन्य जीवात्मा को काम करने की शक्ति है, परन्तु वह प्राणों के द्वारा इन्द्रियों को हरकत देकर ही काम कर सकती है। दूसरे, प्राण इस शरीर में क्यों कर आता अर्थात् कर्म-फल की या वासना की डोर से बँधा हुआ। जिससे पता लगता है कि यह शरीर एक प्रकार का फल है, इसमें कर्मों का फल भोगने को ही जीव आता है। जिस प्रकार अपराधी बन्धुओं को कारागार की रक्षार्थ प्रबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु उनको कारागार से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हम इस बात को ठीक-ठीक समझ जावें, तो संसार में से किसी दशा में दुख और असफलता न हो और प्राणों का स्थान अर्थात् शरीर के भाग में कौनसा प्राण रहता है। तीसरे, यह अन्तर एक तो सामान्य प्राण हैं, जो संसार में व्यापक जिनसे परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नियम चलाता है। दूसरे विशेष प्राण जो इस शरीर स्थान पर स्थित हैं कौर उन प्राणों का

भाग जो पाँच प्रकार से किया गया है, और उनके पृथक्-पृथक् काम हैं। तात्पर्य यह कि प्राण शरीर के भीतर तो जीव के विशेष प्राण द्वारा काम करते हैं और बाहर सर्वव्यापक परमात्मा के दिए हुए सामान्य प्राण ज्ञान-गति से काम करते हैं अर्थात् सामान्य प्राण के द्वारा निर्जीव पदार्थों में षट् विकार उत्पन्न होते हैं और जीव अर्थात् चेतन्य सृष्टि के भीतर विशेष प्राण से तीन प्रकार के प्राण (क्रिया) अर्थात् करना, न करना, उलटा करना है। चैतन्य और जड़-सृष्टि का भेद जानने के अर्थ प्राण-विद्या अर्थात् सामान्य और विशेष प्राणों की विद्या जानना अत्यावश्यक है और जो इन भेदों को ठीक प्रकार जान जाते हैं वह मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। प्राण-विद्या को ठीक जानने से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।

इति तृतीय प्रश्न समाप्तः।



अथ चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १। ४२ ॥

प० क्र०—(अथ) कौशल्य के प्रश्न का उत्तर सुनने के पश्चात्। (ह) प्रथम कथा को चलाने के लिये। (एन) उस पिप्पलाद ऋषि को। (सौर्यायणी) सूर्य के पोते की लड़की। (गार्ग्यः) गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुआ। (पप्रच्छ) पूछा। (भगवत्) हे गुरु महाराज। (एतस्मिन् पुरुषे) इस शरीर के भीतर अर्थात् प्राणेन्द्रिय और मनादि में। (कनि) कौन। (स्वपन्ति) सोते हैं। (कानि) कौन। (अस्मिन्) इस शरीर के भीतर वाले प्राणेन्द्रियों में। (जाग्रति) जागता है। (कुत्र) कहाँ। (एष) यह। (देवः) देवता। (स्वप्नान्) स्वप्न को। (पश्यति) देखता है। (कस्य) किसको। (एतत्) यह। (सुखं) सुख। (भवति) होता है। (कस्मिन्) किसमें। (नो) और। (सर्वे) सब। (सम्प्रतिष्ठिता) ठीक प्रकार स्थित। (भवन्ति) होते हैं। (इति) यह प्रश्न है।

अर्थ—जब पिप्लाद ऋषि कौशिल्य का उत्तर दे चुके, तब सूर्य नामी ऋषि के पोते की लड़की ने जो गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुई, थी यह प्रश्न किया—हे गुरु महाराज! इस शरीर के भीतर जो प्राणेन्द्रिय मन इत्यादि हैं, कौन सोता है, कौन जागता है और कौन स्वप्न को देखता है, कौन इसमें सुख को भोगता है और किसमें सब ठीक प्रकार ठहरते हैं; अर्थात् पाँच प्रश्न किये। प्रथम इस शरीर में कौन सोता है,द्वितीय जागता है, तृतीय स्वप्न कौन देखता है, चतुर्थ सुख भोगता है, पंचम किसमें यह सब इन्द्रिय मन इत्यादि ठीक-ठीक स्थित होते हैं। ऋषि उत्तर देते हैं।

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्याऽस्तंगच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डलएकीभवन्ति। ताःपुनःपुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवंति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते, न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते,न विसृजते न नेयायते स्वपितीत्या चक्षते ॥ २ । ४३ ॥

प० क्र०—(तस्मै) उस गार्गी को। (सः) वह पिप्लाद ऋषि। (ह उवाच) यह कहने लगे। (यथा) जैसे। (गार्ग्य) हे गार्गी। (मरीचयो) सूर्य की किरणें। (अर्कस्य) सूर्य के। (अस्तंगच्छत्) छुप जाने पर। (सर्वा) वह सब किरणें। (एतस्मिन्) उस। (तेजा मंडल) तेज के भंडार सूर्य में। (एकः) एकत्रित। भवन्ति होती हैं। (ताः) वह किरणें। (पुनः पुनः) बार बार। (उदयतः) सूर्य के उदय होने के साथ ही। (प्रचरन्ति) फैलती हैं। (एवम्) इस प्रकार। (ह वै)

निश्चय करके। (तत्) वह। (सर्वम्) सब इन्द्रियाँ। (परे) अपने से सूक्ष्म। (देवाः) देवता। (मनसि) मन में। (एक;) एकत्रित। (भवंति) होती हैं। (तेन) इस कारण से। (तर्हि) उस समय। (एष) यह। (पुरुष) जीवात्मा। (न) नहीं। (शृणोति) सुनता। (न) नहीं। (पश्यति) देखता। (न) नहीं। (जिघ्रति) सूंघना। (न) नहीं। (रसयते) रस लेना। (न) नहीं। (स्पृशते) स्पर्श करना। (न) नहीं। (अभिवदते) बातचीत करना। (तादत्ते) न ग्रहण करता है। (नान्दयते) न आनन्द को प्राप्त होता है। (न विसृजते) न छोड़ता है। (न) नहीं। (यायते) पाँव से चलना। (स्वपति) सोता है। (इति) इस दशा में। (आचक्षते) कहते हैं जागनेवाले मनुष्य।

अर्थ—गार्गी के प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि ने कहा—हे गार्गी जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के अस्त होने के समय इसी तेज के भंडार में एकत्रित हो जाती हैं, सूर्य के उदय होने पर फैल जाती हैं; इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयों के प्रकाश करनेवाले ज्ञान के कारण मन में एकत्रित हो जाती हैं। इसी कारण से इस समय यह मनुष्य न तो किसी बाह्य शब्द को सुनता है, न बाह्यरूप को देखता है, न बाहरी गन्ध को सूँघता है, न रसना इन्द्रिय से किसी वस्तु का रस लेता है, न किसी वस्तु को स्पर्श करता है, न वाणी से कुछ कहता है, न विषय-भोग करता है, न शौच जाता, न हाथ से पकड़ता और न पाँव से चलता है। उस दशा को देखनेवाले मनुष्य कहते हैं कि यह सो रहा है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियों का प्रकाशक मन है या मन की प्रकाशक इन्द्रियाँ हैं; क्योंकि विषय बाहर से मन पर जाते हैं।

यदि नेत्र बन्द हों, तो रूप का ज्ञान मन को नहीं हो सकता।

उत्तर—यदि मन का सम्बन्ध न हो तो नेत्र प्रकाश की दशा में भी नहीं देख सकते। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि चित्त के साथ सम्बन्ध न होने से जब पूछते हैं—देखा तो उत्तर मिलता है कि मेरा चित्त इस ओर नहीं था; क्योंकि इन्द्रियों में जो ज्ञान की शक्ति आती है, वह भीतर रहनेवाले आत्मा से आती है और इन्द्रियाँ बिना मन के सम्बंध से आत्मा से संबन्ध नहीं कर सकतीं। अतः इन्द्रियों का प्रकाशक मन है, मन को प्रकाश करने वाली इन्द्रियाँ नहीं। बाहर तो जानने योग्य वस्तु है, जाननेवाली शक्ति बाहर नहीं। वस्तुओं के भीतर मालूम होने का स्वभाव है और मालूम होने का स्वभाव आत्मा में है। अतएव प्रकाशक मन है, इन्द्रियाँ नहीं।

प्रश्न—निद्रा किस प्रकार से आती है?

उत्तर—जब मन और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का आवरण आ जाता है, तब बाहर के विषयों का प्रतिबिम्ब मन पर नहीं पड़ता, जिससे मन को किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में जीव बाहर के ज्ञान से शून्य होता है, अथवा नितान्त ज्ञान का अभाव हो जाता है?

उत्तर—ज्ञान जीव का स्वाभाविक धर्म है, इस कारण उसका अभाव तो हो नहीं सकता। केवल नैमत्तिक ज्ञान जो मन और इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध न रहने से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण इसका अभाव होता है।

प्रश्न—योगदर्शन में तो लिखा है कि ज्ञान का अभाव जिस वृत्ति का आश्रय है, वह वृत्ति अभाव है।

उत्तर—यहाँ भी वाह्य-ज्ञान अर्थात् नैमित्तिक ज्ञान के अभाव से ही तात्पर्य है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥ ३।४४॥

प० क्र०—(प्राणाग्नयः) जीवन प्रकाशक प्राण। (एव) है। (एतस्मिन्) इस नव द्वारवाले। (पुरे) नगर में अर्थात् शरीर में। जाग्रति जागते हैं। (गार्हपत्या) विवाहिता स्त्री का स्वामी जिस अग्निहोत्र की अग्नि को स्थित करता है। (ह) निश्चय। (वा) यह। (अपानः) अपान वायु। (व्यानः) व्यान वायु। (अन्वाहार्य पचनः) दक्षिणाग्नि जो शरीर के भोजन पचाती है। (यत्) जो। (गार्हपत्यात्) जो गृहस्थाश्रम में स्थित अग्नि है। (प्रणीयते) सम्बन्ध रखता है। (प्रणयनाद्) सम्बन्ध से या कारण से। (आहवनीयः) ब्रह्मचर्याश्रम की अग्नि जिसको अग्निहोत्र के लिये ब्रह्मचारी स्थित करता है। (प्राणः) प्राणवायु है।

अर्थ—जब सम्पूर्ण वाह्य-इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तो शरीर की रक्षार्थ प्राण-अग्नि जो शरीर की रक्षा का काम देती है, जागती है। जैसे जब प्रजा सो जाती है, तो उनके धन के रक्षार्थ राजा रक्षक नियत करता है; वह रात्रि भर जागते हुए प्रजा के धन और जीवन की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में शरीर तथा इन्द्रियों की रक्षा करता है, इस हेतु घर का रक्षक प्राण है। जो गृहस्थाश्रम में सन्तान आदि की उत्पत्ति से सुख होता है, वह अपान वायु के द्वारा होता है

और जो प्रकृति के सुखों से बढ़कर ईश्वर की उपासना, ध्यान, समाधी आदि वह सारे शरीर में व्यापक व्यान के द्वारा होते हैं । अतः ब्रह्मचर्याश्रम, ऋग्वेद श्रवण, जाग्रत अवस्था, ज्ञानकाण्ड, प्राणवायु, गृहस्थाश्रम व यजुर्वेद में स्वप्नावस्था, कर्मकांड अपान वायु, वानप्रस्थाश्रम, सामवेद, निदिध्यासन, सुषुप्ति अवस्था, उपासना कांड, व्यान वायु तीनों आश्रमों की अग्नि का नाम आहवनीय गार्हपत्य और अन्वाहार्य है ।

प्रश्न—जब इन्द्रियाँ और मन सो गये, तो प्रण किस प्रकार शरीर की रक्षा करता है ?

उत्तर—जब तक शरीर में प्राण रहते हैं, तब तक प्रत्येक जीव इसको जीवित जानकर इससे डरता है । यदि प्राण न रहें, तो मृतक जान करके उसको नाश करनेवाला जीव समाप्त कर देते हैं । प्राण की विद्यमानता जीवन के विचार से शरीर की रक्षा करते हैं ।

प्रश्न—स्वप्नावस्था में समानवायु और उदानवायु क्या करते हैं ?

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयति स समानः । मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ । ४५ ॥

प० क्र०—(यत्) जो । उच्छ् (वासनिश्वासो) स्वास के बाहर से भीतर जाना और भीतर से बाहर आना है (आहुति) जो एक बार अग्निहोत्र में सामग्री डाली जाती है उसे आहुति कहते हैं । (समम्) समान । (नयति) करते

है। (इति) इस से। (स) वह नाभि में रहनेवाला प्राण। (समानः) समान कहलाता है। (मनः) मनन शक्ति वाला जीवात्मा या मनकरन। (ह्वाव) और। (यजमानः) इस ज्ञान यज्ञ को करनेवाला। (इष्ट फलम्) जिस फल की इच्छा से यज्ञ किया जाता है, जो स्वार्थ से किसी काम को आरम्भ किया जावे। (गमयति) प्राप्ति करता है।

अर्थ—नाभि से जो वायु ऊपर और नीचे को आती है, जिसके समान ही रहने से मनुष्य जीवित रहता है और जिसकी अवस्था में अन्तर आ जाने से, मौत आने का अनुमान होता है, वह समान वायु है। मनन करने की शक्ती से जो मन रूपी करण से काम लेनेवाला जीवात्मा है, वह यज्ञ करनेवाला यजमान कहलाता है। जिस आशय से यज्ञ किया जाता है, वह उदानवायु है। वह उदान प्रति दिन इस जीवात्मा को ब्रह्म के पास ले जाता है अर्थात् जिसे सुषुप्ति कहते हैं।

प्रश्न—मन का अर्थ तो मनकरण है, जिससे कर्म इद्रियों और ज्ञान-इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होता है, तुमने इसका अर्थ जीवात्मा किस प्रकार किया ?

उत्तर—मन दो हैं; एक मन (करण) दूसरे मन-शक्ति। इसी कारण शास्त्रों ने मन को नित्य और अनित्य बताया है। जिस शास्त्र ने मन शक्ति का विचार किया है, उसने मन को नित्य माना है जैसा कि वैशेषिक दर्शन और जिस शास्त्र में मनकरण साधनेन्द्रिय का विचार किया है, उसने मन को अनित्य बताया है जैसा कि सांख्यदर्शन और छांदोग्योपनिषद् इत्यादि।

प्रश्न—वैशेषिक दर्शन ने तो मन को द्रव्य बताया है। तुम मन-शक्ति कहते हो, द्रव्यकरण तो हो सकता है, शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि शक्ति द्रव्य के आश्रय रहती है।

उत्तर—वैशेषिक का तात्पर्य मन से, मन-शक्ति वाला जीवात्मा ही प्रयोजन है। यदि जीव में मन-शक्ति न हो तो वह मनकरण से किस प्रकार काम ले सकता है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टंदृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोतिदेशदिगंतरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवतिदृष्टंचादृष्टं चश्रुतं चश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वं पश्यति॥ ५।४६॥

प०क०—(अत्र) यहाँ। (एष) यह। (देव) प्रकाशक जीवात्मा। (स्वप्ने) स्वप्न में। (महिमानम) अपनी महिमा को। (अनुभवति) अनुभव करता है जानता है। (यत्) जो (दृष्टं दृष्टं) देखा हुआ है और इसको देखा हुआ। (अनुपश्यति) मालूम करता है अर्थात् मित्र, शत्रु, स्त्री, पुत्र इत्यादि को प्रत्यक्ष की भांति मालूम करता है। (श्रुतं) सुनते हुये को (श्रुतं) सुनते हुये। (एव) ही। (अर्थम) अर्थ को एक बार जिसको देखा था सुना है, बार-बार। (अनुशृणोति) फिर सुनता है। (देश दिगन्तरैश्च) दूसरे देश और दूसरे दिशा की वस्तुओं को। (प्रत्यनुभूतं) अनुभव किये हुए को। (पुनः पुनः) बार बार। (प्रत्यनुभवति) अनुभव करता है अर्थात् जानता है। (दृष्टंचदृष्टं) चाहे इस कारण देखने

योग्य हो या न हो। (श्रुतंचाश्रुतं च) चाहे इस जन्म में सुना हो, चाहे इस जन्म में न सुना हो। (अनुभूतं वा चाननुभूतं) चाहे इस जन्म में उसका अनुभव किया हो अथवा न किया हो (सच्चासच्च) चाहे वह सत हो या न हो। (सर्व) सबको। (पश्यति) देखता है। (सर्व) सब तरह की वस्तुओं को। (पश्यति) देखता है।

अर्थ—इस प्रश्न के उत्तर में कि कौन देवतास्वप्न को देखता है कहते हैं कि उपरोक्त देवता अर्थात् जीवात्मा स्वप्नावस्थामें अपनी महिमा को देखता है। जो कुछ पूर्व देखा है चाहे वह इस दशा में विद्यमान न हो, परंतु उसका उनहार मन पर होने से उसको देखता है। जो कुछ सुना है, चाहे इस समय वह शब्द विद्यमान न हो, परन्तु उसका बिम्ब मन पर होने से वह सुनता है। चाहे कोई देश अथवा दिशा हो, इनका प्रभाव मन पर आजाने से इनका नितान्त स्पष्ट ज्ञान होता है। जिस वस्तु को एक बार देख चुका है, उस वस्तु को स्वप्न में बारबार देखता है, जो पदार्थ देखे हुये हैं चाहे इस जन्म में न भी देखे हों, जो पदार्थ सुने हों, चाहे इस जन्म में न भी सुने हों जिन वस्तुओं का अनुभव किया हो, चाहे इस जन्म में न भी अनुभव किया हो चाहे इनकी सत्ता इस समय जगत् में विद्यमान न हो अर्थात् अभाव हो, सबको देखता है।

प्रश्न—श्रुति में तो लिखा है कि जो वस्तु देखी हो या न देखी हो सुनी हो या न सुनी हो, अनुभव की हो या न की हो जो सत् हो या न हो, सब को देखता है। तुमने इस जन्म का देखना सुनना, कहाँ से लिया है ?

उत्तर—प्रथम तो इस श्रुति के पहले शब्द ही विदित करते हैं कि देखा है फिर इसको देखता है और जिसको सुना है

फिर इसको सुनता है दूसरे जिस वस्तु की सत्ता संसार में विद्यमान न हो, उसकी आकृति हो नहीं सकती; जिसकी आकृति नहीं, उसके संस्कार भीतर जाही नहीं सकते, जिसके संस्कार भीतर विद्यमान न हों उनको किस प्रकार देख सकता है। मूल बात यह है कि जाग्रत् अवस्था में इस शरीर के केमरा के द्वारा जिन वस्तुओं के प्रतिबिम्ब उतारे उन्हीं का स्वप्नावस्था में देखना सम्भव है। जो आकृति उतारी ही नहीं गई, उसको किस प्रकार देख सकते हैं। जबकि बिना देखे-सुने और अनुभव किये हुए स्वप्न में देखना, सुनना और अनुभव करना असम्भव है। अतः सम्भव होने के लक्षण से यह अर्थ करना पड़ता है, जिसको इस जन्म में देखा-सुना और अनुभव न किया हो।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥ ४७ ॥

प० क्र०—(स) वह। (यदा) जब या जिस दशा में। (तेजस) प्रकाश से। (अभिभूतः) दिया हुआ। (भवति) होता है। (अत्र) इस दशा में। (एष देवः) यह जीवात्मा। (स्वप्नान्) स्वप्न को। (न) नहीं। (पश्यति) देखता है। (अथ) परमात्मा के प्रकाश से दब जाने के पश्चात्। (तत्) वह जीवात्मा। (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर के भीतर। (एतत्) यह सुषुप्ति अवस्था। (सुखम्) सुख को। (भवति) होता है।

अर्थ—जिस समय इस जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के प्रकाश से दब जाता है; जिस प्रकार नेत्र का प्रकाश सूर्य के सम्मुख प्रकाश के प्रकाश से दब जाता है, उस समय चौंध्या

जाते हैं और कुछ देख नहीं सकते। ऐसे ही स्वप्न की अवस्था में यह जीवात्मा परमात्मा के प्रकाश से दबा हुआ ज्ञान-शून्य सा मालूम होता है। इस समय यह किसी स्वप्न को नहीं देखता और प्रकाश से दबकर बाह्य-ज्ञान के रुक जाने के पश्चात् यह जीवात्मा इस शरीर के भीतर ही परमात्मा के सुख को देखता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा को भीतर से ही सुख मालूम होता है।

प्रश्न—जब जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के तेज से दब गया, तो उस समय ज्ञान के न होने से सुख किस प्रकार हो सकता है; क्योंकि सुख भी एक प्रकार का ज्ञान है, आत्मा के अनुकूल जानने का नाम सुख है।

उत्तर—जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर प्रकृति और ब्रह्म दोनों हैं। जब जीवात्मा बाहर की ओर देखता है, तभी प्रकृति के संग से दुःख और परमात्मा के कारण सुख होता है; परन्तु जब भीतर की ओर देखता है; तो पहले परमात्मा के प्रकाश से ज्ञान दब जाता है और पुनः परमात्मा के स्वरूप से सुख मिलने लगता है। जैसे जब कभी हम अँधेरे मकान से एकदम सूर्य के सम्मुख आ जाते हैं, तो अँधेरा आँखों के सामने आ जाता है, थोड़ी देर के पश्चात् पदार्थ फिर दृष्टि पड़ने लगते हैं।

स यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ ७ ॥ ४८ ॥

प० क्र०—(स) वह ऋषि पिप्लाद कहने लगा। (यथा) जैसे। (सौम्य) हे चन्द्र समान शान्तस्वरूप। (वयांसि) पक्षी, उड़नेवाले जीव। (वासः) वास-स्थान। (वृक्षं) वृक्ष के आश्रय।

(सम्प्रतिष्टन्ते) तिष्ठित होते हैं। (एवं) इसी प्रकार। (ह वै) और। (तत्सर्व) वह सब अर्थात् मन और इन्द्रियाँ इत्यादि। (परमात्मानि) सम्पूर्ण जगत् के आधार के स्थान परमात्मा हैं। (सम्प्रतिष्ठते) स्थिर हो जाते हैं।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा—हे प्रिय शिष्य! जिस प्रकार सायंकाल के समय सम्पूर्ण पक्षी प्रत्येक स्थान पर चरचुगकर अपने रहने के स्थान वृक्ष पर एकत्रित हो जाते हैं और दिन भर इधर उधर घूमते रहते हैं; इसी प्रकार यह सम्पूर्ण इन्द्रियाँ जाग्रत और स्वप्न अवस्था में तो अपने-अपने विषय में लगी रहती हैं, परन्तु सोने के समय सब अपने-अपने विषयों को त्यागकर अपने मुख्य स्थान अर्थात् परमात्मा के आश्रय स्थिति हो जाती हैं।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में इन्द्रियाँ परमात्मा के आश्रय स्थित हो जाती हैं या इन्द्रियाँ और मन के मध्य तमोगुण का परदा आ जाता है?

उत्तर—मूर्च्छा और सुषुप्ति में यही अन्तर है कि सुषुप्ति में तो इन्द्रियाँ जिस प्रकाश के आधार चल सकती हैं, वह प्रकाश परमात्मा के तेज से दब जाता है। इस समय जीव को किसी दूसरी वस्तु की सुधि ही नहीं रहती और सुषुप्ति की अवस्था में जीव का सम्बन्ध कारण शरीर होता है और कारण शरीर में सत रज तम की दशा समान होती है। इस समय कोई गुण किसी दूसरे को दबा नहीं सकता।

प्रश्न—यदि सुषुप्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है, जिससे ब्रह्म के तेज से जीव का ज्ञान दब जाता है, तो समाधि की क्या जरूरत है।

उत्तर—समाधि और सुषुप्ति में ब्रह्म का सम्बन्ध जीव के साथ होता है। अन्तर केवल इतना है कि सुषुप्ति में ब्रह्म का सम्बन्ध जीव के साथ होता है। भेद केवल इतना है कि सुषुप्ति में ब्रह्म का आनन्द साक्षात् नहीं होता; क्योंकि इस समय जीव की बुद्धि ब्रह्म-दर्शन के योग्य नहीं होती। जैसे एक दम से अँधेरे से प्रकाश में आने से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और समाधि अवस्था में नित्य के अभ्यास से जीव ब्रह्म-दर्शन के योग्य हो जाता है।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽ च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाऽऽकाशश्चा काशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यञ्च त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च वाक् च वक्तव्यञ्च हस्तौ चाऽऽदानव्यं चोपस्थश्चऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यञ्च मनश्च मन्तव्यञ्च बुद्धिश्च बोद्धव्यञ्चाहंकारश्चाहंकर्त्तव्यम् च चित्तञ्च चेतयितव्यमच तेजश्च विद्योतयितव्यमच प्राणश्च विधारयितव्यमच ॥८॥४६॥

प० क्र०—(पृथिवी) भूमि। (च) और। (पृथिवी मात्रा) सूक्ष्म भूत अर्थात् गन्ध। (च) और। (आपः) पानी। (च) और। आपोमात्रा) जल की सूक्ष्म अवस्था अथवा रस। (तेजः) अग्नि। (च) और। (तेजोमात्रा) अग्नि की सूक्ष्म अवस्था अथवा रूप। (वायु) वायु। (वायुमात्रा) वायु की सूक्ष्म अवस्था अर्थात् स्पर्श। (आकाशः) आकाश जिसका

गुण शब्द है अथवा जिसमें निकलना, प्रवेश करना सम्भव हो। (चक्षुः) नेत्र। (द्रष्टव्यं) देखने योग्य वस्तु। (च) और। (श्रोत्र) कान, जिससे शब्द सुनते हैं।। (च) और। (श्रोतव्यं) सुनने योग्य शब्द। (च) और। (घ्राण) नाक जिससे सूँघते हैं। (च) और। (घ्रातव्य) सूँघने योग्य सुगन्ध दुर्गंध (च) और। (रस) स्वाद। (च) और। (रसयितव्यम्) स्वादिष्ट वस्तु। (च) और। (त्वक्) त्वचा। (च) और। (स्पर्शयितव्यम्) स्पर्श योग्य वस्तु। (च) और। (वाक्) वाणी। (च) और। वक्तव्यम्) भाषण योग्य शब्द। (हस्तौ) दोनों हाथ। (च) और। (आदातव्यम्) पकड़ने योग्य वस्तु। (च) और। (उपस्थ) उपस्थेन्द्रिय। (च) और। (आनन्दयितव्यम्) इस इन्द्रिय से जिस वस्तु को अनुभव करें अर्थात् जिससे सांसारिक सुख भोगें। (पायुः) गुदा। (च) और। (विसर्जयितव्यम्) त्यागने योग्य वस्तु अर्थात् मल-मूत्र। (च) और। (पादौ) दोनों पाँव। (च) और। (गन्तव्यम्) मार्ग चलने योग्य वस्तु। (मनः) मन जो ज्ञान और कर्म इन्द्रियों को सहायता देता है। (च) और (मन्तव्याम्) मनन करने या जानने योग्य वस्तु। (च) और।(बुद्धि) ज्ञान। (च) और। (बोद्धव्यम) जानने योग्य वस्तु। (च) और। (अहङ्कारः) अहङ्कार। (च) और। (अहङ्कर्त्तव्यम्) जिन वस्तुओं में अहङ्कार किया जावे। (च) और। (चित्तम्) चेतन्य करने वाला अन्तः करण। (च) और। (चेतयितव्यं) जिन वस्तुओं को चेतन्य अर्थात् विचार किया जावे। (च) और। (तेजो) प्रकाश। (च) और। (प्राणः) धारण करने वाली। (विद्योतयितव्यम्) जो वस्तु प्रकाश से प्रकट होने योग्य हो। (च) और। (विधारयितव्यम्) जिन वस्तुओं को पदार्थ धारण करते हैं।

अर्थ—पाँच स्थूल भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि और इनके सूक्ष्म भूत या गुण, गन्ध, रस, रूप, शब्द स्पर्श इत्यादि। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नाक, रसना, नेत्र, त्वचा, श्रोत्र और इनके विषय अर्थात् सूँघने योग्य वस्तु, स्वादिष्ट वस्तु रूपवाले पदार्थ, स्पर्श करने योग्य वस्तु; और शब्द पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, उपस्थेन्द्रिय और उनके विषय पकड़ना, चलाना, बोलना आदि चारों अन्तःकरण अर्थात् मन जिससे किसी वस्तु के दोनों पक्ष लेकर विचार किया जाता है, बुद्धि जिसको ज्ञान कहते हैं—अहङ्कार और चित्त अर्थात् चेतन्न करनेवाला अन्तःकरण और इनके विषय प्रकाश और जिसको वह प्रकाश करे। प्राण अर्थात् शरीर को उठाकर ले चलने वाली या स्थित रखने वाली वायु अर्थात् वायु जिसको स्वाँस भी कहते हैं और जिसको वह प्राण स्थित रखते हैं, यह सब वस्तु इस तेज से छुप जाती हैं।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयितामंता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। सपरेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठिते ॥ ६ । ५० ॥

प० क०—(एष) यह। (हि) निश्चय करके। (द्रष्टा) देखनेवाला। (स्प्रष्टा) स्पर्श करनेवाला। (श्रोता) सुनने वाला। (घ्राता) सूँघनेवाला। (रसयिता) रसको जाननेवाला (मन्ता) विचार करनेवाला। (बोद्धा) जानने वाला। (कर्त्ता) कर्म करनेवाला। (विज्ञानात्मा) जीवात्मा। (पुरुषः) जो इस शरीर के भीतर रहता है। (स) वह जीवत्मा। (परे) उससे सूक्ष्म सर्वव्यापक। (अक्षरे) नाशारहित। (आत्मनि) जो प्रत्येक वस्तु के भीतर विद्यमान है उसमें। (सम्प्रतिष्ठते) स्थित हो जाता है

अर्थ—सुषुप्ति की दशा में यह जीवात्मा जो जागते हुए नेत्रों से देखता, कानों से सुनता, नाक से सूँघता, जिह्वा से रस लेता, त्वचा से छूता, मन से विचार करता, बुद्धि से जानता और जो कर्म करने में स्वतंत्र कर्त्ता कहलाता है, जो नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला है; क्योंकि न तो इन्द्रियों आदि को ज्ञान होता है, क्योंकि यह ज्ञान प्राप्त करने के कारण (यन्त्र) हैं और न परमात्मा को नैमित्तिक ज्ञान हो सकता है; क्योंकि वह पूर्व ही सर्वज्ञ है, उसके ज्ञान से बाहर कोई सत्ता नहीं, जिसको वह नैमित्तिक ज्ञान से जाने और वह जीवात्मा इस कारण से सूक्ष्म ब्रह्म के आश्रय स्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर-बाहर इन्द्रियों से देखता है और भीतर बुद्धि इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति है, इसमें अनुभव करता है। जब बाहर की ओर कर्म करने वाली इन्द्रियाँ रुक जाती हैं, तब जीवात्मा की बुद्धि भीतर की ओर कर्म करने लगती है। उस समय जीवात्मा बाह्य-ज्ञान से नितान्त शून्य हो जाता है। बाहर बहुत वस्तुओं के होने से जीव का ज्ञान फैल जाता है; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय मन को अपने विषय की ओर ले जाती है और मन बड़े वेग से इन्द्रियों के विषयों का जीवात्मा को बोध कराता है जिससे आत्मा की वृत्ति बड़े वेग से चलती है। बाहर जीवात्मा किसी वस्तु में स्थित नहीं हो सकता, जब मन थक जाता है, तो परमात्मा के नियमानुकूल जीव भीतर की ओर काम करने लगता है जिससे उसको आनन्द मालूम होता है। उस समय किसी इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से मन का काम रुका रहता है। इस कारण जब तक जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध रहता है; तब तक जीव स्थित रहता है, तब ही जीव को आनन्द मिलता है और जिस समय मन की थकावट ब्रह्म के आनन्द से दूर हो जाती है,

तब मन फिर कर्म करने लगता है और मन के काम के साथ ही जीव की बुद्धि बाहर आ जाती है, जिससे वह दुख को सुख अनुभव करता है। अतः जीव को आनन्द मिलने का कारण केवल ब्रह्म ही है।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो हवै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयतेयस्तु सौम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः॥ १०। ५१॥

प० क्र०—(परम) सब से सूक्ष्म महान्। (एव) है। (अक्षरम्) नाशरहित। (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है, जाना जाता है। (स) वह। (यो) जो। (हवै) और। (तत्) वह। (अच्छायम्) छाया रहित अर्थात् जिसकी कहीं छाया हो ही नहीं सकती; क्योंकि जहाँ वह स्वयम् न हो, वहाँ उसकी छाया हो। (अशरीरम्) जिसका शरीर नहीं; क्योंकि जिसका शरीर होगा वह नित्य नहीं हो सकता। (अलोहितम्) जिसका रंग नहीं अर्थात् जिसमें रक्तादि का सम्बन्ध नहीं। (शुभ्रम्) जो शुद्ध। (अक्षरम्) नाशरहित को। (वेदयते) जान लेता है। (यस्तु) जो विषयों से वैराग्यवाला ज्ञानी हो (सौम्य) अपने प्रिय पुत्र। (सः) वह मनुष्य। (सर्वज्ञ) सब का ज्ञाता। (सः) वह। (सर्व) मनुष्य। (भवति) होता है। (तत्) उसके अर्थ। (एव) यह। (श्लोक) प्रमाण हैं।

अर्थ—जो ज्ञान से सब वस्तुओं के मूल तत्त्व को जानकर सब सांसारिक विषयों से वैराग्यवाला हो गया है, जिसने इस कारण से सूक्ष्म सर्वत्र विद्यमान होने से जिसका छाया नहीं हो सकता और न उसका कोई शरीर है; क्योंकि वह सच्चिदानन्द है। जिसका शरीर है, वह सत् हो ही नहीं सकता; क्योंकि

शरीर स्थूल संयुक्त है, जिसका किसी न किसी समय में उत्पन्न होना अवश्य है और सत् कहते हैं तीन काल में एकसा रहनेवाले को। अतः कोई शरीरवाला सत् नहीं कहला सकता। जिसका कोई रंग नहीं, जो शुद्ध है, जो मनुष्य इसको प्राप्त कर लेता है, वह इसके जानने के कारण से सर्वज्ञ कहलाता है; क्योंकि इस नाश रहित को जान लेना सबको जान लेना है।

प्रश्न—क्या ईश्वर को जाननेवाला सर्वज्ञ होता है?

उत्तर—सर्वज्ञ के दो अर्थ हैं, एक वह जो प्रत्येक वस्तु को एक ही साथ जान सकता है; दूसरे वह जिसका सब वस्तुओं को जान लेना हो। एक साथ सब वस्तुओं को अतिरिक्त ईश्वर के कोई नहीं जान सकता; क्योंकि मन एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं रखता, सबको किस प्रकार जान सकता है। अतः जो ईश्वर को जानता है, उसको सर्वज्ञ दूसरे अर्थों में कहा गया। अर्थात् उसने कुल पदार्थों को जान लिया है।

प्रश्न—ईश्वर के जानने से कुल पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है और कोई मनुष्य बिना मध्य मार्ग को पूर्ण किये अन्तिम मार्ग पर नहीं पहुंच सकता। अतः जो ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर चुका, उसने सब पदार्थों को जान लिया।

प्रश्न—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—ईश्वर को सबसे सूक्ष्म होने के कारण परम कहा गया है और ईश्वर के जानने को परा विद्या के नाम से कहा गया है। अतः सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रविष्ट होने की दशा में स्थूल के पश्चात् ही जानी जायगी। निदान जो सबसे सूक्ष्म और

सबमें व्यापक है, उसका ज्ञान सबके पश्चात् होना अवश्य है। संसार में तीन ही वस्तु हैं—प्रकृति, जीव और ब्रह्म। जिस मनुष्य को प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान न हो, उसको वैराग्य हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष मे प्रकृति के परिणाम अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं, परन्तु अन्त बुरा है। अतः वैराग्य प्रकृति के बने हुए पदार्थों की वर्त्तमान अवस्था तथा परिणाम दोनों को भले प्रकार जानता है। यदि इसको प्रकृति में लिप्त होने का विचार होता, तो वैराग्य किस प्रकार हो सकता। जीव के भीतर ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्म के ज्ञान से पहिले जीव का ज्ञान भी हो जाता है। अतः जिसने जीव, ब्रह्म और प्रकृति के मूल कारण को जान लिया, उसके सर्वज्ञ होने में क्या संदेह है।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि
सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र,। तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य ।
सः सर्वज्ञ सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥ ११ । ५२

प० क्र०—(विज्ञानात्मा) नैमित्तिक ज्ञान का केन्द्र जीवात्मा। (सह) साथ। (देवै) बाहर और भीतर के जानने के शस्त्र और जिनको देवता भी कहते हैं। (सर्वैः) सबके। (प्राणा) स्वाँस। (भूतानि) भूत। (सम्प्रतिष्ठन्ति) स्थित होते हैं। (यत्र) जिस ब्रह्म में। (तद्) इस। (अक्षरम्) नाशरहित। (वेदयते) जान गया है। (यस्तु) जो वैराग्य वाला मनुष्य। (सौम्य) हे शान्तस्वरूप शिष्य। (सः) वह। (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ (सर्वम्) सबको। (एव) है। (आविश) सब कुछ प्राप्त कर लेता है। (इति) यह।

अर्थ—जिस ब्रह्म में जीवात्मा सम्पूर्ण देवतों अर्थात् इन्द्रियों के साथ प्राणों और भूतों के सहित स्थित होता है, जो मनुष्य

इस नाशरहित ब्रह्म को जान जावे, हे प्रिय पुत्र ! वह सर्वज्ञ और सब में प्रवेश करके इनके भीतरी वृत्तान्त को जानता है। इस मन्त्र से मालूम होता है कि सबमें उच्च ब्रह्म-विद्या है। जो मनुष्य इस विद्या से विज्ञ होते हैं, वह सर्वज्ञ कहलाते हैं; क्योंकि ज्ञान का सबसे श्रेष्ठ फल इनको प्राप्त होता है। ज्ञान का आशय केवल तीन बातों के जानने से प्राप्त होता है। प्रथम मैं क्या हूँ? द्वितीय मुझको क्या उपयोगी है? तृतीय हानिकारक क्या है? या जो मनुष्य अपनी सत्ता को जानता है उसी को लाभ-हानि का ज्ञान होता है। जो सत्ता से अनभिज्ञ है, उसको लाभ-हानि का ज्ञान किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। यह तो मोटी बात है कि जिस दूकानदार को अपने सामान का ज्ञान न हो, वह किस प्रकार जान सकता है कि लाभ हुआ अथवा हानि। इसी विचार को लेकर दूकानदार लोग प्रत्येक वर्ष अपनी पूँजी की परीक्षा करते रहते हैं, ताकि अगले वर्ष हानि-लाभ को ठीक समझ सकें। निदान जिस मनुष्य को हानिकारक वस्तु का मूल मालूम है, वह कभी इसकी उपासना को स्वीकार नहीं करता। जब हानिकारक की उपासना न हो, तो दुख किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है; क्योंकि जिसका हानि होना निश्चय हो जावे, उसके पास कोई जा भी नहीं सकता। यह तो सम्भव है, अविद्या से हानिप्रद वस्तु को लाभदायक विचार करके उसकी उपासना की जावे; परन्तु हानिप्रद जानने के पश्चात् तो मूर्ख भी इस ओर ध्यान नहीं करता। जब उपयोगी वस्तु की वास्तविक दशा ज्ञात हो गई, तो उपासना आवश्यक हो गई; जिसका आनन्द मिलना आवश्यक है। जब दुःख से मुक्त होकर आनन्द प्राप्त हो गया, तो त्रुटि किस वस्तु की रही?

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि प्रायः मनुष्य मद्यपान और मांस-भक्षण को बुरा समझते हैं और बहुत से साधु धन की निन्दा करते हैं। बहुत से आर्य-समाजी प्रकृति की उपासना को बुरा जानते हैं; परन्तु कर्म इसके विरुद्ध देखा जाता है; जिससे स्पष्ट विदित है कि हानि योग्य जानकर भी उपासना हो सकती है।

उत्तर—इन मनुष्यों का सन्देहयुक्त ज्ञान होगा, सत्य ज्ञान नहीं। जो मनुष्य मांस-भक्षण को पाप समझते हैं, वह इसको किस प्रकार काम में ला सकते हैं। यदि कोई आर्य-समाज का सभासद प्रकृति को बुरा जान ले, तो फिर वह प्राकृतिक ज्ञान को बढ़ाने में क्यों श्रम करने लगा। प्रकृति के मूल तत्त्व को जाने बिना प्रकृति की उपासना को बुरा बताना किस प्रकार सम्भव है और जिस प्रकृति के मूल तत्त्व को जान लिया, तो प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञाता हो गया; क्योंकि विज्ञान और सत्ता प्रतिकूल हैं। निदान इस दशा में जो आर्य जन प्राकृतिक विज्ञान को जानना चाहते हैं, वास्तव में वह प्रकृति-विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। इसी प्रकार साधु जो धन को बुरा कहते हैं और एकत्रित भी करते हैं, बिना ज्ञान के सुने सुनाये बुरा कहते हैं। जो मनुष्य इन पदार्थों के मूल कारण को जान गये हैं, वह जिसको बुरा बताते हैं, स्वप्न में भी उसकी उपासना नहीं करते।

प्रश्न—ईश्वर को जानने से सर्वज्ञ हो जाना, असम्भव नहीं मालूम होता; यह शब्द मिथ्या लिख दिया है ?

उत्तर—ईश्वर जानने से सर्वज्ञ हो जाता है। जब कहा जाता है कि ईश्वर का स्वरूप क्या है ? तो विद्वान् मनुष्य बताते हैं कि वह सच्चिदानन्दस्वरूप है अर्थात् यह सच्चिदानन्द का शब्द एक शब्द है, परन्तु जानने वाले जानते हैं कि यह शब्द विज्ञान से परिपूर्ण है; क्योंकि यह शब्द सत, चित्त आनन्द इन तीन

शब्दों का योग है। जब कहा ईश्वर क्या है; तो उत्तर मिला कि ईश्वर सत् है; परन्तु सत् के अर्थ तीन काल हैं। यदि अकेला ईश्वर ही सत् होता, तो जगत् न बनता, क्योंकि उपादान कारण के गुण विद्यमान न हों। यह तो सम्भव है कि गुण उपादान कारण में विद्यामान न हो, वह निमित्ति कारण में विद्यमान हो; क्योंकि निमित्त कारण से भी बहुत से गुण उपादान कारण में आते हैं; परन्तु यह सम्भव नहीं कि उपादान कारण का कोई वस्तु निमित्त कारण में विद्यमान न हो। निदान चेतन्य ईश्वर के सत् होने की दशा में सम्पूर्ण वस्तु का उपादान कारण ईश्वर ही हो सकता है। जब ईश्वर सम्पूर्ण वस्तु का उपादान कारण हुआ, तो कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती; क्योंकि चेतन्य ईश्वर से बनी हुई वस्तु में ज्ञान का होना अवश्य है, परन्तु संसार में जड़ वस्तु दृष्टि पड़ती हैं जिससे सम्पूर्ण पदार्थों का उपादान कारण ईश्वर नहीं हो सकता। जड़ अर्थात् ज्ञानरहित वस्तु के उपादान कारण को जड़ मानना पड़ता है, अतः प्रकृति का सत् होना आवश्यक है। जब प्रकृति सत् हुई, तो लक्षण अति व्याप्त हो गया; तो लक्षण करना पड़ा कि ईश्वर सत् चित्त है; परन्तु ऐसा मानने में दो प्रकार की वस्तुयें हो जाती हैं। एक आनन्दस्वरूप, दूसरे दुःखस्वरूप अर्थात् जड़ में न तो आनन्दस्वरूप, दूसरे दुःखस्वरूप अर्थात् जड़ में न तो आनन्दस्वरूप दुख का आना सम्भव है, क्योंकि वह सूक्ष्म है और सूक्ष्म में स्थूल के गुण जा ही नहीं सकते और न किसी को सुख अनुभव हो सकता है; क्योंकि परमात्मा आनन्दस्वरूप है। इनको सुख किस प्रकार हो सकता है; प्रकृति में जड़ होने के कारण से सुख अनुभव करने की शक्ति नहीं। अतः किसी प्रकार सुख

दुख अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव करनेवाला नहीं, परन्तु सुख-दुख अनुभव होते हैं; इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। अतः सुख-दुख अनुभव करने वाला चेतन्य माना जावे, तो उसकी दो ही दशायें हो सकती हैं; या तो वह सत् या असत्। यदि असत् स्वीकार किया जावे, तो उसके वास्ते निमत्त कारण का होना अत्यावश्यक है; परन्तु हैं दो ही—एक ईश्वर एक प्रकृति। ईश्वर को उसका उपादान कारण माना जावे, तो उसकी प्राकृतिक सत्ता विना ईश्वर मानना पड़ेगा। इस दशा में प्रकृति स्वतन्त्र और ईश्वर वाध्य होगा; क्योंकि निमित्त कारण उपादान कारण के अधिकार में होता है। यदि ईश्वर उपादान कारण, प्रकृति निमित्त-कारण मानी जावे, तो प्राकृतिक पृथक् होने से ईश्वर भी पृथक् होगा। यदि वह पृथक् माना जावे, तो सुख-दुख का अनुभव करने वाला पृथक् मानना पड़ेगा, जोकि मिश्रित हैं।

प्रश्न—हम ईश्वर को अभिन्न निमित्त उपादान-कारण मानते हैं।

उत्तर—यह सम्भव नहीं, क्योंकि निमित्त कारण का वाध्य होना और उपादान कारण का स्वतन्त्र होना आवश्यक है क्योंकि वाध्यत्व और स्वतंत्रता एक दूसरे के प्रतिकूल हैं, वह ईश्वर में नहीं रह सकती। द्वितीय निमित्तकारण का संयोग वियोग को स्वीकार करना आवश्यक है जो कि सीमा-वाली और एक से अधिक वस्तुओं में सम्भव है क्योंकि कर्त्ता निमित्तकारण को मिलाकर या तोड़कर ही किसी वस्तु को बना सकती है। ईश्वर एक और सर्वव्यापक है न तो वह संयोग और न वियोग को स्वीकार करता है। अतः निमित्त कारण हो ही नहीं सकता। तीसरे निमित्त-कारण निमित्त के

प्रभाव को स्वीकार करके उपादान-कारण की दशा को स्वीकार करता है। बस उपादान कारण और प्रकृति को एक कहना अपने दोष से युक्त है जैसे कोई कहे कि वह आदमी अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ गया। इस बात को कोई बुद्धिमान् सत्य नहीं मान सकता। ऐसे ही ईश्वर ने अपने ऊपर प्रभाव डालकर जगत् बनाया; कोई बुद्धिमान् यह स्वीकार नहीं कर सकता। अतः तीसरी सत्ता जोकि सत चित हो आवश्यक तौर पर माननी पड़ती है। जब सत्य जीव में लक्षण चला गया तो कहना पड़ा—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः प्रकृति सत्, जीवात्मा सचित और परमात्मा सच्चिदानन्द है। प्रत्येक प्रश्न जोकि धर्म सम्बन्धी हो सकता है, उसका उत्तर इस शब्द में वर्तमान है; जिसको पुस्तक विस्तृत होने के कारण नहीं लिख सकते। जो मनुष्य ईश्वर को जान ले, उसने मानों समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जान लिया।

इति चतुर्थ प्रश्न समाप्तः।



अथ पञ्चम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन् । मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१।५ ३॥

प० क्र०—(अथ) गार्गी के प्रश्न का उत्तर समाप्त होने के पश्चात् । (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से । (शैब्यः) शिव के पुत्र ने । (सत्यकामः) जिसका नाम सत्यकाम था । (पप्रच्छ) प्रश्न किया । (स यः ह वै) वह जिसने यम-नियम के द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया कि वह बड़ा तपस्वी है । (भगवान्) हे गुरु महाराज । (मनुष्येषु) मनुष्यों में से जो मनुष्य । (प्रायणांतम्) जीवन के समाप्ति तक । (ओंकारम्) ओंकार परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को । (अभिध्यायीत) चित्त को एकाग्र करके ध्यान करता है । (कतमं) किस लोक को । (स) वह । (तेन) इस ध्यान के कारण । (लोकम्) लोक को । (जयति) अपने वश में कर लेता है । (इति) यह प्रश्न है ।

अर्थ—गार्गी के प्रश्न का उत्तर जब पिप्पलाद ऋषि दे चुके, तो शिव के पुत्र ने जिसको मनुष्य सत्यकाम के नाम से

उच्चारण करते थे; जिसने योग के अङ्गों को पूर्णतया अभ्यास द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया था; ऋषि से प्रश्न किया कि गुरु महाराज ! जो मनुष्य जीवनपर्यन्त मन और इन्द्रियों को रोककर ओङ्कार का ध्यान करता है, अथवा जिसको ओङ्कार कहते हैं, उसमें मन को लगाता है, वह इस कर्म से किस लोक को विजय कर लेता है ?

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम । परंचापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतननैकतरमन्वेति ॥ २ । ५४ ॥

प० क्र०—(तस्मै) इस सत्यकाम को । (सः) वह पिप्पलाद ऋषि ने । (ह उवाच) स्पष्ट शब्दों में यह उपदेश किया । (एतद्वै) निश्चय यही है । (सत्यकाम) हे सत्यकाम । (परम्) जो उसकी सबसे श्रेष्ठ मुक्ति के प्राप्त करने के विचार से इसकी उपासना करता है । (च) और । (अपरम्) सांसारिक राज्यादि सुखों के स्वार्थ से उपासना करता है । (च) और । (ब्रह्म) सबसे श्रेष्ठ, महान् । (यत्) जो । (ओङ्कारम्) ओङ्कार परमेश्वर है । (तस्मात्) इस कर्म को । (विद्वान्) वह ज्ञानी मनुष्य । (एतन्) इस ही । (एव) है । (आयतनेन) शरीर से । (एकतरम्) मुक्ति सुख अथवा सांसारिक चक्रवर्ती राज्य और जिस स्वार्थ से उपासना करता है, इच्छित फल को । (अन्वेति) प्राप्त करता है ।

अर्थ—सत्यकाम के प्रश्न के उत्तर में पिप्लाद ऋषि ने कहा कि सत्यकाम जगत् में दो प्रकार की वासना है—एक तो सब से श्रेष्ठ मुक्ति की वासना है दूसरी इससे न्यून सांसारिक राज्यादि की वासना है । अतः जो ओङ्कार का नियमपूर्वक जीवनपर्यन्त

ध्यान करता है, उसकी जिस प्रकार की इच्छा हो, वह पूरी हो जाती है। अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष है, वह जिस विचार से ब्रह्म की उपासना करता है, उसमें सफल होता है। उसको पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इस जन्म में सब सुखों को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—सत्यकाम का प्रश्न तो यह था कि ओङ्कार का जीवन-पर्य्यन्त ध्यान करने वाला किस लोक को जय करता है? उत्तर यह दिया गया कि वह दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त कर लेता है।

उत्तर—जैसे कोई कहे कि ब्रह्म कहाँ रहता है, तो उत्तर यही होगा कि सर्वत्र। इसी प्रकार ब्रह्म के ध्यान से प्रत्येक वासना पूर्ण हो सकती है। अतएव ऋषि ने उत्तर दिया कि सब प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण। यदि उसका एक ही फल होता, तो नाम बता देते कि अमुक लोक अथवा इच्छा को पूर्णकर सकता है।

प्रश्न—क्या कर्म-फल इस जन्म में भी मिल सकता है?

उत्तर—नहीं मिल सकता, क्योंकि जब तक बीज गल न जावे, तब तक अंकुर नहीं आता और जब तक पक न जावे, फल नहीं दे सकता। जब कोई कर्म किया जाता है, तो उसका बीज गलने के पश्चात् दो अंकुर होते हैं। एक अवशिष्ट, दूसरे संस्कार और जब अवशिष्ट का अंकुर पक जावे तब वह फल दे सकता है।

प्रश्न—यदि कर्मफल इस जन्म में नहीं मिल सकता, तो ऋषि ने क्यों कहा कि इस जन्म में प्रत्येक काम में सफलता होती है?

उत्तर—ब्रह्म का ध्यान कर्म नहीं; किन्तु उपासना का अङ्ग है और उपासना का फल उसी समय मिला करता है; जिस प्रकार आग के पास जाते ही हाथ जलने लगते हैं और जल के पास जाते ही शरद हो जाते हैं। गार्गी ने कर्म और उपासना के फल को पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष करने के अर्थ यह प्रकट किया कि इस शरीर में ही वह सफल होता है।

प्रश्न—कर्म का बीज क्या है, जिसके गलने पर फल उत्पन्न करने वाला अंकुर निकलता है?

उत्तर—जिसके होने से कर्म होता है और जिसके बिना नहीं होता, क्योंकि जीव का ज्ञान तो स्वभाविक है, परन्तु कर्म कारण द्वारा कर सकता है। अतएव कर्म का बीज शरीर है।

प्रश्न—जीव को कर्म का बीज क्यों न कहा जावे, किन्तु बिना जीव के कर्म हो ही नहीं सकता।

उत्तर—जीव बोने वाला है कर्म का बीज शरीर ही है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ । ५५ ॥

प० क्र०—(स) वह ज्ञानी पुरुष। (यदि) यदि। (एकमात्रम्) ओ३म की एक मात्रा अर्थात् 'अ' का। (अभिध्यायीत मन को एकाग्र करके ध्यान करता है अर्थात् अकार ध्यान से इसका मन विषयों से रहित हो जाता है। (हवेदितः) सावधानता से। (तूर्णम्) अति शीघ्र। (एव) है। (जगत्याम्) जगत्। (अभिसम्पद्यते) दोनों प्रकार के धन-एश्वर्य तथा

राज्यादि सामग्री से युक्त होता है। (तम्) उस ज्ञानी को। (ऋचः) ऋग्वेद के अनुकूल अर्थात् गुण के ज्ञानरूप सब सामग्री। (मनुष्यलोकम्) मनुष्यों के राज । (उपनयन्ति) जिस प्रकार उपनयन संस्कार से दूसरे से उत्तमता होती है अर्थात् वह वेद पढ़ने का अधिकारी होता है। (स) वह। (तत्र) इस जन्म में। (तपसा) तप से। (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदानुकूल कर्म से। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (सम्पन्नः) ब्रह्मज्ञान से प्राप्त करके। (महिमानम्) परमात्मा की महिमा को। (अनुभवति) अनुभव करता है।

अर्थ—ऋषि कहते हैं कि जब वह ओ३म् की एक मात्रा अर्थात् अकार को स्थित चित्त से ध्यान करता है तो उस उपासना का यह फल होता है कि वह मेधा बुद्धि को प्राप्त करके अति शीघ्र पृथ्वी पर मनुष्यों में विद्वान् होकर मनुष्यों पर शासन करता है और तप और ब्रह्मचर्य से पृथक् होकर श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा को ज्ञात करता है। जब तक मनुष्य परमात्मा के ध्यान में न लगे। तब तक वह संसार में राज्य करने योग्य नहीं होता।

प्रश्न—परमात्मा के ज्ञान और राज्य से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—परमात्मा के ज्ञान के विना मन पर अधिकार नहीं हो सकता, जिसका मन पर अधिकार न हो वह इन्द्रिय और शरीर पर ठीक प्रकार अधिकार नहीं रखता, जिसका शरीर पर अधिकार न हो, उसकी सन्तान अधिकार में नहीं रहती; जिसकी सन्तान अधिकार में न हो वह टोला पर शासन नहीं कर सकता- जिसका टोला पर अधिकार न हो; वह गांव पर किस प्रकार शासन कर सकता है और जिसकी गांव में शासन न हो

वह प्रान्त और देश पर किस प्रकार राज्य कर सकता है। अतः संसार पर राज्य करने का मूल कारण मन-पर राज्य करना है और मन पर राज्य बिना ब्रह्मज्ञान के हो नहीं सकता।

प्रश्न—हमतो देखते हैं कि इस समय बहुत से राजा जो ब्रह्मज्ञान से शून्य हैं, परन्तु फिर भी शासन कार्य करते हैं यह क्यों ?

उत्तर—निस्सन्देह वह राजा कहलाते हैं, परन्तु वह राजा हैं नहीं; क्योंकि यदि वह राजा होते, तो उनको शरीर-रक्षक और सेना की आवश्यकता न होती; राजा प्रजा का रक्षक होता है। जिसको अपने शरीर के रक्षार्थ अन्य के सहायता की आवश्यकता हो, वह सब प्रजा की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। जो स्वयम् भय करता है, वह प्रजा को निर्भय किस प्रकार बना सकता है।

प्रश्न—मन पर अधिकार होने से क्या अंग-रक्षक की आवश्यकता नहीं रहती ?

उत्तर—भय पाप से होता है। यदि मन वश में हो तो वह पाप करेगा ही नहीं। जो पाप न करे, उसको किसी का भय हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसने किसी को हानि ही नहीं पहुँचाई जिससे कोई शत्रु हो। जब शत्रु ही नहीं, सब प्रजा हैं, जो पुत्रवत् होती है, जो इसका होना अपने लिये निश्चित विचार करती है, फिर अंग-रक्षक की आवश्यकता ही क्या है ?

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम्, स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ ५१ ॥

प० क्र०—(अथ) एक मात्रा की उपासना के पश्चात्। (यदि) यदि। (द्विमात्रेण) अकार, उकार दो मात्राओं से। (मनसि) मन में। (सम्पद्यते) परमात्मा के ध्यान को प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों होते हैं। (स) वह, ज्ञानी पुरुष। (अन्तरिक्षम्) आकाश में बसनेवाले दूसरे लोकों को। (यजुर्भिः) यजुर्वेद विद्या अर्थात् ज्ञान के अनुकूल कर्म से। (उन्नीयते) उन्नति करता है। (स) वह ज्ञानी पुरुष। (सोमलोकम्) चन्द्रलोक पर शासन करता है। (सः) वह। (सोमलोके) चन्द्रलोक की हुकूमत के द्वारा। (विभूति) वहाँ के सुखों को। (अनुभूयः) मालूम करके। (पुनरावर्त्तते) फिर लौट आता है।

अर्थ—यदि संसारिक ऐश्वर्य तथा राज्य को देने वाली उपासना के पश्चात् अकार उकार दो मात्राओं से, मन को ज्ञान और कर्म के द्वारा परमात्मा के ध्यान में लगावे, तो वह आकाश में रहनेवाले दूसरे लोकों पर भी राज्य करता है, वह चन्द्रलोक पर शासन करता है और वहाँ के सुखों को अनुभव करके फिर पृथ्वी पर लौट आता है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक ऐश्वर्य नष्ट-कारक है। यदि ऋषि का आशय यह समझा जावे कि एक मात्रा की उपासना से तो इन्द्रियों का सुख और बाहिरी ज्ञान प्राप्त होता है और मन के भीतर ज्ञान और कर्म से जब उपासना करते हैं, तो उसको मन में शांति का दर्शन होता है। जिस शांति को संसार के राजा किसी दशा में प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इसको ब्रह्म-उपासक-जन ही प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न—राजाओं को शान्ति क्यों प्राप्त नहीं होती ?

उत्तर—संसार के राजाओं को अन्य राजाओं की उन्नति से भय, प्रजा से भय कि कहीं प्राणान्त न कर दें, राज-सिंहासन से

न उतार दें, मरण का विचार, उन्नति की अभिलाषा इत्यादि होते हैं, जिससे शांति नहीं हो सकती।

प्रश्न—ब्रह्म-उपासक में यह दोष क्यों नहीं होते ?

उत्तर—ब्रह्म-उपासक को दूसरे की उन्नति का भय किस प्रकार हो सकता है; क्योंकि वह जानता है कि ब्रह्म की उपासना से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं है, जो दूसरे को प्राप्त हो। उसको तो दूसरों की हीन दशा पर दया आती है और इसको मौत का भय हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह जानता है कि जिस मार्ग पर पहुँचने के लिये शरीररूपी गाड़ी मिली थी, वह ब्रह्मज्ञान मुझे मिल गया है। जब मार्ग पर पहुँच गये, तो गाड़ी के होने से क्या लाभ ? गाड़ी से पृथक् रहना ही उत्तम है। जब तक शरीर रहे, जब चला जावे और न वह किसी का अधिकार लेता है। निदान ब्रह्म-उपासक के पास कोई अशान्ति का साधन ही नहीं, जिससे उसे अशान्ति कष्ट दे।

प्रश्न—इनको आवश्यकताओं के प्राप्त करने का विचार तो अवश्य होगा और इनको चिन्ता भी अवश्य होगी।

उत्तर—आत्मा को किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं; जितनी आवश्कता है, वह सब शरीर और मन की है। जो शरीर को किराया की गाड़ी समझता है, उसको शरीर की रक्षा की क्या आवश्यकता ? रक्षा का काम स्वामी का है। आत्मा को जिसकी आवश्यकता है, वह भीतर विद्यमान् है; जो किसी दशा में पृथक् नहीं हो सकता। जब वह पृथक् ही नहीं हो सकता, तो जरूरत ही क्या रही।

प्रश्न—अपने शरीर को जरूरत न भी हो, तो कुल के मनुष्यों की आवश्यकता का तो अवश्य ध्यान होगा।

उत्तर—जैसा अपना शरीर प्रारब्ध के आश्रय जीता है ऐसा ही कुल के मनुष्य भी प्रारब्ध के आश्रय जीते हैं; क्योंकि वह जानता है कि हम इस शरीर में अपनी इच्छा से नहीं आये; किन्तु कर्मों का फल भोगने के वास्ते परमात्मा ने हमें भेजा है। अतः यह शरीर कारागार है। कारागार के बन्धुओं को अपनी अथवा अन्य बन्धुओं की रोटी की चिन्ता करना अज्ञानता है। अतः महा ज्ञानी पुरुष से ऐसी अज्ञानता क्योंकर हो सकती है। यह सब चिन्ता मूर्खों को होती है, विद्वानों को नहीं।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः॥ ५। ५७॥

प० क्र०—(यः) जो ज्ञानी पुरुष। (पुनः) फिर। (एतत्) यह उपासना। (त्रिमात्रेण) तीनों मात्राओं अर्थात् ओ३म् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को पूर्ण ध्यान से जपता है। (अनेन) इसके द्वारा। (एव) है। (अक्षरेण) अक्षर अर्थात् नाशरहित। (परम्) महान्, अति सूक्ष्म। (पुरुषम्) सारे जगत् में व्यापक परमात्मा को। (अभिध्यायीत) योग द्वारा प्रत्यक्ष करके ध्यान करता है। (सः) वह उपासना करनेवाला। (तेजसि) ज्ञान के बढ़ानेवाले। (सूर्यः) वेद में। (सम्पन्न) प्राप्त होकर। (यथा) जैसे। (पादोदर) साँप जिसके पेट ही

पाँव होते हैं। (त्वचा) केंचुली को। (विनिर्मुच्यंत) नितान्त त्याग कर देता है। (हवै) इसी प्रकार उपासना करनेवाला। (स) वह। (पाप्माना) मन के भीतर जो मल, विक्षेप और आवरण दोष है। (विनिर्मुक्तः) छूटकर। (स) वह। (सामाभि) सामवेद से बताई हुई उपासना से। (उन्नीयते) बड़ाई को प्राप्त करता है। (ब्रह्मलोके) परमात्मा के दर्शन को प्राप्त करता है। (स) वह। (एतस्मात्) इस प्रत्यक्ष जगत् में। (जीवनात्) जीवात्मा देने वाले शरीर से। (परात्) जो कारणरूपी सूक्ष्म प्रकृति है। (परम्) इससे भी सूक्ष्म जो परमात्मा है, जो एक-एक परमाणु के भीतर भी विद्यमान है। (पुरिशयम्) जो जगत्‌रूप मकान में रहता है अर्थात् जगत् में सर्वत्र व्यापक है। (पुरुषम्) जिसका नाम इस कारण से पुरुष है। (ईक्षते) उसके दर्शन करता है। (तद) उसके विषय में। (एतो) यह, वह। (श्लोकी) श्लोक। (भवतः) प्रमाण है।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि जब कोई ज्ञानी पुरुष पूर्ण 'ओ३म्' की उपासना करता है अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना के कर्म को ठीक-ठीक नियमानुकूल करता है और इस 'ओ३म्' के द्वारा परमात्मा का ध्यान करता है; वह पुरुष वेद मूल को समझकर जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल को छोड़कर स्वतन्त्र हो जाता है; इसी प्रकार वह मन के तीन प्रकार के जो दोष हैं—मल, विक्षेप और आवरण इनसे छूट जाता है। वह जिस उपासना के आशय से सामवेद का प्रकाश हुआ है, इससे बड़ाई प्राप्त कर लेता है और ब्रह्म के दर्शन से वह इस प्रत्यक्ष जगत् से विचार करता हुआ, अपनी देह से सूक्ष्म और इससे सूक्ष्म कारण शरीर अर्थात् प्रकृति और इससे भी

सूक्ष्म परमात्मा, जिसका यह जगत् व्याप्य है, उसको देखता है। इस विषय में यह दो श्लोक प्रमाण हैं।

प्रश्न—अन्य टीकाकार तो सूर्य का अर्थ सूर्यलोक करते हैं, तुमने सूर्य का अर्थ वेद किस प्रकार किया ?

उत्तर—सूर्य दो हैं, एक प्राकृतिक सूर्य जिससे नेत्र को सहायता मिलती है; नेत्र रूप को देखते हैं और इससे रात्रि-दिवस का ज्ञान होता है। दूसरा आत्मिक सूर्य जिससे ब्रह्मदिन तथा ब्रह्मरात्रि का ज्ञान होता है, वह वेद है, यहाँ आत्मिक विषय है, अतः यहाँ सूर्य का अर्थ वेद है। जो वेद-ज्ञान से परिपूर्ण होता है, वही परमात्मा को जान सकता है। जो वेद के ज्ञान से शून्य है; वह परमात्मा को नहीं जान सकता।

प्रश्न—हम बहुत से वेद के जानने वालों को ज्ञान से शून्य पाते हैं ?

उत्तर—जिसके मन में तीन प्रकार के दोष हैं, अर्थात् मल, विक्षेप, आवरण, वह वेद शब्दों को समझता हुआ भी ब्रह्म-ज्ञान से शून्य रहता है। यथा प्रत्येक मनुष्य जो अपने नेत्र से अपने ही नेत्र को देखना चाहे, उसको शीशे की आवश्यकता है। जो नेत्र के अंजन को देखना चाहे, वह भी बिना दर्पण के नहीं देख सकता। अतः दयालु परमात्मा ने प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप जानने के लिये एक दर्पण दे रक्खा है; जिसका नाम मन है; परन्तु अँधेरी रात्रि में दर्पण के होने पर भी दृष्टि नहीं आता, इस लिये परमात्मा ने सूर्य दे दिया है, जिसका नाम वेद है; परन्तु दर्पण में तीन दोषों में से कोई दोष आ जावे, तो सूर्य की विद्यमानता में भी देख नहीं सकते। इस कारण जिस विद्वान् के मन में दोष है, वह मरमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता।

प्रश्न—मल-दोष किसे कहते हैं।

उत्तर—मल-दोष मन के अपवित्र होने का नाम है; जिसमें दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार है जैसा कि आज-कल प्रत्येक मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर!

"अक्ल का अंधा, गाँठ का पूरा भेज"।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—मन के चंचल होने का नाम विक्षेप होता है, अतः चंचलता मन का विक्षेप दोष है। एक वस्तु मिल जाती है, झट दूसरी का विचार विद्यमान। मन की इच्छा पूर्ण ही नहीं होती।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—आवरण दोष का नाम मन जो अहंकार का परदा है; वह जब तक स्थिर है, तब तक कोई परमात्मा को नहीं देख सकता।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म निराकार है, तो उसको किस प्रकार देख सकते हैं ? जब ब्रह्म देखा नहीं जा सकता, तो ऋषि ने उसको देखने का उपदेश क्यों किया ?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु जिसका प्रत्यक्ष होता है, उसी को देखना कहा जाता है। देखने के अर्थ इन्द्रियों से अनुभव करना है। यथा कोई कहे कि दाल में नमक अधिक है; यदि कहे कि कैसे जाना, तो उत्तर मिलता है कि खाकर देखी है। इसी प्रकार ब्रह्म का देखना कहा है।

प्रश्न—इन्द्रियों से जो अनुभव न हो, उसके देखने के लिये कोई शब्द आ सकता है; ब्रह्म तो किसी इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, फिर उसका देखना कैसा ?

उत्तर—ब्रह्म मन से जाना जाता है और मन का सम्बन्ध दोनों प्रकार की इन्द्रियों से है, इसलिये मन को उभय इन्द्रिय कहा है। अतः ब्रह्म मानसिक प्रत्यक्ष होने से ब्रह्म को देखना कहा।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ताअनविप्रयुक्ताः। क्रियासुबाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पतेज्ञः ॥६।५८॥

प० क्र०—(तिस्रः) तीन ही। (मात्रा) अकार, उकार, मकार अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा ज्ञान, कर्म, उपासना। (मृत्यु) मृत्यु को तैर कर। (प्रयुक्ता) उपासना के समय ठीक नियमपूर्वक ओंकार का प्रयोग अर्थात् ओंकार का मन से जप करते हुए। (अन्योन्यऽसक्ता) तीनों का ठीक सम्बन्ध स्थित करके (अनविप्रयुक्ता) जो तोड़-फोड़ कर जाप न किया हो। (क्रियासु) क्रिया में हरकत में। (वाह्याभ्यंतरमध्यमासु) जो बाहर-भीतर और मध्य में हो। (सम्यक् प्रयुक्तासु) जो ठीक-ठीक नियमपूर्वक की गई हो। (न) नहीं। (कम्पते) काँपना, घबराना। (ज्ञः) जो उपासना करने वाला योगी है।

अर्थ—जो ज्ञानी पुरुष 'ओ३म्' की तीन मात्राओं अर्थात् अकार, उकार, मकार को मिलाकर ठीक-ठीक उपासना करता है, जिसका कोई कर्म नियम के विरुद्ध नहीं होता; जिसकी आत्म क्रिया, वाह्य क्रिया और मध्यम क्रिया सब ठीक-ठीक होती हैं; जिसको भय, लज्जा और संदेह की प्रकाशक वृत्ति अर्थात् पाप का विचार विद्यमान नहीं, वह योगी किसी जगत् में, किसी दशा में भय नहीं खाता। यदि कोई संसार में निर्भय हो सकता है, तो वह केवल योगी हो सकता है। अतिरिक्त योगी के और कोई निर्भय नहीं हो सकता। यदि राजा हो, तो

अपने से बड़े राजा का भय; यदि धनी हो, तो तस्करादि का भय और यदि चक्रवर्ती राजा भी हो जावे, तो मौत का भय अवश्य रहेगा।

प्रश्न—योगी को क्यों भय नहीं होता ?

उत्तर—भय के कारण तीन होते हैं—प्रथम यह कि स्वयम् पाप करे, द्वितीय यह कि राजा अन्यायी, तृतीय अविद्या हो। योगी पाप नहीं करता और न जिसको राजा समझता है वह अन्यायी हो सकता है। योगी जानता है कि अतिरिक्त अपने कर्मों के कोई दुख-सुख देने वाला नहीं। जब मैं पाप नहीं करता तो मुझे दुःख कौन दे सकता है। अविद्या योगी के पास नहीं जाती। जब भय के कारण न हों, तो भय किस प्रकार हो सकता है।

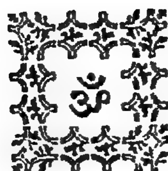
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरंतरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवाऽऽयतने नाऽन्वेति विद्वान् यत्तच्छान्त मजरममृतंभयं परं चेति ॥७।५६॥

प० क्र०—(ऋग्भिः) ऋग्वेद ज्ञानकांड और जाग्रत अवस्था से। (एतम्) इस लोक को। (यजुभिः) यजुर्वेद कर्मकांड और स्वप्न अवस्था से। (अन्तरिक्षम्) चन्द्रादि लोकों को। (सामभिः) सामवेदी उपासना कांड और सुषुप्ति अवस्था से। (यत्) जो मिलता है उसको। (कवया) ज्ञानी विद्वान्। (वेदयन्ते) जानते हैं। (तम्) उस। (ओंकारं) परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को। (एव) है। (आयतनेन) आश्रम से। (अन्वेति) प्राप्त करता है। (विद्वान्) विद्वान्। (यत्) जो। (तत्) वह। (शांतम्) इच्छा तथा क्लेश रहित। (अजरम्) अजर। (अमृतं) अमर। (अभयम्) निर्भय जो सर्वत्र सदा निर्भय

हो। (परम्) अति सूक्ष्म और महान्। (च) और। (इति) यह परिणाम है।

अर्थ—पिप्पलादि ऋषि ने कहा कि ऋग्वेद अर्थात् ज्ञान-कांड से इस लोक को, यजुर्वेद अर्थात् कर्मकांड से आकाश में निवास करनेवाले अन्य लोकों को और सामवेद से जो कुछ प्राप्त होता है, उसे पूर्ण ज्ञानी पुरुष जिन्होंने योग और समाधि से सद्विद्या को जान लिया है, वही बता सकते हैं। उस अवस्था को ओंकार के आश्रय से ही सर्व-साधारण मनुष्य प्राप्त करते हैं, जिसमें शांति प्राप्त होती है अर्थात् फिर कोई इच्छा शेष नहीं रहती कि जिसकी ओर मन जावे; न बुढ़ापे का अवसर प्राप्त होता है। मृत्यु से पृथक् रहता है और निर्भय रहता है और जो सबसे महान् है, उसको प्राप्त कर लेता है।

इति पञ्चम प्रश्न समाप्तः।



अथ षष्ठम् प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन् ! हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् । षोडशकलंभारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारंब्रुमवम् नाहमिमं वेद, यद्यहमिमम-वेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो, वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ । पुरुष इति ॥ १ । ६० ॥

प० क्र०—(अथ) शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात् । (सुकेशा भारद्वाजः) सुकेशा नामी भारद्वाज ऋषि की संतान से । (ह्येनम) स्पष्ट पिप्पलाद ऋषि से । (पप्रच्छ) प्रश्न किया । (भगवन्) हे गुरु महाराज । (हिरण्यनाभः) जिसका नाम हिरण्यनाभ है । (कौशल्याः) जो कौशल गोत्र में उत्पन्न हुआ । (राजपुत्रः) राजा के लड़के ने । (माम्) मेरे । (उपेत्य) पास आकर । (एतं) इस । (प्रश्नम्) प्रश्न को । (पृच्छत्) पूछा । (षोड़शकलं) सोलह कला वाले ।

(भारद्वाज) हे भारद्वाज ऋषि की संतान। (पुरुषम्) संसार में सर्वत्र व्यापक अथवा शरीर में व्यापक का। (वेत्थ) तू जानता है। (तम्) उस। (अहं) मैंने। (कुमारम्) कुमार को। (अब्रुवम्) कहा। (न) नहीं। (अहम्) मैंने। (इमम्) उसको। (वेद) जाना। (यदि) यदि। (अहम्) मैंने। (इमम्) उसका। (अवेदिषम्) जाना होता। (कथं) किस लिये। (ते) तुझको। (न) नहीं। (अवक्ष्यामि) बताता। (इति) यह। (समूलो) बीज से अर्थात् जड़ से। (वा) है। (परिशुष्यति) सूख जाता है। (या) जो। (अनृतम्) मिथ्या वस्तु की मूल के विरुद्ध। (अभिवदति) कहता है। (तस्मात्) इस कारण से। (न) नहीं। (अर्हम्) शक्ति रखता। (अनृतम्) झूठ को। (वक्तुम्) सीमा से की। (स) वह। (तूष्णीं) चुपचाप। रथमारुह्य रथ पर बैठकर। (प्रवव्राज) वहाँ से चला गया। (ते) इसको। (त्वा) आपसे। (पृच्छामि) पूँछता हूँ। (क्व) कहाँ। (असौ) वह। (पुरुष) पुरुष है। (इति) यह।

अर्थ—शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात् भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुआ सुकेशा नामी ऋषि ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि हे गुरु ! एक दिन हिरण्यनाभि कोशल देश के राजपुत्र ने मेरे पास आकर प्रश्न किया कि हे भारद्वाज ! तू इस १६ कलावाले पुरुष को जानता है ? मैंने उस राजकुमार से कहा—हे राजकुमार ! मैं उस पुरुष को नहीं जानता। यदि जानता, तो कोई कारण न था कि मैं तुमको न बताता। वह मनुष्य जो घटना के विरुद्ध कहता अर्थात् मिथ्या बोलता है, वह जड़-मूल से नष्ट हो जाता है। इस कारण मैं मिथ्या बोलने की शक्ति नहीं रखता। मेरी इस बात को सुनकर वह रथ पर सवार हो

चला गया। अतः मैं आपसे वही प्रश्न करता हूँ कि वह पुरुष षोड़श कलावाला कौन सा है ?

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ । ६१ ॥

प० क्र०—(तस्मै) इस सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में। (सहोवाच) उस पिप्पलाद ऋषि ने कहा। (इह) यहाँ। (एव) है। (अन्तःशरीरे) शरीर के भीतर। (सोम्य) हे प्रिय शिष्य। (स) वह। (पुरुष) पुरुष अर्थात् जीवात्मा है। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (एता) यह। (षोड़शकला) १६ कलाएँ। (प्रभवन्ति) उत्पन्न होती हैं। (इति) यह परिणाम है।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में कहा—हे प्रिय शिष्य ! वह पुरुष कहीं दूर नहीं रहता, जिसकी खोज में किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता हो। किन्तु वह इस शरीर के भीतर है, जिसके भीतर यह षोड़श कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न—यहाँ पुरुष से जीवात्मा का अर्थ है अथवा ब्रह्म का; क्योंकि पुरुष शब्द के अर्थ जीव-ब्रह्म दोनों हो सकते हैं।

उत्तर—यहाँ पुरुष से तात्पर्य जीवात्मा है, क्योंकि अगली श्रुति इसकी युक्ति है; परन्तु चौथी श्रुति परमात्मा की महिमा का वर्णन करती है, अतः जीवात्मा-परमात्मा दोनों शरीर के भीतर रहते हैं। एक षोड़श कलाओं को उत्पन्न करता है; एक षोड़श कलाओं से काम लेता है। इसलिये षोड़श कलावाले दोनों हो सकते हैं।

प्रश्न—श्रुति में पुरुष शब्द एक वचन है, इस लिये एक ही अर्थ ले सकते हैं; दो नहीं।

उत्तर—एक के देखने से दोनों का एक साथ दर्शन होता है। यथा नेत्र और नेत्र का अंजन। दर्पण सामने आते ही एक साथ देखे जाते हैं; इस लिये एक ही साधन दोनों के देखने के वास्ते हैं। अतः श्रुति ने एक वचन दिया है, परन्तु तात्पर्य दोनों का विदित होता है।

स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ । ६२ ॥

प० क्र०—(स) इस जीवात्मा ने। (ईक्षांचक्रे) विचारा। (कस्मिन्न) किसके निकलने में। (अहम्) मैं। (उत्क्रान्तः) निकालनेवाला। (उत्क्रान्तो) निकलने से। (भविष्यामि) होऊँगा। (कस्मिन्) किसके। (वा) अथवा। (प्रतिष्ठिते) ठहरने में। प्रतिष्ठिस्यामि) स्थित रहूँगा। (इति) यह।

अर्थ—जीवात्मा ने विचार किया कि इस शरीर से किसके निकलने में मुझे शरीर को छोड़ देना होगा अर्थात् शरीर में कौन सी वस्तु है, जिससे मनुष्य जीवित रहता है और किसके निकलने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि नेत्र निकल जावें, तो काना हो जाता है, परन्तु जीवित रहता है;यदि श्रवण पृथक हो जायँ, तो बहरा हो जावेगा ; परन्तु जीवित रहेगा। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के पृथक् हो जाने से शरीर में दोष तो आ जाता है, परन्तु मृत्यु नहीं होती, किन्तु जिस समय प्राण निकल जावें, उस समय जीवात्मा शरीर में

नहीं रह सकता। अतः प्राण के न होने से मृत्यु हो जाती है।

प्रश्न—शिर के कटने और प्राण के निकलने से मृत्यु अवश्य हो जाती है; किसी और इन्द्रिय अथवा अङ्ग के पृथक् होने से नहीं इसका क्या कारण है?

उत्तर—शिर में ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं, जिनसे जीव को नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त होता है और प्राणों में क्रिया होती है, जिससे जीवात्मा के प्रयत्न को सहायता मिलती है। ज्ञान और प्रयत्न ही जीवात्मा के स्वभाविक गुण हैं। अतः जीव के गुणों को सहायता देनेवाले यंत्र नहीं रहते, तो जीवात्मा शरीर में किस हेतु रहे। शिर के न होने से ज्ञान और प्राण के न होने से प्रयत्न निष्फल हो जाता है।

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योति-रापः पृथिवीन्द्रियम् मनः। अन्नमन्ना द्वीर्यं तपो मंत्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च॥ ४। ६२॥

प० क्र०—(स) उस विषयों से पृथक् परमेश्वर ने। (प्राणम्) प्राण को। अस्रृजत्) उत्पन्न किया। (प्राणात्) प्राणों से। (श्रद्धाम्) श्रद्धा को उत्पन्न किया। (खं) आकाश। (वायुः) वायु को। (ज्योति) अग्नि को। (आपः) जल को। (पृथिवी) पृथिवी को। (इन्द्रियम्) इन्द्रियों को। (मन) मन को। (अन्नम्) अन्न को। (अन्नात्) अन्न से। (वीर्यम्) वीर्य को। (तपः) तप। (मंत्रः) विचार से। (कर्म) कर्म अर्थात् पाप-पुण्य। (लोका) शरीर अथवा मनुष्य पशु आदि। (लोकेषु) स्थूल शरीर में। (च) और। (नाम) संज्ञा। (च) इत्यादि।

अर्थ—सर्वत्र व्यापक परमात्मा ने सबसे पूर्व प्राण क्रिया देने के लिये उत्पन्न किये; क्योंकि जब तक कोई क्रिया करने वाला न हो, कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। उस प्राण से श्रद्धा उत्पन्न हुई, श्रद्धा से आकाश उत्पन्न हुआ; आकाश के पश्चात् वायु इसके पश्चात् अग्नि, इसके पश्चात् जल, फिर पृथिवी जब यह पाँचों भूत उत्पन्न हो गये, तो उनके गुणों को अनुभव करने और काम में लानेवाली इन्द्रियाँ और इन्द्रियों को ठीक नियम में रखने के लिये मन और मन को दृढ़ रखने और इन्द्रियों को जीवित रखने के हेतु अन्न उत्पन्न किया और अन्न से वीर्य और वीर्य से तप अर्थात् पुरुषार्थ और उससे विचार और विचार से कर्म-योनि अर्थात् शरीर इससे विविध प्रकार की योनियों का विभाग अर्थात् नाम उत्पन्न किये।

प्रश्न—एक उपनिषद् में तो आत्मा से आकाश की उत्पत्ति लिखी और यहाँ प्रथम प्राण और श्रद्धा दो लिख दिये। इन दो में से सत्य कौन सा है?

उत्तर—परमात्मा के ईक्षण अर्थात् ज्ञानानुकूल क्रिया से आकाशादि उत्पन्न होते हैं; इस कारण परमात्मा के ईक्षण का नाम प्राण और श्रद्धा है। क्रिया का नाम प्राण और ज्ञान का नाम श्रद्धा है। अतः दोनों स्थान पर एक ही आशय है, विरोध नहीं है।

प्रश्न—उस स्थान पर तो लिखा है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। यह कहीं नहीं लिखा कि आत्मा के ईक्षण से आकाश उत्पन्न हुआ।

उत्तर—जैसे कहते हैं बाप से बेटा उत्पन्न हुआ, क्या बेटा बाप की कृपा और ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, परन्तु कहा यही जाता है कि बाप से बेटा उत्पन्न हुआ।

प्रश्न—षोड्श कला कौन सी हैं।

उत्तर—पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और एक मन; इनको उत्पन्न करने वाला परमात्मा, धारण करने वाला जीवात्मा है।

प्रश्न—परमात्मा को क्या प्रयोजन था, जो व्यर्थ जीवात्मा को यह १६ कला देकर झगड़े में डाला ?

उत्तर—इसका दया और न्याय स्वभाव है। जीव की निर्बलता पर दया करके जगत् के उत्पन्न का कारण हुआ, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥५।६४॥

स० क्र०—(स) इस पिप्पलाद ऋषि ने कहा। (यथा) जैसे। (इमा) यह। (नद्यः) नदी। (स्यन्दमानः) बहते हुए। (समुद्रायणाः) जिनका समुद्र घर है। (समुद्रम्) समुद्र को। (प्राप्य) प्राप्त होकर। (अस्तम् गच्छन्ति) दृष्टि से गुप्त हो जाते हैं। (भिद्यते) छूट जाता है। (तासाम्) इन नदियों का। (नामरूप) नाम और रूप। (समुद्र) समुद्र है। (इति)

यह। (एव) इस प्रकार। (प्रोच्यते) कहा जाता है। (एवम्) इस प्रकार से। (एव) है। (अस्य) इसके। (परिद्रष्टुः) इन सबको देखने वाले को। (इमा) यह। (षोड़शकला) यह षोड़श कला। (पुरुषायणा) जिनका पुरुष है घर। (पुरुषम्) पुरुष को। (प्राप्य:) प्राप्त होकर। (अस्तं गच्छन्ति) गुप्त हो जाती हैं। (भिद्यते) छूट जाता है। (तासाम्) उनसे। (नामरूपे) नाम और रूप। (पुरुष) पुरुष है। (इति) यह (एवम) इस प्रकार यह। (प्रोच्यते) कहा जाता है। (स) वह। (एव) यह। (अकलः) कलाओं से पृथक् है। (अमृतः) अमर। (भवति) होता है। (तत्) इस विषय में यह श्लोक प्रमाण है।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि जिस प्रकार यह जो नदियाँ वह रही हैं, जब तक अपने मुख्य स्थान समुद्र तक नहीं पहुँचतीं, तब तो इनका नाम और रूप पृथक्-पृथक् जान पड़ता है; किसी को सतलज कहते हैं, किसी को व्यास, किसी की धार बहुत बड़ी होती है, किसी की छोटी, कोई वेग से गति करती है, कोई धीरे, किसी के किनारे बहुत ऊँचे हैं, किसी के कम, किसी का पानी खारी, किसी का मीठा; परन्तु जिस समय यह सागर में जा मिलती है, तो इनमें जो नामरूप का अन्तर था वह गुप्त हो जाता है। उस समय अतिरिक्त सागर और किसी नाम से उनका उच्चारण नहीं करते। प्रथम सब नाम गुप्त हो जाते हैं और अन्तर-भेद भी मिट जाता है। इसी प्रकार यह षोड़शकला अर्थात् प्राण इन्द्रियाँ और मन इत्यादि जो हैं, इन सब का नियत स्थान पुरुष है। जब तक यह इन्द्रियाँ उस पुरुष को प्राप्त नहीं करतीं, तब तक इनके नाम-काम और रूप पृथक्-पृथक् दृष्टि पड़ते हैं। आँख का कार्य देखना है, आँख की आकृति

नाम और काम से पृथक् है। इसी प्रकार और की दशा है। परन्तु जिस समय समाधि की अवस्था में अपने विषयों को त्यागकर पुरुष को प्राप्त हो जाती हैं, तब तक इनका नामरूप और काम सब छूटकर पुरुष ही रह जाता है। वह पुरुष कला अर्थात् इन्द्रिय आदि से अपनी जाति में पृथक् है। यह सब कला पुरुष का न तो स्वरूप ही है, न इसकी जाति से इनका सम्बन्ध है और वह पुरुष मृत्यु से रहित है। क्योंकि मृत्यु उसकी होती है, जिसका जन्म हो न तो पुरुष का जन्म है, न मृत्यु; यह सब शरीर के धर्म हैं। शरीर ही मरता, शरीर ही जन्मता, शरीर में ही यह कला निवास करती हैं। जब जीवात्मा अपने से बाहर की ओर देखता है, तब अपने को अविद्या से कलाधारी स्वीकार करता है, जिससे मृत्यु आदि के भय में लिप्त रहता है। जब भीतर की ओर देखता है, तब अविद्या नाश हो जाती है और वह कला के अहंकार से मुक्त हो जाता है। इस विषय में उपरोक्त श्लोक प्रमाण है।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥ ६५ ॥

प० क०—(अरा इव रथनाभौ) जिस प्रकार गाड़ी के पहिया की नाभि अर्थात् पुट्ठी में आरे लगे होते हैं। (कला) इसी प्रकार कला। (यस्मिन्) जिस पुरुष में। (प्रतिष्ठिता) स्थापन हैं। (तम्) उसको। (वेद्यम्) जो जानते हैं। (पुरुषम्) जो सर्वत्रव्यापक है। (वेद) जानो। (यथा) जिससे। (मा) मत। (नः) हमको। (मृत्युः) मृत्यु की। (परिव्यथा) महा कष्ट हो। (इति) यह।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि कहते हैं—हे ऋषियो ! जिस प्रकार रथ के पहिये की पुट्ठी में आरे लगे होते हैं, इसी प्रकार जिस पुरुष में सब कला विद्यमान हैं, जिसके बिना कोई कला रह नहीं सकती। इस जानने योग्य परमात्मा को जानो, जिससे मृत्यु के भय से मुक्त होते हैं।

प्रश्न—क्या इस संसार में ब्रह्म जानने योग्य है और कोई वस्तु नहीं ?

उत्तर—निस्सन्देह विद्वानों के विचार में तो केवल ब्रह्म जानने योग्य है; क्योंकि अन्य वस्तुओं के जानने से मृत्यु के कष्ट से बच नहीं सकता। यद्यपि मनुष्य ने प्राकृतिक ज्ञान के द्वारा तोप, बन्दूक, डायनामेट के गोले आदि बहुत से यन्त्र बना लिये, जिससे दूसरों को मार सकें; परन्तु ऐसा कोई यन्त्र नहीं बना, जिससे मनुष्य मृत्यु के भय से बच सके। योरोप-अमेरिका जो प्राकृतिक विज्ञान में विशेष उन्नति कर चुके हैं; वहाँ पर भी कोई भी महाराजा ऐसा नहीं, जिसको मृत्यु का भय न हो। सब के साथ अंग-रक्षक की विद्यमानता बताती है कि वहाँ के राजा मृत्यु के भय से रहित नहीं। एडवर्ड सप्तम जैसे सब से बड़े राजा की मृत्यु प्रकट करती है कि अब तक कोई ऐसा यन्त्र नहीं बना, जिसके द्वारा मृत्यु के भय से बच सकें। अतः जिस प्राकृतिक विज्ञान से मारना तो सरल हो जावे, परन्तु बचाने का कोई यन्त्र न मिले; तो यह ज्ञान अविद्या से शरीर को आत्मा मानने वालों के विचार में तो जानने योग्य हो सकता है; परन्तु जो मनुष्य ज्ञानी हैं, वह केवल ब्रह्म को जानना चाहते हैं, जिससे मृत्यु का दुःख कोई वस्तु ही नहीं रहता, अर्थात् जानने योग्य ब्रह्म ही है; क्योंकि इसके ज्ञान से सब का ज्ञान होना

सम्भव है और दूसरे किसी के ज्ञान से उसका ज्ञान हो नहीं सकता। अतः एक ब्रह्म ही जानने योग्य है।

तान् हो वाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद, नातः परमस्तीति ॥ ७ । ६६ ॥

प० क्र०—(तान्) उन सुकेशादि अपने शिष्यों को अन्तिम परिणाम बताने को। ((होवाच) पिप्पलाद ऋषि ने कहा। (एतावद्) इसी कदर। (एव) है। (अहम्) मैं। (ब्रह्म) परमात्मा को। (वेद) जानता हूँ। (न) नहीं। (अतः) इससे। (परम) अधिक। (अस्ति) है। (इति) यह।

अर्थ—पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशादि अपने शिष्यों से परिणाम निकाल कर कहा कि इतना ब्रह्मज्ञान है कि वह सब से सूक्ष्म, सब से महान् अर्थात् गुण में सब से उच्च है। इससे अधिक और कुछ मैं ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में नहीं जानता और इस विचार से कि और कोई दूसरा जानता हो, तो ब्रह्मज्ञान इससे पृथक् भी होगा। कहा कि इससे परे और कुछ नहीं।

प्रश्न—क्या पिप्पलाद ऋषि के ऐसे कहने से ऐसा परिणाम नहीं निकलता कि उन्होंने ब्रह्मज्ञान की सीमा प्राप्त कर ली, जिसको कोई प्राप्त न कर सके।

उत्तर—जितना जीवात्मा जान सकता है, वह यही है कि ब्रह्मज्ञान अनन्त है, उस ब्रह्म से परे कुछ नहीं। जब इससे परे सब को न होना बता दिया, अपने ज्ञान के होने का भी इससे प्रकाश हो गया, जिससे ब्रह्म का अनन्त होना ही स्थित रहा।

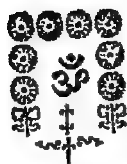
ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥ ८ । ६७ ॥

प० क्र०—(ते) वह। सुकेशादि ऋषि। (तम्) उस पिप्पलाद ऋषि को। (अर्चयन्तः) पूजा करके। (त्वम्) तू है। (नः) हमारा। (पिता गुरु है, तू ही रक्षक है। (यो) जो। (अस्माकं) हमको। (अविद्याया) अविद्या से। (परम्) परे। (पारम्) पार, किनारे। (तारयसि) तैराकर ले जायगा। (इति) यह। (नमः) संस्कार पूजा है। (परमऋषिभ्यः) पूर्ण वेद के जानने वाले को; दोबारा पुस्तक समाप्त होने का चिन्ह है।

अर्थ—सुकेशादि शिष्यों ने पिप्पलाद ऋषि की पूजा करके कहा कि—महाराज! आप ही हमारे गुरु हैं, जो हमको अविद्या के सागर से पार करने की सामर्थ्य रखते हैं। यद्यपि संसार-सागर बहुत ही बड़ा है और अविद्या ने सम्पूर्ण जगत को घेर रक्खा है, परन्तु आपकी कृपा से हमको इस अविद्या से कोई भय नहीं रहा। इसलिए हे वेदों के तत्त्व के पूर्णज्ञानी! तुझको बारम्बार हमारा नमस्कार है। अन्त में पुनर्वार लिखने से ज्ञात हुआ कि यह उपनिषद् समाप्त हो गया।

ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षितेन संशोधितः प्रश्नोपनिषद् भाषा-भाष्यं समाप्तः ॥



मुण्डकोपनिषद्

प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दंच सद्गुरुम् ।
मुण्डकोपनिषत् व्याख्यायां भाव-भाषा विरच्यते ॥

अथ प्रथम मुण्डक—प्रथम खण्ड

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्यकर्त्ता
भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥ १ ॥

प० क्र०—(ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता धर्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त । (देवानां) विद्वानों में । (प्रथमः) प्रथम । (सम्बभूव) भद्र किया उद्‌भूत हुआ । (विश्वस्य) जगत् में धर्म के । (कर्ता) करनेवाले अर्थात् प्रत्येक वर्णाश्रम के नियम बनानेवाले । (भुवनस्य गोप्ता) सर्व प्राणियों की रक्षा का उपदेश-दाता । (स) उसने । (ब्रह्मविद्यां) ब्रह्मविद्या को ।

(सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्) सर्व विद्यानिष्ठात। (अथर्वाय) अथर्व को। (ज्येष्ठ पुत्राय) जो उनका बड़ा बेटा था। (प्राह) उपदेश किया।

अर्थ—सर्व विद्वानों में ब्रह्मा प्रथम कहलाता है अर्थात् ऋषियों से बड़ी पदवी ब्रह्मा की है, क्योंकि चारों वेदों के जानने से ब्रह्मा कहलाता है, जैसा कि गायत्री उपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है। जो प्रथम ब्रह्मा हुआ उसने संसार के अर्थ वर्णाश्रम के विभाग के अनुकूल नियम बनाये और उन नियमों के द्वारा प्रत्येक प्राणी की रक्षा की। उसने सब से ज्येष्ट पुत्र अथर्व नामी को ब्रह्म विद्या का उपदेश किया।

प्रश्न—यह क्यों न माना जावे, सब से प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा पदवी सब से प्रथम क्यों स्वीकार की जावे।

उत्तर—शतपथ, गोपथ और ऐत्तरीय ब्राह्मण में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को परमात्मा का वेद उपदेश करना लिखा है। और गायत्री उपनिषद् मे ब्रह्मा का वेदों से बनना लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा से पूर्व वेद, अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा के द्वारा प्रकाशित हुए। और उन ऋषियों से ब्रह्मा ने पढ़े। और चारों वेदों के जानने से सब से बड़ा अर्थात् प्रथम कहलाया।

प्रश्न—ब्रह्म विद्या का अथर्व से सम्बन्ध क्यों बताया ?

उत्तर—ऋग्, यजुः, सामवेद तो यज्ञ के अर्थ हैं और ब्रह्म विद्या में अथर्व ही काम आता है।

प्रश्न—ब्रह्मा को जगत् का कर्ता क्यों न स्वीकार किया जावे, जैसा कि शब्दार्थ से प्रकट होता है।

उत्तर—ब्रह्मा का संसार में जन्म हुआ, इस लिये संसार में सम्मिलित है। इस कारण यह जगत् कर्त्ता नहीं हो सकता है।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजो अंगिरसे परावराम्॥ २॥

प० क्र०—(अथर्वण) अथर्वण शिष्य को। (यां) जिस ब्रह्म विद्या को। (प्रवदेत) बताया था। (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने। (अथर्वा) अथर्वा ने। (ताम्) उस ब्रह्म विद्या को। (अङ्गिरे) अङ्गिर शिष्य को पढ़ाया। (पुरोवाच) अन्य शिष्यों को भी उपदेश किया। (स) उस अङ्गिर ने। (भारद्वाजाय) भारद्वाज ऋषि गोत्र वाले। (सत्यवाहाय) सत्यवाह शिष्य को। (प्राह) उपदेश किया। (भारद्वाजो) उस भारद्वाज ने। (अङ्गिरसा) अङ्गिरा शिष्य को। (परावराम) दूसरों से प्राप्त की हुई ब्रह्म विद्या को पढ़ाया।

अर्थ—अथर्ववेद से ग्रहण की हुई मुण्डकोपनिषद् नामी ब्रह्मविद्या जो ब्रह्मा ने अथर्वा को पढ़ाई थी, अब उस क्रम को बताते हैं कि अथर्वा ने उसको अङ्गी नाम अपने शिष्य को पढ़ाया। और अङ्गी ने भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवाह ऋषि को पढ़ाया। उसने अङ्गिरस नामी ऋषि को दूसरे गुरुओं से प्राप्त की हुई ब्रह्मविद्या को पढ़ाया। इस इतिहास से ब्रह्मविद्या का अनादि काल से होना सिद्ध होता है। और वर्तमान काल के यूरुपवासी मनुष्य आरम्भ में अविद्या को स्वीकार कर बैठे हैं। इन दोनों में से कौन सत्य है? इसके विषय में किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं; जिसकी साक्षी ईश्वरीय नियम के अनुकूल है। ईश्वर ने प्रथम सूर्य का पूर्ण प्रकाश उत्पन्न किया;

जब वह पूर्ण प्रकाश सायंकाल को छिप गया, तब मनुष्यों ने दीपक जलाये। इससे स्पष्ट है कि पूर्ण प्रकाश पहले उत्पन्न हुआ, अपूर्ण पश्चात् को। अतः परमात्मा ने पूर्ण वेदों की शिक्षा प्रथम दी पश्चात् अन्य प्रकार की अपूर्ण शिक्षा आरम्भ हुई।

शौनकोहि महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ ३॥

प० क्र०—(शौनकः) शौनक ऋषि की संतान। (हि) निश्चय करके। (महाशालो) जिसके भवन बहुत बड़े थे। (अङ्गिरसम) सत्यवाह ऋषि के शिष्य अंगिरस ऋषि के। (विधिवत्) शास्त्र नियमानुकूल। (उपसन्न) पास जाकर। (पप्रच्छ) प्रश्न किया। (कस्मिन्नु) किस हेतु। (भगवो) हे ज्ञाता गुरु। (विज्ञाते) जान लेने से। (इदं सर्वम) यह सब। (विज्ञात) ठीक प्रकार जाना हुआ। (भवति) होता है (इति) यह बताओ।

अर्थ—शौनक ऋषि ने जो बहुत बड़े प्रासाद (भवन) रखता था अङ्गिरस के समीप शास्त्र नियमानुकूल जाकर प्रश्न किया कि हे गुरु महाराज! किसी एक के जानने से यह सब जाना जायगा। तात्पर्य यह है कि किसके जानने से मुझे किसी अन्य के जानने की आवश्यकता न रहेगी। अथवा कोई अन्तिम जानने योग्य वस्तु है, जिसके जानने के पश्चात सब जाना हुआ होगा, किसी के जानने की आवश्यकता न रहेगी। अर्थात् यह प्रश्न ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में है। क्योंकि और ऐसी कोई वस्तु नहीं जो ब्रह्म की भांति सब से महान् और

सब से सूक्ष्म, सब से अधिक आवश्यकीय आनन्ददायक तथा ज्ञानदाता हो। इसके उत्तर में ऋषि कहते हैं।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह्स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवा पराच ॥४॥

प० क्र०—(तस्मै) इस शौनक को। (स) वह अंङ्गिरस (ह उवाच) यह कहने लगे। (द्वेविद्ये) दो विद्या है। (वेदितव्य) जानने योग्य है। (ह्स्म) पुराने इतिहास का स्मरणार्थ कहते हैं। (यत) जो। (ब्रह्मविद) वेद के ज्ञाता विद्वान् लोग। (वदन्ति) कहते हैं। (परा) जो परमात्मा के जानने का मुख्य साधन। (अपराच) जिससे जगत् में धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हो।

अर्थ—अङ्गि ऋषि ने शौनक को उपदेश किया कि इस जगत में जानने योग्य दो प्रकार की विद्या हैं। जिस मे से एक का नाम परा विद्या है, जिससे सब सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। दूसरी अपरा जिससे संसारिक धर्म कर्म और प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान होता है, आगे इसकी व्याख्या करते हैं।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं। निरुक्तं छन्दो ज्योतिष मिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। ५।

प० क्र०—(तत्र) उन दोनों विद्याओं में। (अपरा) अपरा विद्या यह है। (ऋग्वेद) ऋग्वेद। (यजुर्वेदः) यजुर्वेद। (सामवेद) सामवेद। (अथर्ववेदः) अथर्ववेद। (शिक्षा)

शिक्षा वेदांग। (कल्प) कल्प वेद का दूसरा अंग। (व्याकरणं) व्याकरण वेद का तृतीयांग। (निरुक्त) निरुक्त वेद का चतुर्थांग। (छन्द) छंद वेद का पंचमांग। (ज्योतिष) ज्योतिष वेद का षष्ठमांग। (इति) यह वेद और वेदांग अपरा विद्या है। (अथ) इसके पश्चात्। (परा) पर वह विद्या। (यया जिससे। (तदक्षरम्) वह ब्रह्म। (अधिगम्यते) जाना जाता है।

अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के षष्ठाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष यह सब अपरा विद्या में सम्मिलित हैं। और परा उस विद्या को कहते हैं जिससे केवल वह नाश रहित ब्रह्म जाना जाता है।

प्रश्न—क्या वेदों से ब्रह्म नहीं जाना जाता।

उत्तर—वेदों में ब्रह्म का ज्ञान है, परन्तु जब तक वेद को सुनकर उसका मनन युक्ति पूर्वक न किया जावे, और उसमें कहे हुए को मन में स्थित न किया जावे, तब तक ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इस कारण वेद के अर्थ सहित सुनने का नाम अपरा विद्या है। और जो मनुष्य मनन करके निदिध्यासन के द्वारा साक्षात् करते हैं, उनको जो ज्ञान होता है वह परा विद्या है।

प्रश्न—बहुत से वेदों को अपरा विद्या और उपनिषदों को परा विद्या के नाम से पुकारते हैं।

उत्तर—इसमें कोई हानि की बात नहीं, क्योंकि उपनिषद् में भी वेद के साक्षात् करने वाले ऋषियों के उपदेश हैं, जो वेदों के व्याख्यान होने से वेद ही के ज्ञान से उत्पन्न हुए हैं।

यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तद-पाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद-व्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

प० क्र०—(यत) जो। (तत) वह। (अद्रेश्यम्) जो ज्ञानेन्द्रिय से अनुभव नहीं होता। (अग्राह्यम्) जिसको कोई पकड़ नहीं सकता। (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं। (अवर्णम्) जिसका ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है। (अचक्षुः) जिसके नेत्र नहीं। (अश्रोत्रम्) जिसके कान नहीं। (अपाणि-पादम्) जिसके हाथ पाँव नहीं। (नित्यं) जो नित्य है। (विभुं) व्यापक है। (सर्वगतम्) सब के हाल को जानता। (सुसूक्ष्म) जो अत्यन्त सूक्ष्म। (तद) वह। (अव्ययं) नाश और त्रुटि रहित। (या) जो। (भूत योनिम्) सम्पूर्ण जगत् की जड़ चैतन्य सृष्टि का कारण है। (परिपश्यन्ति) जो उस सर्व व्यापक को ध्यान से देखते हैं। (धीराः) बुद्धिमान् धैर्यव्रत मनुष्य।

अर्थ—अब उस परा विद्या से जानने योग्य ब्रह्म का लक्षण करते हैं, जो इन्द्रिय से अनुभव नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियां स्थूल पदार्थ को देखने वाली हैं। वह सूक्ष्म और सर्वव्यापक है, उसका कोई गोत्र और वर्ण नहीं, क्योंकि वह किसी वंश में उत्पन्न नहीं हुआ और न सतोगुण, रजोगुण इत्यादि उसमें आते हैं, जिससे कोई वर्ण कहा जावे। उसके नेत्र नहीं, क्योंकि नेत्र बाहर की वस्तु को देखने को होते हैं। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं, जिसके लिये नेत्र की आवश्यकता हो। उसके कान नहीं, क्योंकि कान भी बाहर का शब्द सुनने के लिये होते हैं और उसके हाथ पांव नहीं क्योंकि यह जाने के लिये होते हैं

वह वहां जावे, जहां पहले से विद्यमान न हो। हाथ उस वस्तु को पकड़ते हैं जो बाहर हो। उसमें बाहर कोई वस्तु नहीं है, वह नित्य है, जिसकी उत्पत्ति और नाश दोनों असम्भव हैं। और सर्वत्र विद्यमान है और सब के हृदय के जानने वाले हैं, उनको कोई साक्षी अथवा वकील आदि धोखे में नहीं डाल सकता वह सब से सूक्ष्म है, उस में किसी दूसरी वस्तु के गुण नहीं आ सकते। यह निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु के भीतर रहते हुए भी उसके प्रभाव से पृथक् हैं। वह नाश रहित है; जो उस सम्पूर्ण जगत् के कारण को ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं वह धैर्यवान् मनुष्य हैं, जो मनुष्य के उद्देश मार्ग को पूर्ण करते हैं। उसके जानने से सब जाने जाते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(यथा) जैसे। (उर्णनाभिः) मकड़ी। (सृजते) जाले को उत्पन्न करती (गृह्णते) जाले को अपने भीतर प्रवेश करती है। (च) और। (यथा) जैसे। (पृथिव्याम्) पृथिवी के भीतर। (औषधम्) औषधि अन्नादि। (सम्भवन्ति) उत्पन्न हो जाते हैं। (यथा) जैसे। (सतः) विद्यमानता से। (पुरुषात) पुरुष से। (केशलोमानि) शिर और शरीर के केश उत्पन्न होते हैं। (यथा) जैसे। (अक्षरात्) नाश रहित परमात्मा से। (सम्भवति) उत्पन्न होता है। (इह) जगत में। ((विश्वम्) सब जगत्।

अर्थ—तीन दृष्टान्त दिये हैं जिससे प्रकट होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति निमित्त कारण से होती है। जो मनुष्य उपादान

कारण और निमित्त-कारण को एक मान कर सृष्टि की उत्पत्ति करना चाहते हैं, उनके पास कोई दृष्टान्त नहीं। प्रथम दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से जाला निकालती है और फिर भीतर ही प्रवेश कर लेती है। इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया में से जगत् को उत्पन्न करता है। माया अर्थात् प्रकृति जगत् का उपादान-कारण और परमात्मा निमित्त-कारण, क्योंकि मकड़ी में शरीर और आत्मा दो होते हैं। यदि एक ही होता, तो मृतक मकड़ी कहीं दृष्टि नहीं पड़ती। द्वितीय दृष्टान्त दिया कि जैसे, भूमि से अन्न उत्पन्न होता है। यहाँ भी बीज और भूमि या पानी और भूमि दो होते हैं। बिना पानी के भूमि से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। तृतीय, जीव की विद्यमानता से शरीर में केश और लोम उत्पन्न होते हैं, यदि अकेले उत्पन्न होते तो मृतक शरीर से उत्पन्न हो जाते, अथवा बिना शरीर के आत्मा में उत्पन्न हो जाते। यही दृष्टान्त है जिनको अद्वैतवादी मनुष्य अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण की व्याख्या करते हुए देते हैं। परन्तु यह उनके मत को सिद्ध नहीं करते, प्रत्युत खण्डन करते हैं। इसी लिये उन्होंने और भी बहुत से वाद एक ही ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये कल्पना करते हैं, परन्तु प्रत्येक निर्बल ही प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा जो नित्य स्वामी और नित्य ही राजा है, उनकी प्रजा का सत्य होना आवश्यकीय है। यदि प्रकृति न हो, तो उनका नाम परमात्मा किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि बिना किसी व्याप्य के जिसमें व्यापक हो सके, व्याप्य कैसे कहला सकते हैं।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥

प० क्र०—(तपसः) परमात्मा के ज्ञान से। (चीयते) महानता है, परमात्मा को जीवात्मा और प्रकृति पर इस महानता के कारण वह। (ब्रह्म) सब से बड़ा कहलाता है। (ततः) उस परमात्मा के ज्ञानानुकूल प्रकृति को क्रिया करने से। (अन्नम्) जो सब को बिना किसी विशेषता के पचाता है अर्थात् प्रकाश रूप अग्नि। (अन्नात्) उस अन्न से। (प्राण) प्राण बनते हैं। (मनः) मन उत्पन्न हुआ। (सत्यं) और उससे सत्य अर्थात् कारण रूप सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए और। (लोक) उससे यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। (कर्मसु) उन से कर्म और कर्म से। (च) और। (अमृतम्) मुक्ति का साधन अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

अर्थ—परमात्मा जब अपने अनन्त ज्ञान से जगत् को उत्पन्न करते हैं, तो कतिपय मनुष्य यह सन्देह करते हैं, कि जिस प्रकृति से जगत् को उत्पन्न किया जाता है और जो जीव उसमें प्रविष्ट होता है, परमात्मा को उन पर महानता क्यों है ? यद्यपि यह प्रश्न मूर्खता को प्रकाशित करता है, क्योंकि शब्द 'क्यों' का प्रयोग उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी नित्य वस्तु पर इस शब्द का प्रयोग किसी प्रकार सम्भव नहीं। यथा कोई कहे अग्नि क्यों उष्ण है, ! प्रकृति क्यों जड़ है, ! जीव क्यों चैतन्य है, ! ईश्वर क्यों नित्य है ! परन्तु इस महत्व का कारण भी ऋषियों ने बता दिया है। वह कहते हैं कि ब्रह्म को दोनों पर महत्व इस कारण है कि वह ज्ञानानुकूल क्रिया देकर जगत् को बनाता है। जड़ प्रकृति को क्रिया देने के कारण और अल्पज्ञ जीवात्मा को ज्ञान देने के कारण वह उन पर महत्व रखता है,। और इसी ज्ञान के महत्व के कारण उसका नाम ब्रह्म है। और इस ज्ञान के अनुकूल प्रकृति को गति देने से आकाश

उत्पन्न हुआ और आकाश से प्राण अर्थात् वायु और अग्नि उत्पन्न हुई और उससे जल, पृथिवी व मन उत्पन्न हुए, उस से सूक्ष्मभूत और उससे पंच तन्मात्रा अर्थात् गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द उत्पन्न हुए, इस से स्थूल शरीर उत्पन्न हुए और उनसे जीव कर्म करने लगे और कर्म से ही अमृत अर्थात् मुक्ति के साधन हो सकते हैं।

प्रश्न—*इस श्रुति में तो अन्न शब्द है, उसका अर्थ आकाश किस प्रकार कर लिया ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण पदार्थों को खा जावे, अथवा जिस को भूत खावें, उसको अन्न कहते हैं। अतः आकाश के बिना कोई भी नहीं रह सकता और आकाश ही सब का नाश करने वाला है। जिस वस्तु में आकाश नहीं, वह ही वस्तु अविनाशी है। इसलिये आकाश अर्थ हो सकता है।

प्रश्न—श्रुति में तप शब्द का अर्थ ज्ञान तथा चेतन्य कैसे हो सकता है।

उत्तर—†श्रुति ने बताया है कि ब्रह्म का तप ज्ञान ही है। वह प्रत्येक वस्तु को ज्ञान से गति देता है। वह सर्वव्यापक स्वयम् क्रिया शील होकर के दूसरों को गति नहीं देता, किन्तु ज्ञान-रूपी तप से ही गति देता है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

प० क्र०—(यः) जो परमात्मा परा विद्या से जाना जाता है। (सर्वज्ञ) जो सर्वज्ञ है। (सर्ववित) जो एक ही समय

* अत्ताचराचर गृहणात्।

† सत्यं ज्ञान मयं तपः।

नें सब को जान रहा है। (यस्य) जिसका। (ज्ञानमयं तपः) जिस का ज्ञान स्वरूप ही तप है। (तस्मात्) इस कारण से परमात्मा से। (एतत्) यह। (ब्रह्म) सब से महान। (नाम) बड़े का नाम। (रूपम्) रूप। (अनाम्) औषधि आदि। (जायते) उत्पन्न होते हैं।

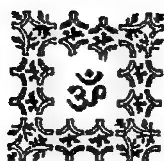
अर्थ—जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों को जानता है, जिसका ज्ञान स्वाभाविक है; जिसको नैमित्तिक ज्ञान कभी होता ही नहीं। क्योंकि जिसका ज्ञान प्रथम न हो, उस का ज्ञान न होने से वह सर्वज्ञ न हो, पहले जिसको न जानता हो उसी को जाने, वह सर्वज्ञ होने से पहले ही से सबको जानता है। और यह नहीं कि किसी को अब जाना और किसी को कल। किन्तु सब को प्रत्येक स्थान पर होने से प्रत्येक समय एक साथ जानता है और इस ज्ञान के महत्व से, उसका नाम ब्रह्म है। और उस से जगत् में नाम, रूप और भोग्य वस्तु उत्पन्न हुई हैं। यदि परमात्मा अपने ज्ञान में से नाम रूप की विद्या न देता, तो जीव उस को किसी प्रकार नहीं जान सकते।

प्रश्न—क्या हम जो कुछ संसार में परिवर्तन देखते हैं कि परमात्मा इनको नहीं जानता ?

उत्तर—जगत् में जो कुछ है, वह सब तीन भागों में है। एक जाति, दूसरे आकृति, तीसरे व्यक्ति यह तीनों पृथक्-पृथक् विद्यमान होती हैं, उत्पन्न नहीं होती हैं। इस लिये परमात्मा इस को पहले से जानते हैं। क्योंकि जाति उस वस्तु का नाम है, जो एक से गुणवाली बहुत सी वस्तु पर ठीक-ठीक प्रयोग हो और वह जाति परमात्मा के ज्ञान में सदा रहती है। क्योंकि उसका चिन्ह आकृति है और आकृति प्रत्येक वस्तु में कर्त्ता

के ज्ञान से आया करती है। जैसे मकान के बनने से पहले शिल्पी उसका चित्र बनाया करता है। मकान में जो आकृति आती है, उस चित्र से आती है, जो मकान के बनने से पहले शिल्पी के ज्ञान में विद्यमान थी। औरशरीर बनने की सामग्री प्रकृति में विद्यमान थी; अतः तीनों वस्तु परमात्मा के ज्ञान में पहले से विद्यमान होती हैं। फिर नवीन कौन सी वस्तु है, जिस का उसे ज्ञान हो।

प्रथम मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।



अथ प्रथम मुण्डक-द्वितीय खण्ड ।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वा पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ । १० ॥

अब द्वितीय खण्ड में परमात्मा के जानने में जो रुकावट अंतःकरण का मलीन होना है, जिसके कारण से मनुष्य परमात्मा के पुरुषार्थ करते हुए सफल नहीं होते । यथा दर्पण के बिना नेत्र और उसमें रहने वाला अंजन दिखाई नहीं देता । परमात्मा ने जीव को अपने स्वरूप और स्वयं को जानने के लिए मन का दर्पण दिया है, जिस को अविद्या से यह जीवात्मा मलीन कर लेता है । और उस मन के मलीन हो जाने से, जीव को न तो अपना ही ज्ञान रहता है, न परमात्मा का । अब उस मन को शुद्ध करने का विधान बताते हैं ।

प० क्र०—(तदेतत्सत्यं) यह बात सत्य है कि प्रत्येक प्रयत्न धर्म वाले जीव को कर्म करना चाहिये, क्योंकि वेद में ईश्वर ने जीव को जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वह हानि नहीं कर सकते । (मंत्रेषु) वेद मन्त्रों में । (कर्माणि)

जितने कर्म। (कवयः) ज्ञानी ऋषियों। (यानि) जो जो। (अपश्यन) देखने अर्थात् योग से मालूम किये। (तानि) उनको। (त्रेतायाम) त्रेतायुग में अथवा तीन गुण वाले जगत में। (बहुधा) बहु प्रकार की व्याख्या के साथ। (सन्त-तानि) शास्त्रों के द्वारा बता कर। (तानि) उनको। (आचरथ) कर्म में लाओ। (नियतं) नियमानुकूल। (सत्यकामा) सत्य की कामना रखने वाले मनुष्यों। (एष) यही। (वः) तुम्हारा (पन्थाः) मार्ग मत है। (सुकृतस्यः) अपने कर्तव्य के पालन का। (लोके) संसार में।

अर्थ—जो मनुष्य सत्य अर्थात् तीन काल में रहने वाले परमात्मा के जानने की इच्छा रखते हों, उनके लिते सन्मार्ग यह है कि अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ सबसे प्रथम ज्ञान के अनुकूल निष्काम कर्म करें। क्योंकि जब तक मन का दर्पण शुद्ध न हो, तब तक जीव को परमात्मा का और अपना ज्ञान हो ही नहीं सकता। और वेद के मन्त्रों में ज्ञानी ऋषियों ने जिन जिन कर्मों को देखा कि यह जीव के अन्तःकरण की शुद्धि के कारण हैं। उन कर्मों को त्रेतायुग में या तीन प्रकार के सत, रज, तम गुण वाले संसार में प्रत्येक अधिकारी की अवस्था के अनुकूल पृथक् पृथक् करके दिखाया। तुम उस वेदोक्त कर्म को करो। क्योंकि बिना उसके तुम्हारी परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा का पूर्ण होना कठिन है। यदि कोई कोई मनुष्य दर्पण को शुद्ध करने का कर्म न करके, दर्पण में से नेत्र और नेत्र के अंजन को देखने का यत्न करे, तो वह देख नहीं सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य बिना निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके परमात्मा को देखना चाहे वह अज्ञानी है।

प्रश्न—कब तक कर्म करना चाहिये ?

उत्तर—जब तक अन्तःकरण प्रत्येक प्रकार के दोषों से शुद्ध न हो जावे।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि अब अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, अथवा नहीं शुद्ध हुआ?

उत्तर—जब तक तीन प्रकार की कामना शेष रहती हैं, तब तक मन अशुद्ध होता है। और जब शुद्ध हो जाता है, तब यह तीन प्रकार की इच्छाएं निवृत्त हो जाती हैं।

प्रश्न—वह तीन प्रकार की कामना कौन सी हैं, जिन के दूर होने से मन निर्मल हो जाता है?

उत्तर—वित्तेषणा, अर्थात् धन की इच्छा, जिस को धन की इच्छा है, उसका मन मलीन है। द्वितीय, पुत्रेषणा अर्थात् संतान की इच्छा। तृतीय, लोकेषणा अर्थात् यश, प्रतिष्ठा और शासन की इच्छा।

प्रश्न—धन की इच्छा क्यों मन के मलीन होने का प्रमाण है?

उत्तर—धन दूसरे को हानि पहुँचा कर ही तो प्राप्त होता है। दूसरे उस से प्रत्येक समय हानि ही होती है। जैसा कि भर्तृहरि जी ने कहा कि प्रथम तो धन के एकत्र करने में ही कष्ट होता है। दूसरे उस के रक्षा करने में ही रात्रि दिवस जागना पड़ता है। तीसरे, व्यय करने में भी विचार होता है कि अधिक व्यय हो गया। चौथे, नाश होने पर तो बहुत ही हानि होती है, सैंकड़ों को उन्मत्त बना देता है।

प्रश्न—लोकेषणा क्यों बुरी है?

उत्तर—उस में भी दूसरे मनुष्यों की स्वतन्त्रता पर ही आघात करना पड़ता है?

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२।११॥

प० क्र०—(यदा) जिस समय। (लेलायते) ठीक प्रकार जल उठे। (हि) निश्चय। (अर्चि) अग्नि की लाट। (समिद्धे) समिधा में प्रवेश कर जावे। (हव्यवाहने) हवन की सामग्री को सूक्ष्म करके उड़ाने वाली अग्नि। (तदा) उस समय। (आज्यभागौ) घी के देने योग्य दो आहुतियों को। (अन्तरेण) अन्तर है। (आहुति) आहुति। (प्रतिपादयेत्) डालता जावे। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (हुतम्) जिस से हवन ठीक हो सके।

अर्थ—अब यज्ञ के लिये जो निष्काम कर्म है, उसका विधान बताते हैं कि जब समिधा में लगी हुई अग्नि भले प्रकार से अग्नि में प्रवेश कर जावे और देवतों को हवन का भाग पहुँचाने वाली अग्नि भले प्रकार प्रचंड हो जावे, घृत की दो आहुतियों के अन्तर से हवन कुण्ड में श्रद्धा से आहुतियाँ डालनी चाहिये।

प्रश्न—यज्ञ को निष्काम कर्म क्यों कहते हैं? क्योंकि वह वायु की शुद्धि के अर्थ किया जाता है?

उत्तर—यज्ञ केवल वायु की शुद्धि के लिये तो विद्वान मनुष्य स्वीकार नहीं करते, किन्तु उससे और भी बहुत लाभ हैं। यथा हम यदि भोजन बाटें, तो सम्भव है अपने मित्रों को दें और शत्रुओं को उससे वंचित रक्खें। परन्तु हवन में जो सामग्री डाली जाती है, उसका प्रभाव प्रत्येक मित्र शत्रु पर

बिना किसी विचार के एक-सा होता है। इस कारण यज्ञ का नाम निष्काम कर्म भी है, जब किसी सांसारिक स्वार्थ से न किया जावे।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासम् चातुर्मास्यमनाग्रायणमतिथिवर्जितञ्च। अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्तमास्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३।१२॥

प० क्र०—(यस्या) जिस गृहस्थी के घर का। (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र। (अदर्शम्) वह यज्ञ जो अमावस्या और एकम् के मिलाप के समय होता है। (अपौर्णमासम्) जो पूर्णमासी में करने वाला यज्ञ नहीं करता। (चातुर्मास्य) वह यज्ञ जो चतुर्मास में किया जाता है, वह नहीं होता। (अनाग्रायणम्) जो शरद ऋतु अर्थात् कातिक के मास में करने वाला यज्ञ नहीं करता। (अतिथि वर्जितम्) जिस घर में अतिथि की प्रतिष्ठा नहीं होती। (अहुतम्) जो समय पर अग्निहोत्र नहीं करता है (अवैश्वदेवम्) जिसके घर में छोटे जीवों के निश्चित का बलिवैश्व देव यज्ञ भी नहीं होता। (अविधिनाहुतम्) जो नियम-विरुद्ध हवन करता है। (आसप्तमान्) सात वर्षों तक। (तस्य) उसके। (लोकान्) लोकों को। (हिनस्ति) नाश करता है।

अर्थ—जिस घर में अग्निहोत्र वर्ष यज्ञ अर्थात् जो यज्ञ अमावस और एकम् के योग पर होता है, पूर्णमासी का यज्ञ और चतुर्मास में करने योग्य शरद ऋतु में करने योग्य यज्ञ नहीं किये जाते। और जिस घर में आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं होता, और जिस घर में अग्निहोत्र काल पर नहीं होता और नियमपूर्वक नहीं करता, और जिस घर में अनियम

अग्निहोत्र किया जाता, उसके सप्तलोक नाश होजाते हैं। इस अवसर पर किसी का विचार तो यह है कि उसकी अगली सात पीढ़ी तक नष्ट हो जाती है परन्तु यह उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि जब दूसरे तीसरे कुल के मनुष्य नष्ट होगये, तो और अगले उत्पन्न ही नहीं होंगे। इसलिये सप्त शब्द ठीक प्रयोग नहीं होता। बहुतेरे कहते हैं कि पहिली सप्त पीढ़ी नष्ट होगईं। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पिछली दो तीन से अधिक जीवित नहीं होतीं। कुछ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि सात पीढ़ी का धर्म नाश होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक के धर्म न करने से दूसरे का धर्म नष्ट नहीं हो सकता। अतः इसका मूल तात्पर्य यह है कि जो नियमों को तोड़ता है, उसके अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती, और अन्तःकरण की शुद्धि न होने से वैराग्य नहीं होता, और वैराग्य न होने से अन्तःकरण की स्थिति नहीं होती, और अन्तःकरण के स्थिर न होने से ईश्वर की उपासना नहीं होती, और ईश्वर की उपासना न होने से दुःख की निवृत्ति नहीं होती और दुःख की निवृत्ति न होने से आनन्द नहीं मिलता। दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति न होने से मुक्ति नहीं होती। (क्योंकि) निष्काम यज्ञ अन्तःकरण की शुद्धि का कारण है और अन्तःकारण की शुद्धि से ही वैराग्य होता है। जिसका मन मलिन है, उसको वैराग्य नहीं हो सकता, और जिसको वैराग्य नहीं, उसका मन स्थिर नहीं हो सकता। जिसका मन स्थिर नहीं उसको ईश्वर की उपासना नहीं, उसको दुःख से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है, और जब बुद्धि दुःख के साथ सम्बन्ध रखती है, तो आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जहाँ दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं, वहाँ मुक्ति कैसी अतः निष्काम कर्म न करने

वाले के यह सात अन्तःकरण की शुद्धि, विराग, अन्तःकरण की स्थिति, ईश्वर की उपासना, दुःख से दूरी, आनन्द की प्राप्ति और मुक्ति नाश होजाती है। अर्थात् यह सप्त लोक नहीं मिल सकते, इनके दर्शन से वञ्चित रहता है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्व रूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४।१३॥

प० क्र०—(काली) जिसका रंग काला है। (कराली) भयङ्कर। (मनोजवा) मन की भांति बहुत ही चंचल। (सुलोहिता या च) ठीक प्रकार लाल रँग वाली। (सुधूम्रवर्णा) शुद्ध धूम्र की भांति जिसका रंग है। (स्फुलिङ्गिनी) जिसमें चिनगारियां निकल रही हैं। (विश्वरूपी) जिसके भीतर सब प्रकार के अङ्ग विद्यमान हैं। (च) और। (देवी) प्रकाश करने वाली। (लेलायमाना) दहकते हुए प्रकाश से युक्त। (इति) यह। (सप्त) सात। (जिह्वा) जिसमें होम करना है, उसकी यह जिह्वा अर्थात् अवस्था है।

अर्थ—जिस समय अग्नि इन सात दशाओं में अर्थात् वेग से जल रही हो। उस समय होम करना चाहिये। एक ओर काला धूम्र निकल रहा हो। दूसरे देखने से भयङ्कर मालूम हो। रक्त वर्ण लाटें निकल रही हों। चारों ओर धूम्र फैलने से आकाश धूम्र वर्ण बना रहे और चिनगारियाँ छोटी-छोटी उठ रही हों। और प्रत्येक वर्ण की प्रकाशकर्त्ता अग्नि देवी प्रकाश कर रही हो। और जिस समय अग्नि प्रकाश होकर इधर उधर लहर मार रही हो, यह सात दशा हैं, जिस

समय अग्नि में होम करना चाहिये। आशय यह है कि बुझी हुई अग्नि में अग्निहोत्र करना ठीक नहीं, किन्तु अच्छी जलती हुई अग्नि में होम करना चाहिये।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५। १४॥

प० क्र०—(एतेषु) उपरोक्त दशाओं में। (यः) जो अग्निहोत्र आदि वेद के अनुकूल करता है। (चरते) अग्निहोत्र करता है। (भ्राजमानेषु) प्रकाश करते हुए हैं। (यथा कालम्) ठीक काल के अनुकूल आहुति देना। (च) और। (आहुतयः) आहुति जो अग्निहोत्र में एक बार सामग्री डालते हैं। (हि) निश्चय करके। (आददायन्) ठीक प्रकार देने वाले। (तन्न) उसको जिसने निष्काम कर्म किया है अर्थात् भूख की इच्छा त्याग कर दूसरों के उपकारार्थ यज्ञ किया है। (नयन्ति) प्राप्त होती या कराती हैं। (एता) यह आहुतियाँ। (सूर्यस्य) सूर्य की। (रश्मयः) किरणों के द्वारा या प्राणवायु के साथ। (यत्र) जहाँ। (देवानां) देवतों का पति। (एकः) एक। (अधिवासः) जो सम्पूर्ण जगत् के निवास का स्थान।

अर्थ—जो मनुष्य इस प्रकार ठीक-ठीक जलती हुई अग्नि में वेद के अनुकूल निष्काम भाव से आहुतियाँ देता ठीक-ठीक कर्म करता है। अर्थात् जिस समय और जिस प्रकार से जो आहुति देनी चाहिये; उसी प्रकार देता है। उसे निष्काम करने वाले को सूर्य की किरणों के साथ मिलकर यह आहुतियाँ देवतों के पति सूर्य या परमात्मा के,

जो एक होकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा और प्रकाश कर रहा है, पहुँचा देती हैं। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य निष्काम यज्ञ करता है, तो उसकी सामग्री की आहुतियाँ सूर्य की किरणों या मेघ आदि में होती हुई संसार को लाभ पहुँचाती हैं। और करने वाले का अन्तःकरण परोपकार कारण शुद्ध हो कर ईश्वर के नियमों के अनुकूल उन्नति करता हुआ एक समय में उस जीव को सम्पूर्ण देवों के देव परमात्मा के दर्शन तक पहुँचा देता है। जिस के भीतर सब जगत् पालन कर रहा, जो सब से बड़ा होने से सब के समीप विद्यमान होने पर भी दूर रहता है।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६। १५॥

प० क०—(एहि एहि) आये हुए इस प्रकार। (इति) यह। (तम्) उस यज्ञ करने वाले। (आहुतयः) वह आहुतियाँ। (सुवर्चसः) उत्तम धर्म से जगत् प्रकाश करने वाली। (सूर्यस्य) सूर्य की। (रश्मिभि) किरणों के द्वारा मृत्यु के पश्चात् (यजमान) यज्ञ करने वाले पुरुष को। (वहन्ति) मुक्ति दशा को प्राप्त कराती हैं। (प्रियाम् वाचम्) मीठी वाणी को। (अभिवदन्त्य) कहती हुई। (अर्चयन्त्यः) पूजा करती हुई या सुख पहुँचाती हुई। (एष) यह। (वः) तुम्हारा। (पुण्य) नेक कर्म। (सुकृतः) भले प्रकार कहा हुआ। (ब्रह्मलोकः) परमेश्वर के दर्शन या ज्ञान का कारण है, जिसके फल में दुख लेशमात्र भी नहीं; सदा सुख ही होता है।

अर्थ—जो कुछ मनुष्य शुभ कर्म करता है, उसकी दो अवस्था होती हैं। एक अवरिष्ट, द्वितीय संस्कार; अवरिष्ट का संस्कार मन में स्थित हो जाता है। और जब उस कर्म के अवरिष्ट फल के भोग का समय आता है, तब वह संस्कार अपने साथी अवरिष्ट को सूर्य की किरणों में जो फैली हुई विद्युत है, उसके द्वारा अपने समीप बुला लेता है। जिस प्रकार संसार में देखा जाता है कि जिस प्रकार का बीज बोया जाता है वह अपने जाति के परमाणुओं को बुला लेता है। जिस प्रकार मिरच का बीज उसी भूमि से कडुवे परमाणु खींच लेता है। उसी प्रकार जिस प्रकार के संस्कार के साथ अवरिष्ट का उदय होता है, वैसा ही संस्कार पहले उदय होता है। जिस भाँति समझदार धर्मात्मा के भीतर से एक प्रकार की आवाज आती है, जो प्रकट करती है कि अब सुख देने वाले कर्मों का उदय होगा। और पापी को पाप का फल उदासी और चिन्ता की अवस्था में आता हुआ देख पड़ता है।

प्रश्न—क्या आहुतियाँ चैतन्य हैं ? जो प्रसन्नता से पुकारती हैं।

उत्तर—पुकारना दो प्रकार से होता है एक वाणी से, द्वितीय इंगित से। ऋषि का तात्पर्य वाणी से है जिस के लिए जड़ चैतन्य की कोई विशेषता नहीं।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ । १६ ॥

प०क्र०—(प्लवा) दुख से युक्त। (हि) निश्चय करके। (एते) यह। (अदृढा) जो आरूढ़ नहीं है। (यज्ञरूपा)

कामना से किये हुये यज्ञादि कर्म। (अष्टदशोक्त) जिसमें अष्टादश यजमान ब्रह्मा और १६ रित्विजों का विधान है, या १७ अङ्ग शरीर के और एक आत्मा १८ की निर्मलता के लिए ज बताये गए। (अवरः) जो इस ओर का है। (येषुकर्म) जिस कर्म से प्रधान है। (एतत्) यह है। (श्रेय) मुक्ति का मार्ग है। (ये) जो। (अभिनन्दन्ति) सब से अन्तिम मार्ग मानकर जो इस पर अभिमान करते हैं। (मूढा) मूर्ख लोग। (जरा) बुढापे। (मृत्यु) मृत्यु को (ते) वह कर्मकाण्डी मनुष्य। (पुनर) फिर (एव) ही। (अभि) भी। (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य इस निष्काम कर्मकाण्ड को जिस का फल दृढ़ और अति सुख का देनेवाला नहीं, किंतु उस का फल सुख दुख युक्त है। जिस यज्ञ में कर्म १८ कराने वाले बताये हैं जो १८ अर्थात् दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, अहंकार और जीव की शुद्धि के लिए किया जाता है। यद्यपि यह कर्म पापों की अपेक्षा तथा न करने की अपेक्षा उत्तम है परन्तु जो मनुष्य इसी को सबसे श्रेष्ठ कर्म मान कर और यह विचार करके कि केवल कर्म से ही मुक्ति हो जावेगी, आगे यत्न नहीं करते, किंतु इस पर प्रसन्न हैं, वह मूर्ख मनुष्य बार बार जन्म मृत्यु प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि निष्काम कर्म का फल पापों से तो उत्तम हैं, परंतु मुक्ति नहीं है और निष्काम कर्म का फल निष्काम से उत्तम है, परन्तु साक्षात मुक्ति का साधन नहीं है।

प्रश्न—क्या कर्म से मुक्ति नहीं होती ?

उत्तर—अकेला कर्म मुक्ति का साधन नहीं किंतु ज्ञान कर्म उपासना से जो विज्ञान प्राप्त होता है वह मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—वेद ने आज्ञा दी है कि जब तक जीता रहे कर्म करता रहे और कर्म बन्धन का हेतु नहीं।

उत्तर—निःसंदेह शत वर्ष तक कर्म करता हुआ जीवे, परन्तु वह कर्म चार प्रकार का है। ब्रह्मचारी का कर्म पढ़ना है, जैसाकि सम्पूर्ण शास्त्रकार स्वीकार करते हैं। गृहस्थ का कर्म यज्ञादि करना है। और वानप्रस्थ का कर्म उपासना करना है। और संन्यास आश्रम में विज्ञान प्राप्त करना है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो इतना ही कहते हैं कि कर्म करने से ही मुक्ति होती है। और कोई कहते हैं, उपासना अर्थात् भक्ति से भी मुक्ति होती है। और कुछ कहते हैं विज्ञान से मुक्ति होती है। इसमें सत्य क्या है?

उत्तर—न तो ज्ञान के विना कर्म से मुक्ति हो सकती है, क्योंकि पाप भी एक प्रकार का कर्म है, वह क्यों पाप है। इसलिये कि ज्ञान उसके विरुद्ध है और न अकेले ज्ञान से मुक्ति हो सकती है। यह सब ही सच्चे हैं, क्योंकि एक मकान में बहुत श्रेणी हैं, प्रत्येक श्रेणी वाला सत्य कहता है कि इस सीढ़ी से चढ़ने के बिना मकान पर नहीं चढ़ सकता। परन्तु अन्तिम श्रेणी विज्ञान की है, उसकी अपेक्षा सब श्रेणियां मार्ग से दूर की हैं और वह मार्ग के समीप की है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥ ८।९७॥

प० क्र०—(अविद्याया) अविद्या मर्थात् मिथ्या कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार के। (अन्तरे) भीतर। (वर्तमानाः)

रात दिवस फँसे हुए। (स्वयं) अपने को । (धीरा) ज्ञानी। (पण्डित) सत् असत् का विचार करने वाले। (मन्यमाना) मानते हुए। (परियन्ति) इधर उधर भागते हैं। (मूढा) मूर्ख मनुष्य । (जंघन्यमाना) नीची अवस्था में गिरते हुए। (अन्धेन) अन्धे के पीछे लगकर । (एव) है। (नीयमाना) अन्धे हैं। (यथा) जैसे। (अन्धः) दूसरा अन्धा।

अर्थ— मूर्ख मनुष्य कर्म में फँसे हुए; और कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार में मतवाले होकर अपने को बुद्धिमान् और पण्डित समझते हुए नीच योनियों में जा गिरते हैं। जैसे अन्धे के पीछे लगकर दूसरा अन्धा भी कूप में जा गिरता है। इसी प्रकार यह मनुष्य भी अविद्या में ग्रसित स्वयं तो गिरते हैं परन्तु दूसरों को अपने साथ कूप में गिराते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मकांड की श्रेणी तो है, जिसको ग्रहण करना और त्यागना अवश्य है। और जो मनुष्य इस सीढ़ी का आश्रय लेकर आगे चलने से रुक जाते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं वह स्वयम् भी गिरते हैं और अपने सहायकों को भी गिराते हैं। जैसे अन्धे के पीछे अन्धा लगकर गिरता है।

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ६ । १८ ॥

प० क्र०—(अविद्यायां) उपरोक्त ज्ञान में। (बहुधा) बहुत तरह पर। (वर्त्तमाना) रहते हुए ना काम करते हुए। (वयं) हम लोग। (कृतार्था) मार्ग पर पहुँच गये। (इति) यह। (अभिमन्यन्ति) अभिमान करते हैं। (बाला) अज्ञानी

लोग। (यत्कर्मिणि) जिस कर्म में फँसे हुए। (न) नहीं। (प्रवेदयन्ते) परमात्मा को नहीं जानते। (रागात्) राग से। (तेन) उससे। (आतुरा) दुखी होकर। (क्षीण लोका) नीच योनियों में। (च्यवन्ते) गिर जाते हैं अर्थात् मनुष्य योनि से गिर कर पशु योनि में प्रवेश करते हैं।

अर्थ—कर्मकाण्ड में फँसे हुए अर्थात् कर्म को ही मुक्ति का साधन मानते हुए हम सफल होगये हैं; ऐसा अभिमान करते हैं, वह अज्ञानी हैं। क्योंकि प्रथम बता चुके हैं कि अकेले कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। जो कर्म करने वाले निष्काम करके अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परमात्मा के ज्ञान तक पहुँच जाते हैं, उनको तो कर्म में अभिमान नहीं होता। जो कर्म के अभिमान से परमात्मा के जानने का प्रयत्न नहीं करते, जिससे उसको आत्मज्ञान नहीं होता। और वह कर्म के राग से दुखी होकर ज्ञान से नीचे की अवस्था अर्थात् जन्म मरण के चक्र में जा गिरते हैं।

प्रश्न—शुभ कर्म करने वालों को भी जन्म लेना पड़ेगा, क्या उनकी मुक्ति नहीं होगी ?

उत्तर—जन्म मरण का कारण पाप पुण्य के फल हैं। और पाप पुण्य का कारण प्रवृत्ति है, अर्थात् शुभाशुभ कर्म में लगना अशुभ काम से पाप और शुभ से पुण्य होता है। और प्रवृत्ति का कारण राग और द्वेष है। जिस में द्वेष होता है, उसके नाश का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग होता है, उसके प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग द्वेष विद्यमान हैं, उसका जन्म होना अवश्य है। जिसका राग नाश हो जावे, उसका जन्म मरण नाश हो सकता है।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं च विशन्ति ॥ १० । १६ ॥

प० क्र०—(इष्टापूर्त्तः) सांसारिक इच्छा से जो काम बावली, कूप, सर, यज्ञ इत्यादि किये जाते हैं। (मन्यमानाः) इनमें सब से बड़े होने का विचार रखने वाला। (वरिष्ठ) इस से अधिक कोई मार्ग ही। (न) नहीं। (अन्यत) दूसरे कोई मुक्ति। (वेदयन्ते) जान ते हैं। (प्रमूढा) अत्यन्त मूढ़। (नाकस्य) जिस देश अथवा अवस्था में दुख नहीं है उस देश या अवस्था के। (पृष्ठे) उस पर पहुंच कर (ते) वह। (सुकृते) शुभ कर्मों का फल। (अनुभूत्वा) अनुभव करके। (इमम्) इस प्रत्यक्ष। (लोकं) शरीर पर, या पृथिवी लोक। (हीनतर) इससे भी अधिक नीच अर्थात् निकृष्ट योनि को। (विशन्ति) प्राप्त होते हैं।

अर्थ—मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मोहित होकर केवल संसारिक सुखों के वास्ते ही या संसार में यश, मान और प्रभुत्व प्राप्त करने के अर्थ बहुत से वैदिक कर्म अर्थात् कूप, तालाब, मन्दिर बनवाना अथवा यज्ञ, दान करना इत्यादि कर्मों में फँसकर ऐसा विचार करते हैं कि इनसे उत्तम कोई कर्म नहीं, न अन्य कोई मुक्ति है। जो कुछ है यही कर्म और इसका फल सुख ही है, उनसे अच्छा कर्म और सुख कोई नहीं। वह मनुष्य उस शुभ कर्म का फल किसी ऐसे स्थान पर भोगकर जहां दुख न हो अथवा ऐसे जन्म में जाकर जहां सुख के कारण सब विद्यामान हों। कर्मों का फल समाप्त करके या तो उसी मनुष्य योनि में आ जाता है, अथवा उससे भी किसी

नीच योनि में पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि सकाम कर्म का फल सुख भोग कर फिर कर्मों के अनुकूल किसी जन्म में आना होगा।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्यात्मा ॥ ११ । २० ॥

प० क्र०—(तपः) स्वाध्याय और सत्य से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और चान्द्रायन इत्यादि व्रतों में जो कष्ट होता है उसका नाम तप है। (श्रद्धे) नित्य कर्म में श्रद्धा करता है। (या) जो। (हि) निश्चय करके। (उपवसन्ति) इन्द्रियां और मन को रोक कर वास करने। (आरण्य) जंगल में। (शान्ता) जिसके मन की वृत्तियाँ शान्ति हों। (विद्वांस) जो ज्ञान से युक्त हो। (भैक्षचर्या) जो भीख माँग कर ही अपना निर्वाह करता हो। (चरन्तः) उससे जीवन व्यतीत करते हैं। (सूर्यद्वारेण) सूर्य या वेद के अनुकूल कर्म उपासना ज्ञान के द्वारा सुखमा नाड़ी के प्राण त्यागने से। (ते) वह। (विरजा) मैल से छूटे। (प्रयान्ति) प्राप्त होते हैं अथवा पहुँचते हैं। (यत्र) जहाँ। (अमृत) मुक्ति अथवा परमात्मा है। (पुरुष) संसार या शरीर अपने। (हि) निश्चय करके (अव्ययः) नाश से रहित। (आत्मा) सर्वव्यापक परमात्मा है।

अर्थ—जो मनुष्य तप अर्थात् सत्य बोलने, प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व को समझने, इन्द्रियों के विषयों से रोकने, शीतोष्ण भूख प्यास और मानापमान के सहने में जो कष्ट होता है, धर्म में श्रद्धा से उसके लिये पुरुषार्थ करते हुए मग्न रहते हैं और शान्त चित्त होकर आत्मज्ञान के सम्बन्ध, विद्या को जानने

वाले भीख मांग कर भोजन करने वाले और सूर्य के द्वारा अर्थात् सुखसा नाड़ी में प्राण त्याग कर फल से पृथक् होने के कारण से उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ अमृत है; अर्थात् मुक्ति अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। और जो पुरुष अर्थात् परमात्मा नाश रहित और सब के भीतर विद्यमान है जो सब का आत्मा होने से सब से सूक्ष्म है, वह उस आत्मा के दर्शन से आनन्द भोगते हैं।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥२१॥

प० क्र०—(परीक्ष्य) इस उत्पन्न होने और नाश होने वाले शरीर की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विचार कर के। (लोकान्) संसार या शरीर को। (कर्मचितान्) जो पाप और पुण्य कर्म के फल भोगने के लिये मिले हैं। (ब्राह्मण) वेद के जानने वाला अथवा ईश्वर का पूर्ण विश्वासी (निर्वेदम्) संसार के भोग से उदास होकर। (आयात्) प्राप्त करने। (नास्ति) नहीं है। (अकृत) किये हुए से पृथक् (कृतेन) कर्म के फल भोग से। (तत्) उस के। (विज्ञानार्थ) परमात्मा के ठीक प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये। (स) वह। (जिज्ञासु) (गुरुमेव) गुरु के पास भी। (अभिगच्छेत्) जावे। (समित्पाणि) हाथ में समिधा लेकर वह गुरु कैसा हो जिस के पास जावे। (श्रोत्रियं) जिस ने वेद के द्वारा ब्रह्मज्ञान को सुना भी हो। (ब्रह्मनिष्ठम्) जिस का विचार उसमें स्थिर भी हो।

अर्थ—ब्राह्मण इस जगत् के सम्पूर्ण भोगों को जो उत्पन्न होने और नाश होने के कारण से दुख ही देने वाले हैं। उन से

मन को राग द्वेष से पृथक् और ऐसी अवस्था में यह विचार करके कि यह शरीर और इस के भोग कर्म से प्राप्त और कर्म का फल समाप्त होने पर नाश हो जावेंगे। क्योंकि यह नित्य रहने वाले नहीं। उस दशा में कर्म फल के विचार को को पृथक् करके उस परमात्मा के जानने के लिये ऐसे गुरु के पास जिसने नियम पूर्वक वेद से ब्रह्म को सुना हो और उस को मनन निदिध्यासन कर के साक्षात् भी कर लिया हो, हाथ में समिधा ले कर जावे।

प्रश्न—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम में वेद-विद्या पढ़ ली हो, उसको गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जब वेद पढ़ते हैं तब श्रवण होता है। जब उसको मनन करते हैं तो बहुत सी शंका उत्पन्न होती हैं। जब निदिध्यासन करते हैं तो बहुत बाधा उत्पन्न होती हैं। इस का उपाय अतिरिक्त ब्रह्म को साक्षात् करने वाले गुरु के और से नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में जो गुरु होता है वह शब्द ब्रह्म का ज्ञान कराता है अर्थात् वेद को पढ़ाता है। और संन्यास आश्रम में जो गुरु होता है, वह ब्रह्म के दर्शन कराता है।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांतचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १२। २२॥

प० क्र०—(तस्मै) उस ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ब्राह्मण। (स) वह। (विद्वान्) ज्ञान वाला आचार्य। (उपसन्नाय) पास आए हुए को। (सम्यक्) ठीक प्रकार। (प्रशान्तचित्ताय) जिस का चित्त भोग की इच्छा से नितान्त उज्ज्वल

हो गया है। (येन) जिस प्रकार से। (अक्षरम्) नाश रहित। (पुरुषं) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में रहने वाले परमात्मा को। (वेद) जाने, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सब प्रकार से हो जावे। (सत्यम्) नित्य रहने वाले अनादि। (प्रोवाचं) उपदेश करके बतावे। (तत्त्वतः) तत्त्व के साथ जिस प्रकार की है उसी प्रकार बतावे। (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म के जानने के साधनों और उस के स्वरूप को जिसका नाम ब्रह्मविद्या है।

अर्थ—जब श्रद्धा से पूर्ण ब्रह्मविद्या का अधिकारी जिसने तप से अन्तःकरण से मल दोष को दूर कर लिया हो। जिसने ब्रह्मचर्य से अपने भीतर इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न कर लिया हो, जिससे ब्रह्मज्ञान के उपदेश समझ सके। जिसने योग के अष्टाङ्ग के अभ्यास से या वैराग्य के द्वारा मन स्थिर कर लिया हो। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष न रही हो। जिसका केवल आवरण ही शेष रहा हो। इस प्रकार के ब्रह्मविद्या के समीप आये हुए अधिकारी को वह ज्ञानी आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

प्रश्न—इस बन्धन की क्या आवश्यकता है, जो उपदेश सुनने आये, उपदेश करे?

उत्तर—यदि वैद्य सब रोगियों को एक ही औषधि देने लगे और उनके अधिकार का विचार न करे, तो लाभ के स्थान में हानि अधिक होगी। इसलिये जिसको शिक्षा की आवश्यकता है, उसे शिक्षा दे। और जिसे कर्मकाण्ड के उपदेश की आवश्यकता है, उसे कर्मकाण्ड का उपदेश करे, जिससे उसका मन शुद्ध हो जावे। जिस मन के स्थिर करने के लिये योग के अभ्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता है, उसे उसका उपदेश करे जो ठीक ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे।

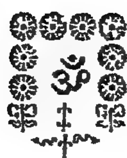
प्रश्न—ब्रह्मज्ञान के अधिकारी सब हैं; देखो जिसको उपदेश मिला है सब ही अपने को ब्रह्म बताते हैं।

उत्तर—यह ब्रह्मज्ञान नहीं, किन्तु तोते की भाँति बिना समझे रटना है। जैसे एक आदमी ने तोते को सिखा दिया "गंगाराम नालकी पर नहीं बैठता"। तोता वह शब्द सीख गया। एक दिन "नालकी" पर जा बैठा और कहने लगा "गंगाराम नालकी पर नहीं बैठता। इसी प्रकार आजकल के ब्रह्मज्ञानी हैं।

प्रश्न—बताया जाता है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार सब को है। कोई इस जन्म में साधन करते हैं, कोई पूर्व जन्म में कर चुके हैं।

उत्तर—साधन करता हुआ देखने की आवश्यकता नहीं किन्तु साधनों से युक्त देखने की आवश्यकता है। अतः साधन किये हुए पुरुषों के जो लक्षण हैं, जिसमें वह पाए जावें उसको उपदेश करे। चाहे इस जन्म में साधन किये हों, चाहे पहले जन्म में, लक्षण दोनों में विद्यमान होंगे। जिस अधिकारी में लक्षण पाए जावें उसको उपदेश करना चाहिये, प्रत्येक को नहीं।

प्रथम मुण्डक का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।



अथ द्वितीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

तदेतत्सत्यं—यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः। सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षरात् पुरुषः सौम्य? भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥ २३ ॥

प० क्र०—(तत्) उस कारण के विचार। (एतत्) यह बात। (सत्यम्) ठीक है। (यथा) जैसे भले प्रकार जलती हुई। (पावकात्) अग्नि से। (विस्फुलिंग) चिनगारियाँ। (सहस्रशः) अनन्त सहस्रों लक्षों। (प्रभवन्ते) उत्पन्न होते हैं। (सरूपा) उपादान कारण के अनुकूल। (तथा) ऐसे ही। (अक्षरात) नाश रहित कारण प्रकृति से। (पुरुषः) यह सम्पूर्ण शरीर हाथ पांव वाले। (सौम्य) शान्ति स्वरूप जिज्ञासु। (भावा) यह सब चैतन्य जीव जो दृष्टि पड़ते हैं। (प्रजायन्ते) उत्पन्न होती हैं। (तत्र) उसमें। (च एव) और भी। (अपियन्ति) प्रवेश हो जाती हैं।

अर्थ—इस दृष्टांत से मालूम होता है यह अक्षर शब्द नाश रहित प्रकृति के लिये प्रयोग हुआ है। इसमें तो किसी को संदेह नहीं कि जिस प्रकार भले प्रकार प्रज्वलित अग्नि

से चारों तरफ चिनगारियां फैलती हैं अथवा उत्पन्न होतो हैं ऐसे ही इस कारण प्रकृति से प्रत्येक शरीर और अन्य की सत्ता प्रकाशित होती हैं, और नाश होकर उसी में प्रविष्ट हो जाती है।

प्रश्न—अक्षर से यहां पर प्रकृति क्यों मानी, परमात्मा क्यों न माना ?

उत्तर—दृष्टांत उपादान कारण का है जिससे स्पष्ट है कि उपादान कारण प्रकृति लेना चाहिये। दूसरे सरूपा* शब्द आया है जो प्रकृति से ही सम्बन्ध बताता है, जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में दिखाया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार करलें तो क्या हानि होगी ?

उत्तर—ब्रह्म चैतन्य है, उसको उपादान कारण मान कर कोई जड़ वस्तु संसार मे दृष्टि न आवेगी। ब्रह्म सुख स्वरूप है, उसके उपादान कारण होने पर संसार में कोई दुःखी नहीं रहेगा। निदान सम्पूर्ण शास्त्र, वेद और उपनिषद व्यर्थ हो जावेंगे। क्योकि जब एक ही चैतन्य से बनी है, तो ज्ञान का कोई कारण ही न होगा।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥२।२४॥

प० क्र०—(दिव्यः) वह परमात्मा जो इस जगत् का बनाने वाला है प्रकाश स्वरूप है। (हि) निश्चय करके। (अमूर्तः) मूर्ति से रहित। (पुरुषः) वह सब में व्यापक

---

* अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
—अनुवादक

परमात्मा है। (स) वह। (बाह्यभ्यन्तर) वह बाहर और भीतर दोनों ओर विद्यमान है। (हि) निश्चय करके। (अजः) अजन्मा। (अप्राणः) प्राण रहित। (हि) निश्चय करके। (अमनः) मन से रहित। (शुभ्रो) शुद्ध है। (हि) निश्चय करके। (अक्षरात्) नाश रहित प्रकृति। (परतः) जो परे है। (परः) उससे भी परे परमात्मा है।

अर्थ—परमात्मा जो प्रकृति से जगत् बनाता है, प्रकाश स्वरूप है और निश्चय करके अमूर्त्त है। उसकी कोई मूर्त्ति अथवा आकृति नहीं और बाहर भीतर सब जगह विद्यमान है। सबसे बड़ा होके सबसे बाहर और सूक्ष्म होने के कारण सब में व्यापक और अजन्मा है और सर्व व्यापक है और निश्चय करके कारण प्रकृति जो नाश रहित है तथा सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्मवह परमात्मा है। इस मन्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि न तो परमात्मा की कोई मूर्त्ति हो सकती है, क्योंकि मूर्त्ति उसे कहते हैं जिसके अवयव जड़ हों और परस्पर मिले हुए हों। अतः जिसकी मूर्ति है वह संयोगी तथा जड़ है। परमात्मा नित्य और चैतन्य है वह न तो स्थूल हो सकते हैं और न जड़, क्योंकि सँयुक्त वस्तु उत्पन्न होने वाली होती है। निदान परमात्मा को मूर्तिमान नहीं कह सकते। निस्संदेह प्रत्येक मूर्ति का स्वामी होने से उसे मूर्तिमान कह सकते हैं। परन्तु उसका अपना शरीर या मूर्ति कोई नहीं।

एतस्मात् जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापपृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३।२५॥

प० क्र०—(एतस्मात) इस परमात्मा से जिनका वर्णन उपरोक्त हुआ। (जायते) उत्पन्न हुई हैं। (प्राणः) प्राण।

(मनः) मन अर्थात—अन्तःकरण (सर्वेन्द्रियाणि) सर्व इंद्रियाँ (च) और। (खम्) आकाश। (वायु) वायु। (ज्योति; अग्नि (आपः) जल। (पृथवी) भूमि। (विश्वस्य) सब जगत के चराचर। (धारिणी) धारण करने वाली।

अर्थ—परमात्मा के इन्द्रियाँ क्यों नहीं, इसके लिए बताते हैं कि उस परमात्मा की शक्ति से यह सब प्राण और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। और उसी से आकाश वायु अग्नि जल उत्पन्न हुए हैं। उसी से सम्पूर्ण जगत को धारण करनेवाले पृथिवी उत्पन्न हुई। जब कि परमात्मा से यह सब उत्पन्न हुये हैं तो परमात्मा नित्य है नित्य में उत्पन्न होने वाले गुण कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा की भी इन्द्रियाँ स्वीकार की जावे, तो वह इन्द्रियाँ उत्पन्न वाली होने से किसी दूसरे उत्पादक करने वाले के आधीन होंगी। यदि इसके उत्पन्न करने वाला कोई इन्द्रिय वाला होगा, तो उसकी इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होने वाली होंगी, उनके उत्पन्न करने वाला और कोई होना चाहिये, इस कारण क्रम दोष लग जायगा।

प्रश्न—यदि नित्य मे अनित्य के गुण नहीं आ सकते, तो जीव को इन्द्रियों की क्या आवश्यकता हुई ? क्योंकि जीव भी नित्य ही है।

उत्तर—जीव एक देशी है, उसको अपनी सीमा के बाहर की वस्तुओं के देखने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है। और ज्ञान जो बाहर की वस्तुओं का होता है उसके संस्कार मन पर होते हैं। और जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण अपने में विचारता है।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ।६२ ॥

प० क्र०—(अग्निः) अग्नि । (मूर्द्धा) उसके सिर के समान है, जिस प्रकार सिर सब से उत्तम है, इसी प्रकार सतोगुणी सिर का काम देती है अथवा जिस प्रकार हम मुख में दांतों से चबाकर सूक्ष्म करते हैं, परमात्मा अग्नि से पुरुष को परमाणु रूप में ले जाते है। (चक्षुषी) इस विराट, के नेत्र के स्थान में। (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्र और सूर्य हैं । (दिशा) में दिशा जो आकाश में है। (श्रोत्रे) वह श्रवण का काम देती हैं। (वाग) उसकी वाणी के स्थान में जिससे उपदेश करता है। (विवृतः) फैला हुआ। (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद हैं, जिस प्रकार वाणी से उपदेश करते हैं, परमात्मा वेदों के द्वारा उपदेश करते हैं, परमात्मा की वाणी के काम वेद से निकलते हैं। (वायु) पवन। (प्राणा) परमात्मा के प्राणों का काम देती है। (हृदयम्) परमात्मा के रोहे के स्थान में। (विश्वम्) जगत्। (अस्य) उसकी है । (पद्भ्यां) पांव के स्थान में। (पृथिवी) भूमि है। (हि) निश्चय करके। (एष) वह परमात्मा। (सर्वभूतन्तरात्मा) सम्पूर्ण भूतों के भीतर व्यापक होनेवाला आत्मा है।

अर्थ—अब उस परमात्मा का विराट रूप में उपदेश करते हैं कि अग्नि उसके मुख का काम देती है। और नेत्रों का काम सूर्य और चन्द्रमा देते हैं। और कानों का काम अकाश में रहनेवाली दिशाएं देती है। और उसकी वाणी का काम वेद देते हैं; जैसे वाणी से जो कुछ उपदेश किया जाता है, वे उपदेश

का काम परमात्मा वेदों से लेते हैं। और वायु प्राणों का काम देती है। और हृदय का काम सम्पूर्ण जगत् देता है। और - का काम पृथिवी देती है; वह इन सब के भीतर रहने वाला परमात्मा है जिस प्रकार शरीर के भीतर नियमपूर्वक हरकत होने से जीवात्मा के होने का प्रमाण मिलता है; इसी प्रकार संसार का नियम पूर्वक क्रियावान होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो स्वयं कोई भी विकार कर सके, सब विकार परमात्मा के नियम से होते हैं। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर रहकर उसको नियम से चला रहा है।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिंचति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५।२७ ॥

प० क्र०—(तस्मात्) परमात्मा से। (अग्निः) स्थूल दशा में। (समिधा) चलने की क्रिया वाली। (यस्य) जिसका। (सूर्य) सूर्य है। (सोमात्) चन्द्रमा का अग्नि से। (पर्जन्यः) वर्षा बरसने वाला मेघ होता है और। (ओषधयः) वर्षा से जो अन्न और सम्पूर्ण औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (पृथिव्याम्) जब वह मेघ बरस कर पृथिवी पर गिरता है। (पुमान्) मनुष्य। (रेतः) वीर्य को। (सिञ्चति) सींचता है। (योषितायां) स्त्री के भीतर। (बह्वी प्रजा) बहु प्रकार की प्रजा। (पुरुषात्) पुरुष परमात्मा से। (सम्प्रसूता) उत्पन्न हुई है।

अर्थ—उससे अग्नि स्थूल दशा में जिसको उभारने वाला सूर्य है उत्पन्न हुआ। क्योंकि अग्नि जो शरीर, इन्द्रिय और

त्रिपय रूप से तीन प्रकार की हुई, वह परमात्मा के कारण से हुई। और चन्द्र में रहने वाली अग्नि से, वायु लगने से एकत्र होकर बरसने वाले मेघ उत्पन्न हुए। और जब मेघ पृथिवी पर गिरे, तो उसके गिरने से जो वर्षा हुई, उससे औषधियाँ अर्थात् अन्न उत्पन्न हुआ। और अन्न के खाने से मनुष्य में वीर्य उत्पन्न हुआ, जब वह वीर्य पुरुष से स्त्री में पहुँचा, तो ऋतुदान के द्वारा बहु प्रकार की प्रजा हो गई। प्रयोजन यह कि जो संसार में क्रिया नियम से हो रही है और जो कुछ प्रबन्ध चल रहा है, वह सब का सब परमात्मा की दी हुई गति से चल रहा है।

प्रश्न—क्या परमात्मा क्रियावान है? जो दूसरे को गति दे रहा है।

उत्तर—सर्वव्यापक परमात्मा किस प्रकार क्रिया कर सकता है। क्योंकि एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने का नाम क्रिया है। परमात्मा कहाँ नहीं जो उस स्थान से दूसरे स्थान पर जावे। वह स्वयम् क्रिया नहीं करता, परन्तु दूसरों को क्रिया दे सकता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव है कि अचल वस्तु दूसरी वस्तु को चला सके?

उत्तर—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर स्वयम् अचल होता हुआ लोहे को गति दे सकता है; इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं अचल होता हुआ दूसरी वस्तुओं को चला सकता है।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६। २८॥

प० क्र०—(तस्मात्) उस परमात्मा से । (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र उत्पन्न हुए । (साम) उसी से सामवेद उत्पन्न हुआ । (यजूंषि) यजुर्वेद । (दीक्षा) ब्रह्मचर्याश्रम के धारण करने पर जो उपदेश दिया जाता है और जो चिन्ह नियत किये जाते हैं । (यज्ञाः) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध जितने यज्ञ हैं । (च) और । (क्रतवः) दूसरी प्रकार के यज्ञादि कर्म । (दक्षिणा) जो यज्ञ करने वालों को दक्षिणा मिलती है अथवा जो कर्म का फल है वह भी दक्षिणा ही है । (च) और । (यजमान) यज्ञ कर्म करने वाले । (सम्वतसरम्) रात, दिन, मास, वर्ष आदि समय के भाग । (च) और । (पवने) प्रकाश करे । (यत्र) जहाँ । (सूर्यः) सूर्य प्रकाश करे । (सोम) चन्द्र प्रकाश करे ।

अर्थ—अब बताते हैं कि कर्म करता हुआ किस प्रकार कर्म के अभिमान से बचा रहे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद सब परमात्मा ने ही बनाये हैं । और यज्ञ की सामग्री और यज्ञ के नियम और यज्ञ में दक्षिणा देने वाली वस्तुएँ यह सब उस परमात्मा ने बनाई हैं । रात्रि दिवस और यज्ञ करने में जिन स्थानों को चन्द्रमा प्रकाश करता है, जिनको सूर्य प्रकाश करता है वह सब ही परमात्मा की बनाई हुई हैं । उनमें कौनसी वस्तुयें हैं, जिनको मैं अपनी समझ कर अभिमान करूँ । निदान ऐसा विचार करके जब यज्ञ करता है, तो केवल अपने कर्त्तव्य को जो परमात्मा ने नियत कर दिया है, पूर्ण करता है, वह अभिमान से बच रहता है ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ । २६ ॥

प० क्र०—(तस्मात्) उसी जगत् कर्त्ता परमात्मा के बनाने से। (देवा) देव ऋषि लोक जो बिना माता-पिता आदि संसार में उत्पन्न होता है। (बहुधा) बहु प्रकार के। (सम्प्रसूता) उत्पन्न हुए हैं। (साध्या) इसी जन्म में उन्नति प्राप्त करने योग्य दूसरी प्रकार के देवता। (मनुष्या) सामान्य बुद्धि वाले। (पशव) पशु। (व्यांसि) पक्षी। (प्राणापानौ) प्राणापानादि वायु। (व्रीहियवौ) अग्निहोत्र करने योग्य चावल यव। (तपः) शरीर के दर्शन के लिये परिश्रम। (श्रद्धा) श्रद्धा जो शुभ काम और विद्वानों के भीतर एक प्रकार की आदर की दृष्टि होती है। (सत्यं) आत्मज्ञान के अनुकूल कहना। (ब्रह्मचर्य) वेद के नियमानुकूल इन्द्रियों का रोकना। (विधिश्च) कि इस प्रकार करो, ऐसा मत करो।

अर्थ—उसी परमात्मा से आदि संसार में बहु प्रकार के देव, ऋषि जो बिना माता-पिता के उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से वह ऋषि जो इसी जन्म के कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं, उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से सर्व मनुष्य साधारण बुद्धि रखने वाले उत्पन्न हुए और परमात्मा ने चराचर पशु पक्षी इत्यादि जीव उत्पन्न किये, उसी परमात्मा से प्राण अपान इत्यादि अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से तप करने की शक्ति मनुष्यों को प्राप्त हुई, उसके उपदेश से श्रद्धा उत्पन्न हुई, उसने ही संसार में सत्यव्रत का अभ्यास दिया, उसी ने ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का वेद द्वारा उपदेश किया और उसी ने प्रत्येक संकलन विकलन की आज्ञा जीवों को देकर इस योग्य बनाया कि वह अपने जीवन को ठीक प्रकार चला सकें। जब सब कुछ परमात्मा ने दिया है, तो वह कौन सी वस्तु है जिस पर हम अभिमान करें। वह मनुष्य मूर्ख है, जो संसार में दूसरों को

नीच समझते हैं। वह मनुष्य मूर्ख है, जो कर्म पर अभिमान करते हैं। सबसे अधिक वह मनुष्य मूर्ख है, जो अपने को दूसरों से उत्तम विचार करते हैं। जिसमें जो कुछ गुण है वह परमात्मा से है और जो कुछ दोष है, वह प्रकृति के संग से। जीव तो व्यर्थ अभिमान करने वाला है।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ ८। ३०॥

प० क्र०—(सप्त प्राण) सात प्राण सिर में वास करने वाले, नेत्र में वास करने वाले, कान में वास करने वाले दो, नाक में दो, मुख में एक। (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) उस परमात्मा से। (सप्तार्चिषः) सात प्रकार की किरणें जो सात प्रकार के पृथक् पृथक् देशों को प्रकाश करती हैं। (समिधः) इस अग्नि को उभारने वाली समिधा। (सप्तहोमा) सात प्रकार के विषयों के ग्रहण वाली शक्ति। (सप्त) सात। (इमे) प्रत्यक्ष। (लोका) देखने का कारण अथवा जो दृष्टि पड़ते हैं शरीर मन में। (चरन्ति) क्रिया करते हैं। (प्राणः) प्राण। (गुहाशया) जो सोते समय अन्तःकरण के भीतर स्थिर होते हैं। (निहिता) स्थिर रहते हुए। सप्त (सप्त) सात सात।

अर्थ—ज्ञानेन्द्रियाँ और उसमें काम करने की शक्ति देने वाले सात प्राण और उनकी सहायक शक्तियाँ और कुल प्रबन्ध जो इस शरीर के भीतर स्थित है, जिससे ज्ञानेन्द्रियां और उनकी प्रकाश शक्तियाँ और उनके सहायक सब परमात्मा ने ही बनाये हैं।

प्रश्न—सात प्राणों से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सिर के भीतर जो ज्ञानेन्द्रियों के सात छिद्र हैं, उनको सहायता देने वाली जो प्राण-शक्ति है, वह सात छिद्रों से सम्बन्ध रखते हुए सात प्राण कहलाते हैं।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

प० क्र०—(अतः) उस परमात्मा से। (समुद्रा) सम्पूर्ण समुद्र। (गिरयः) समस्त पहाड़। (सर्वे) सब। (अस्मात्) उस परमात्मा से। (स्यन्दन्ते) वह रहे हैं। (सिंधवः) समस्त नद्यादि। (सर्वरूपा) उत्तर से दक्षिण को जाने वाली, पूर्व से पच्छिम को जाने वाली, पच्छिम से पूर्व को जाने वाली, दक्षिण से उत्तर को जाने वाली। (अतः) उस परमात्मा से। (च) और। (सर्वा) सब। (ओषधय) औषधि अन्न इत्यादि। (रसश्च) सम्पूर्ण रस। (येन) जिससे। (एव) वह परमात्मा। (भूतै) पंचभूतों से बने हुए अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि से। (तिष्ठते) शरीर में स्थित होता है। (हि) निश्चय करके। (अन्तरात्मा) जो शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा है।

अर्थ—उस परमात्मा ने ही सम्पूर्ण समुद्र जो संसार को घेरे हुए हैं, इसी लोक के नहीं, किंतु जितने नक्षत्र ब्रह्माण्ड में हैं उनमें जितने समुद्र हैं, पहाड़ हैं और जितने वहने वाले (नद) नदी हैं, चाहे वह उत्तर से दक्षिण को जाने वाले हों अथवा दक्षिण से उत्तर को, चाहें पच्छिम से पूर्व को और

पूर्व से पच्छिम को सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं। और उसी परमात्मा से प्रत्येक प्रकार का अन्न और औषधियाँ उत्पन्न हुई। और उसी से भीतर जितने रस उत्पन्न होते हैं जिससे अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि शरीर के भाग बने हैं, यह सब उसी परमात्मा से बने हैं, जिस शरीर के भीतर आत्मा रहता है, यह सब परमात्मा ने ही बनाया है। जिस देश में रहता है, वह देश भी परमात्मा ने ही बनाया है। जिस महाद्वीप में हैं वह परमात्मा ने ही बनाया है, जिस भूमि पर वास करते हैं, वह परमात्मा ने ही बनाई है। जिस ब्रह्माण्ड के बहुत छोटे भाग हैं, हमारी भूमि है, वह सब परमात्मा ने ही बनाई है। पहाड़ और समुद्र उसी ने बनाए हैं। भला उससे पृथक् होकर जीव कहाँ शांति पा सकता है।

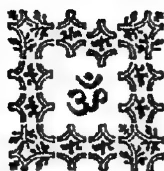
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(पुरुषः) परमात्मा से। (एव) ही। (इदं) यह। (विश्वं) जगत्। (कर्म) जो कुछ क्रिया की जाती। (तपः) ज्ञान। (ब्रह्म) वेद। (परामृतम्) महान अमृत अर्थात्, नाश रहित। (एतद्) इस बात को। (यो) जो मनुष्य। (वेद) जानता है। (निहितं) स्थित होकर। (गुहायां) भीतर आधे आकाश में। (सः) वह मनुष्य। (अविद्या ग्रंथिम्) उलटे ज्ञान की ग्रंथि को जिससे जीव बंधा हुआ है। (विकिरति) काट डालता है। (इहि) इस संसार में। (सौम्य) हे प्रिय पुत्र !

अर्थ—यह सब जगत् परमात्मा के रहने का स्थान है, इसके भीतर बाहर परमात्मा ही है। जो कुछ कर्म और ज्ञान है, वह सब उस परमात्मा का ही है, जो आदमी के आकाश में उनको स्थित करके इस बात को जान जाता है, वह अविद्या की गांठ को जिससे यह जीव बन्धा है, काट कर मुक्त हो जाता है जब तक परमात्मा के स्वरूप में इस सारे जगत् को और जगत् में परमात्मा के स्वरूप को नहीं देखता। जैसे घड़े के भीतर आकाश और आकश के भीतर घड़ा है। ऐसे ही सब स्थान में परमात्मा व्यापक है।

इति द्वितीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्तः।





अथ तृतीय मुण्डक-द्वितीय खण्ड।

अविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्सर्मपितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १। २२॥

प० क्र०—(अविः) जो योगी और ज्ञानी मनुष्यों के शुद्ध और स्थिर मन में प्रकाश होता है। (सन्नहितं) जो सर्वदा उनको निकट ही मालूम होता है। (गुहाचरत) जो ज्ञानियों की बुद्धि में स्थित होता है। (नाम) प्रसिद्ध है। (महत्) सब से वड़ा। (पदम्) जो प्राप्त होने योग्य। (अत्र) उस अपने अन्तःकरण में मिलने वाले ब्रह्म में। (एतत्) यह मन। समर्पितम् ठीक प्रकार लगाया हुआ। (राजत्) कांपने वाले। (प्राणात्) प्राणों के द्वारा मनुष्य और पशु इत्यादि। (निमिपत) प्राण की चाल से शून्य मृत्यु अवस्था को पहुँचा हुआ। (च) और दूसरे अन्य जीव पत्थर वृक्ष इत्यादि। (असत्) जो संसारी मनुष्यों को सुख मालूम हो। (वरेण्यं) ग्रहण करने या जानने योग्य। (परम्) सब से सूक्ष्म। (विज्ञनाद्) प्राकृत पदार्थों के ज्ञान से। (यत्) जो (वरिष्ठम्) बहुत ही उच्च है। (प्रजानाम) मनुष्यों के लिये।

अर्थ—जिस ब्रह्म की शक्ति से यह जगत् उत्पन्न होता और स्थित रहता व नाश होता है, यद्यपि वह सब से बड़ा है, तो भी उसका प्रकाश साफ और स्थित मन में योगियों को मालूम होता है जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब सब देश में पड़ता है, परन्तु जहाँ निर्मल जल या साफ शीशा हो वहीं दृष्टि आता है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है; परन्तु उसका प्रकाश योगियों और ज्ञानियों के हृदय में होता है, अज्ञानी पुरुष सहस्रों जन्म यत्न करने पर उसको नहीं जान सकते, जैसे नेत्र में अँजन होता है, तो जिसके हाथ में साफ और सुथरा शीशा हो और प्रकाश में खड़ा हो- तो वह प्रत्येक स्थान पर नेत्र में अँजन को देख सकता है, परन्तु जिसके हाथ में शीशा नहीं और जो अँधेरे में खड़े हैं, या शीशा मैला बहुत हिल रहा है, वह सम्पूर्ण संसार में घूम कर भी सुरमा को नहीं देख सकता। प्रयोजन यह है कि ब्रह्म यदि दृष्टि पड़ता है तो योगियों की बुद्धि में दृष्टि आता है और किसी जगह जीवन भर खोज करने से नहीं मिल सकता। दूसरा कोई सुख चाहे वह सांसारिक पदार्थों के प्राप्त होने से हो, चाहे प्रकृति पदार्थों के चमत्कार से प्राप्त हो, किसी दशा में उस सुख के सामने नहीं आ सकता जो सुख परमात्मा के दर्शन से प्राप्त होता है वह चक्रवर्ती राज्य और सांसारिक प्रत्येक सुख से करोड़ों अरबों गुणा उत्तम है। उसके सामने सब सुख तुच्छ हैं। जो इस बात को जानता है, उसको कोई कष्ट हो ही नहीं सकता।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिँल्लोका निहिताः लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतंतद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥२/२४॥

प० क्र०—(यदर्चिमतः) जो प्रकाशक का भी प्रकाश है। (यत्) जो (अणुभ्योऽणु) सूक्ष्म से सूक्ष्म है। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (लोका) दृष्टि आने वाले पृथिवी, चन्द्र, सूर्य इत्यादि। (निहिता) स्थित है। (लोकिनः) जो मनुष्यों में रहने वाले मनुष्य और पशु इत्यादि हैं। (च) और (तत्) वह। (एतत्) यह। (अक्षरं) नाश रहित। (ब्रह्म) परमात्मा है। (स) वही ब्रह्म। (प्राणः) सब जगत के प्राण हैं जो। (तत्) वह है। (वाक्) वाणी। (मनः) मन है। (तत्) वह। (एतत्) यह एक रहने वाला है। (तत) वह। (अमृतम्) अमृत। (तत्) वह (वोद्धव्यम्) मन से जानने योग्य। (सौम्य) प्यारे पुत्र। (विद्धि) समझ ले।

अर्थ—जो प्रकाश करने वालों को भी प्रकाश करता है, जो परमात्मा सूक्ष्म में भी सूक्ष्म छोटे से छोटा है। जिसमें सम्पूर्ण पृथिवी चन्द्रमा सूर्य इत्यादि लोक और उन लोकों में वास करनेवाले मनुष्य पशु स्थित हैं वही नाश रहित ब्रह्म सब से बड़ा और सब में व्यापक परमात्मा है। वह सम्पूर्ण जगत् के प्राणों का प्राण और वाणी की वाणी और मन का मन है, और वही तीन काल एक सा रहनेवाला और मौत के भय से निर्भय नित्य मुक्त है अर्थात् अमृत है, और वही लक्ष्य है जिस पर काम करने की आवश्यकता है इस बात को प्रिय पुत्र इस प्रकार जान ले।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥२।३॥

प० क्र०—(धनु) कमान जिससे बाण चलाया जाता है। (गृहीत्वा) पकड़ कर। (ओपनिषद्) जो उपनिषदों में। अर्थात् ब्रह्मविद्या की पुस्तकों में दिखाया है। (महास्त्रं) जो बहुत बड़ा अस्त्र है। (शरम्) बाण। (हि) निश्चय करके। (उपास) जो ब्रह्म और जीव में जो ज्ञान की दूरी इसको ध्यान से दूर करके। (निशितम्) तेज करके। (संधयीत) ठीक लक्ष्य ताक कर। (आयम्य) इस कमान को खींचकर। (तद्भावगतेन) ब्रह्म की भावना से युक्त। (चेतसा) मन के द्वारा (लक्ष्य) लक्ष। (तत्) वह। (एतत्) है। (अक्षरं) नाश रहित। (सोम्य) प्रिय शिष्य। (विद्धि) जान।

अर्थ—उपनिषद् का बताया हुआ धनुष हाथ में पकड़ कर जो बहुत बड़ा शस्त्र है, उसमें उपासना के बाण अच्छे पैने करके रक्खो, और इस धनुष को खींच कर ब्रह्म के प्रेम में मग्न हुए मन के साथ इस लक्ष पर जो अक्षर ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है, ठीक-ठीक आगे लिखे हुए विधान पर लक्ष्य वेध करो। हे प्रिय शिष्य ! इस नियम को समझो।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४।२६॥

प० क्र०—(प्रणव) ओंकार यह एक। (धनुः) धनु है। (शर) शर। (आत्मा) आत्मा है। (अप्रमत्तेन) आलस को त्याग और सावधान होकर। (वेद्धव्यँ) इस बाण को निशाना पर लगाना चाहिये। (शरवत्) तीर की भांति। (तन्मयः) अपने विचार को बना कर। (भवेत्) हो जावे।

अर्थ—ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सबसे बड़ा कहाता है, वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और

जिस लक्ष पर बाण लगाना है, वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है, अर्थात् ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिये कि बहुत ही सावधानी से, क्योंकि असावधानी से यह बाण नहीं लग सकता किंतु, आलस को त्याग, अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिये। जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण सीधा लक्ष की ओर जाता है। बीच में इधर उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिये, इधर उधर नहीं भटकना चाहिये ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे। जैसे परमात्मा सत्चित् आनन्द है, इसी प्रकार जीव भी आनन्द प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जावे। क्योंकि सत्चित् तो आत्मा पूर्व से ही है, आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ। अतः जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जावेगा।

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म बन सकता है ?

उत्तर—जो बनता है वह ब्रह्म कहला ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म नहीं बनता, किन्तु उसमें ब्रह्मरूपता अर्थात् ब्र जैसे गुण विद्यमान् हो जाते हैं।*

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म की भांति सर्वव्यापक हो जाता है

उत्तर—नहीं केवल ब्रह्म का आनन्द गुण मिल जाने से सत्चित्, जीवात्मा ब्रह्मरूप कहलाता है, ब्रह्म नहीं। जैसे लोहा

---

* समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपिणां।

—अनुवादक

अग्नि में गर्म होकर लाल हो जाता है, उस समय लोहा अग्नि रूप तो हो जाता है, परन्तु अग्नि नहीं होता। इसी प्रकार जीव में आनन्द के आ जाने से सच्चिदानन्द हो जाता है, परन्तु सर्वव्यापक इत्यादि गुण नहीं आते; केवल आनन्द गुण आता है।

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः॥

प० क०—(अस्मिन्) परमात्मा के भीतर। (द्यौः) सूर्य, चन्द्र, सब लोक अर्थात् ग्रह। (पृथिवी) भूमि। (अन्तरिक्षं) जिसके सहारे वायु और मेघ रहते हैं अर्थात् आकाश। (ओतम्) जिस प्रकार माला की गुरियों में तागा होता है, ऐसे पिरोया हुआ। (मनः) मन। (सह प्राणै) सम्पूर्ण प्राणों के साथ। (च) और। (सर्वै) सब इन्द्रियों इत्यादि के। (तम्) उस। (एव) ही। (एक) एक को। (जानथ) पुरुषार्थ करके साधनों के द्वारा से जानो। (आत्मानम्) एक परमात्मा है। (अन्य) दूसरे। (वाचः) वाणी। (विमुञ्चथ) नितान्त त्याग दो। (अमृतस्य) मुक्ति का। (एष) ही। (सेतु) फल है।

अर्थ—जिस परमात्मा में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे इत्यादि समस्त लोक रहते हैं, जिसके भीतर आकाश रहता है। प्रयोजन यह है जो पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, तारे, आकाश इत्यादि के योग से भी बड़ा है और जिस में सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ प्राण पिरोये हुए हैं, जिस प्रकार तागे में माला के मन के; हम

उस एक को पुरुषार्थ करके जानें। क्योंकि वे आत्मा ही संसार में सागर से पार उतारने के लिये पुल हैं। जो इस आत्मा को नहीं जानता, वह दुःखसागर से कभी पार नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं। शीत को दूर करने के लिये अतिरिक्त गरमी के दूसरा उपाय नहीं; प्रकृति जड़ अर्थात् परतन्त्र होने से दुःख स्वरूप ही है, जिसमें दुःख ही है, उस से दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है। जीवात्मा दुख-सुख दोनों से पृथक् है, वह स्वभाविक सुखी है, न दुखी। इसलिये जीवात्मा से दुख दूर होना भी सम्भव नहीं, केवल परमात्मा ही आनन्द स्वरूप है, उन्हीं से दुख छूट सकता है। इसलिये परमात्मा को जानने के अतिरिक्त और सब बातों को त्याग दो।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥२।२।६॥

प० क्र०—(अरा इव) जैसे पुट्ठियाँ पहिये की। (रथनाभौ) गाड़ी के पहिया की वेदी में इधर-उधर लगी होती हैं। (संहता यत्र नाड्यः) मिली हैं इसी प्रकार नाभि चक्र में सम्पूर्ण नाड़ियाँ। (स) वह परमात्मा। (एष) इन के। (अन्तश्चरते) इन सब के भीतर विद्यमान है। (बहुधा जायमानः) बहुत तरह से प्रकाशित होता है अर्थात् योग, विराग ज्ञान और मुक्ति से प्रकाश होने वाला। (ओमित्येवम्) ओ३म् इस शब्द के द्वारा से है। (ध्यायथ) ध्यान करते हुए। (आत्मानम्) जो तुम

जगत् में व्यापक है। (स्वस्ति) जो कल्याण स्वरूप है अथवा जिसके ज्ञान से ही कल्याण अर्थात् सुख और शान्ति होती है। (वा) तुम को। (पाराय) दुख के समुद्र से पार करने के लिये। (तमसः) अज्ञान और अन्धकार से। (परस्तात्) जो पृथक् है जिसको कभी अविद्या और अज्ञान हो नहीं सकता।

अर्थ—जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में पुट्ठियाँ लगी हुइ होती हैं, ऐसे शरीर के भीतर रोहे के आकाश में सम्पूर्ण नाड़ियाँ एक स्थान पर मिल रही हैं। इस स्थान पर योगी पुरुष परमात्मा को योग, वैराग्य और ज्ञान से मन को स्थिर करके उस परमात्मा के स्वरूप को अनुभव करते हैं। उसके ध्यान का विधान यही है कि उसको ओ३म् इस अक्षर के द्वारा जो परमात्मा का सब से बड़ा नाम है, शब्द का उच्चारण और अर्थ के विचार करने से करे। वह ओ३म् तुम्हारे लिये कल्याणकारी दुःख और भय से छुड़ा कर, सुख और शांति और निर्भयता को देने वाला होगा, और उसके जप और विचार से ध्यान करके तुम इस दुःखों के समुद्र से पार जा सकोगे। क्योंकि उस परमात्मा के भीतर किसी प्रकार की अविद्या और अंधकार नहीं। जो स्वयम् अविद्या और अज्ञान से से बचा है, वही तुमको गिरने से बचा सकता है। जो प्रकृति अज्ञान स्वरूप है और जो जीव अल्पज्ञ होने से अविद्या के चक्कर में आने वाला है, उसके संग से तुम इस अविद्या से पार नहीं हो सकते। किन्तु उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा की उपासना से ही अविद्या से पार होंगे।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः

प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ । ३६ ॥

प० क्र०—(यः) जो। (सर्वज्ञ) सब के जानने वाला। (सर्ववित्) सब को जानता है। (यस्य) जिसकी। (एष) यह। (महिमा) महानता बड़ाई। (भुवि) इस पृथिवी पर। (दिव्ये) शुद्ध आकाश में। (ब्रह्मपुरे) ब्रह्माण्ड जो रोह जिस में समाधि अवस्था में जीव स्थित होता है। (हि) निश्चय कर के। (एष) यह। (व्योम्नि) आकाश में। (आत्मा) सर्व व्यापक। (प्रतिष्ठितः) स्थित है। (मनोमयः) जिस प्रकार की मन की अवस्था हो वैसा ही दृष्टि आने वाला। (प्राण) प्राण जो इन्द्रियों को चलाते हैं। (शरीर) शरीर। (नेत्रः) इनको नियम से चलाने वाला। (प्रतिष्ठितः) स्थित रहता है। (अन्ने) भोजन के कारण से। (हृदयं) रोह में जो आकाश है। (सन्निधाय) उसके सहारे रह कर। (तद्विज्ञानेन) उस के ठीक प्रकार जानने से। (परिपश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं या सब स्थान पर देखते हैं। (धीरा) विद्वान् लोग। (आनन्दरूप) आनन्द स्वरूप। (अमृतम्) जो किसी समय में भी न मरे। (यत) जो। (विभाति) जो प्रकाश करता।

अर्थ—जो परमात्मा सब के जानने वाला है। जो एक ही काल सबको जानता। जिसकी यह महिमा पृथिवी पर प्रकाशित है। जिसकी महिमा में किसी प्रकार का दोष नहीं। जो रोहे कमल में अथवा ब्रह्माण्ड के छिद्र में दृष्टि आता है। जो आकाश में व्यापक होकर स्थित है। जो जीवात्मा मन की अवस्था के अनुकूल अपनी दशा को अनुभव

करता है। जो शरीर और प्राणों को प्रबन्ध में चलाने वाला है। जो प्राण भोजन से स्थित रहते हैं। जो रोहे में स्थित हो कर उस परमात्मा के ठीक-ठीक जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य, उस आनन्द स्वरूप अमृत रूप को जो सब पदार्थों को प्रकाश कराता है, उसको प्रत्येक ओर विद्यमान देखने में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उस से न बनी हो। कोई काम करने वाली शक्ति नहीं, जो उसकी सहायता के बिना काम कर सकती हो। जो कुछ संसार में काम हो रहा है, वह उस परमात्मा की महिमा को प्रकाश कराता है, और आकाश के भीतर सूर्य चन्द्र और तारे काम कर रहे हैं, वह सब उस परमात्मा के नियम में चल रहे हैं। ब्रह्माण्ड के भीतर कोई वस्तु नहीं जो इस के नियम को तोड़ सके। इस की आज्ञा को उल्लंघन कर के कोई दंड से बच नहीं सकता। कोई बड़े से बड़ा महाराजा ऐसा नहीं कि जो उसके वारण्ट मृत्यु को एक मिनट के लिए रोक सके। चालीस चालीस लाख सेना रखते हुए तोपें और बन्दूकें, गढ़ और भवन उस के नियम से स्वतन्त्र नहीं रह सकते। कोई शक्ति नहीं जो उस के दंड से बचा सके।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया। क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥ ४० ॥

प० क्र०—(भिद्यते) टूट जाती है रोहे की गांठि अर्थात् सूक्ष्म शरीर से वियोग हो जाता है। जन्म-मरण में तो सूक्ष्म शरीर से साथ रहता है, परन्तु उस दशा में पृथक् हो जाता है। (छिद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं, टूट जाते हैं। (सर्वसंशयाः) सब प्रकार के संदेह नष्ट हो जाते हैं। (च) और (अस्य) उस ब्रह्मज्ञानी के। (कर्माणि) सब कर्म। (तस्मिन्) उस

अवस्था में। (दृष्टे) जब साक्षात् देख लेता है । (परावरे) जो इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य नहीं है।

अर्थ—जब कोई पुरुष इन्द्रियों से अनुभव न होने योग्य परमात्मा को भीतरी ज्ञान चक्षु से देख लेता है, तब उसके रोहे की गांठ अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है । सब संदेहों का सम्बन्ध मन से है और मन का सूक्ष्म शरीर से। जब सूक्ष्म शरीर ही न रहा, तो मन कहां ? जब मन ही नहीं तो उसमें उत्पन्न होनेवाले संदेह कहां ? अतः सम्पूर्ण संदेह दूर हो जाते हैं। और जब मन ही नहीं रहा, जिसमें सब कर्मों के संस्कार रहते हैं, तो उस में रहनेवाले कर्म किस प्रकार रह सकते हैं ? उस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानी होने पर नष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर—जब तक कर्मों का अभिमान बना है, तब तब ब्रह्मज्ञानी या मुक्ति हो ही नहीं सकती। जब मुक्ति होती है, तब कोई कर्म शेष नहीं रहता। जैसे जब दीवाला निकल जावे, तब लेने और देने दोनों की समाप्ति हो जाती है।

प्रश्न—क्या कारण है कि मुक्ति की दशा में कर्म की समाप्ति मानी जावे।

उत्तर—कर्म के संस्कार मन में रहते हैं और मन सूक्ष्म शरीर में मिला है, इसलिये जब सूक्ष्म शरीर और मन नहीं रहेंगे, तब कर्म किस प्रकार रह सकते हैं।

प्रश्न—बहुतसे मनुष्य कर्म को अनादि मानते हैं। जब वह अनादि हैं, तो उनका मुक्ति में नाश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जीव में कर्म करने की शक्ति अनादि है। और कर्म पूर्व ही से अनादि हैं। जैसे रात और दिन, सृष्टि और प्रलय, क्रम से अनादि हैं, स्वरूप से नहीं।

प्रश्न—क्या सूक्ष्म शरीर मुक्ति में नही रहता?

उत्तर—जब कि सूक्ष्म शरीर प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो मुक्ति में किस प्रकार साथ रह सकता है। मुक्ति में जीव के साथ नित्य पदार्थ रहते हैं; अनित्य पदार्थ नहीं रह सकते।

प्रश्न—यदि मुक्ति में सूक्ष्म शरीर की विद्यमानता स्वीकार की जावे, तो क्या दोष होगा?

उत्तर—उस दशा में सूक्ष्म शरीर नित्य हो जावेगा और जो सूक्ष्म शरीर का उत्पन्न होना शास्त्रों में लिखा है, वह अशुद्ध हो जावेगा।

प्रश्न—यदि सूक्ष्म शरीर को अनादि और नित्य स्वीकार कर लें, तो क्या हानि होगी?

उत्तर—प्रथम तीन के स्थान में चार अनादि हो जावेंगे। दूसरे सूक्ष्म शरीर का जो लक्षण किया है, वह अशुद्ध हो जावेगा।

हिरण्यंमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो-विदुः ॥९।४१॥

प० क्र०—(हिरण्यमये) विज्ञानमय कोष है। (परे) अगले कोष में। (विरजं) सम्पूर्ण प्रकार के मल से पृथक्। (ब्रह्म) परमात्मा विद्यमान है (निष्कलम्) जिस परमात्म के प्राण, मन इत्यादि कोई कला नहीं। (तत्) वह परमात्मा (शुभ्रम्) शुद्ध है। (ज्योतिषां ज्योति) सम्पूर्ण सूर्यादि का भी प्रकश करने वाला है, सूर्यादि सब ही प्रकाशक उसकी शक्ति प्रकाश

से प्रकाश हैं। (तत्) वह परमात्मा। (यत्) जिसको। (आत्मविद्ः) आत्मा को जानने वाले। (विदुः) जानते हैं।

अर्थ—इस शरीर में पाँच कोष अर्थात् एक अन्नमय कोष, दूसरा प्राणमय कोष तीसरा मनोमय कोष, चौथा विज्ञानमय कोष पंचम आनन्दमय कोष। निदान विज्ञानमय कोष से परला जो आनन्दमय कोष है उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है जिस पर किसी प्रकार का आवरण नहीं। संसार में जो ब्रह्म को देखते हैं, वह प्रकृति के आवरण से ढँपा हुआ है परन्तु आनन्दमय कोष के भीतर इस आवरण से शून्य दृष्टि पड़ता है वह परमात्मा शुद्ध है और परमात्मा प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करने वाला है। उसको वही मनुष्य जानते हैं, जो जीव को जानते हैं; जिसको जीव के तत्व का ज्ञान नहीं, उसको परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। जो मनुष्य अपनी आँख को नहीं देख सकता, वह नेत्र के सुरमा को किस प्रकार देख सकता है। अतः वही मनुष्य परमात्मा को जान सकते हैं, जो प्रथम जीवात्मा को जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या जीव और ब्रह्म एक है? जीव के जानने से ब्रह्म का ज्ञान होगा?

उत्तर—जीव ब्रह्म एक नहीं, किन्तु जिस प्रकार नेत्र और सुरमा दो वस्तु हैं, परन्तु उनमें इस प्रकार का सम्बन्ध है कि जो नेत्र को देखता है, वह नेत्र के सुरमा को देखता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त मनुभाति सर्वंतस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१०।४२॥

प० क्र०—(न) नहीं । (तत्र) आनन्दमय कोष के भीतर । (सूर्यः) सूर्य । (भाति) प्रकाशकर्ता । (न) नहीं । (चन्द्रतारकं) यह भी उस स्थान में चन्द्र, तारे प्रकाश करते हैं । (न) नहीं । (इमे विद्युतः) यह विद्युत जो नेत्र को चकाचौंध करती है । (भांति) वहाँ प्रकाश करती । (कुतः) कहाँ । (अयम्) यह । (अग्निः) अग्नि । (तमेव) उसके । (भांतम्) प्रकाश करने से । (अनुभाति) पीछे प्रकाश करते हैं । (सर्वं तस्य) सब उनसे । (भासा) प्रकाश से । (सर्वम्) सबके सब । (इदं) यह । (विभाति) प्रकाश करते हैं ।

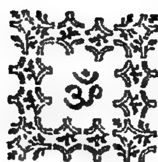
अर्थ—उस आनन्दमय कोष में जहाँ ब्रह्म के दर्शन करते हैं, यह सूर्य प्रकाश नहीं करता । जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जुगुनू प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे ही जहाँ उस परमात्मा की चमक नहीं वहाँ चन्द्र तारे, उस स्थान में प्रकाश नहीं करते हैं । और न नेत्रों को चकाचौंध करने वाली विद्युत उस स्थान में प्रकाश कर सकती है । और जहाँ चन्द, सूर्य, तारे और विद्युत प्रकाश न कर सकें तो वहाँ उस अग्नि के लैम्प और दीपक किस प्रकार प्रकाश कर सकते हैं । उस परमात्मा के प्रकाश से ही सारे प्रकाशित हुए हैं, परमात्मा के प्रकाश देने के अतिरिक्त बिजली में प्रकाश करने की शक्ति नहीं । जिस प्रकार चंद्र और तारे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, ऐसे ही सूर्य भी परमात्मा के प्रकाश को लेकर प्रकाश करता है । यदि परमात्मा अपनी शक्ति से परमाणुओं को संयोग गुण देकर इस दशा में न लावें, तो कभी सूर्य, चन्द्र और तारे का कहीं नाम भी सुनाई न दे । अतः जो कुछ जगत् में प्रकाश करने वाली वस्तु हैं,वह उस सर्वव्यापक ब्रह्म के प्रकाश को लेकर ही प्रकाश कर सकती हैं ।

ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चचोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥४३॥

प० क्र०—(ब्रह्म) परमात्मा । (एव) है । (इदम्) प्रत्यक्ष तौर पर । (अमृतम्) नाश रहित । (पुरस्तात्) सामने ब्रह्म है अर्थात् पूर्व की ओर । (ब्रह्म) परमात्मा । (पश्चाद्) पीछे की ओर । (ब्रह्म) परमात्मा है । (दक्षिणतः) दक्षिण की ओर । (उत्तरेण) उत्तर । (च) और । (अधः) नीचे की ओर । (ऊर्ध्वम्) ऊपर की ओर । (प्रसृतं) सब से अधिक फैला हुआ, सब से बड़ा । (ब्रह्म) परमात्मा है । (एव) है । (इदम्) प्रत्यक्ष । (विश्वम्) जगत् में फैला हुआ । (इदम्) प्रत्यक्ष । (वरिष्ठम्) सब से उत्तम ब्रह्म ही है ।

अर्थ—यह जगत् में अविनाशी रूप से विराज रहा है । यह ब्रह्म ही आगे की ओर जहां देखें, उधर ब्रह्म है; पीछे की ओर देखें, तो वह ब्रह्म ही है; यदि दक्षिण की ओर देखे, तो वहां ब्रह्म बांई ओर देखें, वहां भी ब्रह्म है, ऊपर की ओर, नीचे की ओर; निदान दशों दिशाओं में फैला हुआ ब्रह्म है । जितनी वस्तुयें हैं वह एक दूसरे की अपेक्षा बड़ी फैली हुई हैं, परन्तु ब्रह्म सब से बड़ा और सब से अधिक फैला हुआ है ।

इति द्वितीय मुण्डक का द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ ।



अथ तृतीय मुण्डक—प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ १।४४॥

प० क्र०—(द्वा) दो अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा। (सुपर्णा) जिनका मालूम होना बहुत ही प्रशंसनीय है, जो देखने योग्य पक्षी अर्थात् चैतन्य है। (सयुजा) जो कभी भी पृथक् नहीं होते, जिनका नित्य सम्बन्ध बना हुआ ही रहता है, जो परस्पर बहुत गुणों में अनुकूल होने से मित्र है। (समानम्) एक है। (वृक्षम्) जो वृक्ष की भांति नष्ट होने वाला जड़ शरीर है अथवा प्रकृति जिसके बहुत अवयव हैं। (परिषस्वजाते) जो वृक्ष के प्रत्येक भाग में व्यापक है। (तयो) उन दोनों में से। (अन्यः) एक जीवात्मा। (पिप्पलम्) उस वृक्ष के फल को। (स्वाद्रु) और यह समझ कर। (अत्ति) खाता है। (अनश्नन्न) दूसरा। उसके फलों को यह खाता हुआ। (अभिचाकशीति) वह उसको देखता है।

अर्थ—इस शरीर रूपी वृक्ष में अथवा प्रकृति में दो पक्षी चैतन्य अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रहते हैं, जो सदा पर-

स्पर मिले हुए हैं। कभी पृथक् हो ही नहीं सकते। क्योंकि जीव के भीतर ईश्वर व्यापक है, जो सर्व व्यापक होने से जीव से कभी पृथक् नहीं हो सकता। जहाँ जीव जाता है, वहीं ईश्वर उसके भीतर विद्यमान होता है। और चैतन्य होने से इन दोनों में मित्रता है अर्थात् जीव को परमात्मा से ही सुख मिलता है। क्योंकि समान गुण वाले के संग से ही उन्नति हुआ करती है। इनमें से जीवात्मा तो उस प्रकृति अथवा शरीर के शुभाशुभ कर्मों के फलों को उत्तम समझ कर भोगता है, परन्तु ईश्वर साथी होकर देखता है, वह कर्मों का फल भोगता हैं।

प्रश्न—प्रकृति को वृक्ष के साथ क्यों उपमा दी और जीव ब्रह्म को पक्षी के साथ ?

उत्तर—वृक्ष जड़ है, इस लिये जड़ प्रकृति के साथ उपमा दी। और पक्षी चैतन्य है, जिसको जीव और ब्रह्म के साथ उपमा दी। क्योंकि चैतन्य के लिये चैतन्य ही आवश्यक है।

समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश मस्यमहिमानमिति वीतशोकः ॥ २ । ४५ ॥

प० क्र०—(समाने) एक ही जड़ अचैतन्य। (वृक्ष प्रकृति) अथवा शरीर में। (पुरुषः) जीवात्मा। (निमग्नः) अहङ्कार से सम्बन्ध उत्पन्न करके, राग द्वेष के चक्कर में बँधा हुआ। (अनीशया) दुखों की जंजीर से छूटने के अयोग्य विचार करके। (शोचति) यह विचार करता है कि मेरा धन नष्ट हो गया, मेरी संतान मर गई इत्यादि। (मुह्यमानः) मोह के जाल में ग्रसित। (जुष्टं) जब ज्ञान से अथवा योगियों के

संग से। (यदा) जब। (पश्यति) देखता है। (अन्यम्) अपने दूसरे को जो शोक से रहित है। (ईशम्) जो अपने कामों के करने में बलवान् है। (अस्य) उसकी। (महिमानम्) उसके बनाये हुए जगत में उसकी महिमा को। (इति) यह। (वीतशोकः) सम्पूर्ण दुखों से छूट जाता है।

अर्थ—एक ही वृक्ष में जिसमें जीव और ब्रह्म रहते हैं, जीवात्मा अहंकार की जंजीर से बँध कर अपने को शरीर मान कर यह विचार करता है कि मैं बलहीन हूँ। मेरी संतान मर गई, मैं उसको बचा नहीं सका। मेरा धन नष्ट हो गया उसकी रक्षा नहीं कर सका। मेरे मित्र छूट गये। निदान अविद्या के चक्कर में फँसा हुआ इस प्रकार की चिन्ता में लगा रहता है। और अहंकार के कारण उन नष्ट होने वाली वस्तुओं को आत्मा मान लेता है। आप कलकत्ता में हैं, मकान दिल्ली में। मकान जल जाने का समाचार आता है, रोने लगता है, हाय ! मेरा नाश हो गया। यद्यपि आप कुशल-पूर्वक विद्यमान हैं, रोग से शरीर कृशतम हो गया, रोने लगता है, शोक में दुबला हो गया। यद्यपि शरीर हुआ है, आत्मा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती, परन्तु अविद्या से दुखी होता है। जब दूसरे साथी परमात्मा को ज्ञान से पूर्ण होने के कारण जो सब कुछ कर सकता है और दुखों के बंधन से पृथक् है। जिसको न कोई अविद्या में ला सकता है, न दुख दे सकता है। तब उसकी उपासना से यह भी शोक से पृथक् हो जाता है। परमात्मा ही की उपासना जीव को दुःखों से बचाने वाली है।

प्रश्न—बहुतसे मनुष्य तो जीव ब्रह्म को एक बताते हैं और वेद का सिद्धांत अद्वैत बताते हैं।

उत्तर—अद्वैत तीन प्रकार से होता है। एक स्वरूप के विचार से जब कोई दूसरी वस्तु न हो। परन्तु परमात्मा ऐसा नहीं, क्योंकि परमात्मा के गुण और नाम बताते हैं कि उसकी प्रजा भी जिसमें वह व्यापक होने से आत्मा कहाता है। दूसरे एकता होती है, गुणों में अर्थात् उसके समान गुण किसी में नहीं। तीसरे एकता होती है उपासना के विचार से। अतः परमात्मा में दो प्रकार की एकता है अर्थात् वह एक ही उपास्य है, उसके समान गुण किसी दूसरे में नहीं।

प्रश्न—वह गुणों में एक है, इसके यह अर्थ कि जो गुण उसमें हैं, वह अन्य में नहीं है।

उत्तर—यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि उसमें सत्ता का गुण है, वह दूसरे पदार्थों में भी पाया जाता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ । ४६ ॥

प० क्र०—(यदा) जिस समय ज्ञान से अथवा समाधि की दशा में योगी। (पश्यः) शुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञानी मनुष्य। (पश्यति) देखता है। (रुक्मवर्णं) प्रकाश है वर्ण जिसका। (कर्त्तारम्) जगत् उत्पादक। (ईशम्) सम्पूर्ण जगत् के स्वामी सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को। (पुरुषं) जो सब में व्यापक है। (ब्रह्मयोनिम्) वेद के कर्ता सर्वज्ञ को। (तदा) उस समय। (विद्वान्) वह ज्ञानी पुरुष। (पुण्यपापे) पुण्य और पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म के संस्कारों को। (विधूय) त्याग अर्थात् उस फल से साफ होकर। (निरञ्जनः)

राग द्वेष से पृथक् होकर। (परमम्) अविद्या इत्यादि क्लेशों से रहित जो सबसे सूक्ष्म है। (साम्यम्) उसकी समानता को। (उपैति) प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन दुःखों से छूट जाता है,

अर्थ—जिस समय मन के मैल को दूर करके और मन को एकत्र करके, योगी पुरुष उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा को जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाश हो रहा है और जो इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाला है और जो सबका स्वामी है, जिसकी शक्ति से सब ब्रह्माण्ड का चक्र चल रहा है। चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी की चाल, तारों का चक्कर, ऋतुओं का परिवर्तन, उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का विकार। निदान प्रत्येक प्रकार के काम जिस की शक्ति से बन रहे हैं, जब उसको देख लेता है, तब वह पाप और पुण्य की अभिलाषा और अहंकार के मल को धोकर अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा न रहने से और अन्तःकरण के पृथक हो जाने से परब्रह्म जो परमात्मा है, जो सब से सूक्ष्म और सब से बलवान् उच्च और पूर्ण ज्ञाता दुखों के योग से रहित, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता; उसको प्राप्त करके उसके आनन्द गुण मिल जाने से, उसकी समानता को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वह सत्चित आनन्द स्वरूप है ऐसे ही उसके आनन्द से जीव भी आनन्द प्राप्त करके सम्पूर्ण दुःखों से पृथक् हो जाता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्म क्रीड आत्म-रतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ ४। ४७॥

प० क्र०—(प्राणः) अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण होने से परमात्मा का नाम प्राण है। (हि) निश्चय करके। (एष) यह परमात्मा है। (यः) जो। (सर्वभूते) सम्पूर्ण जीवों के रोहे में प्रकट होने वाला है। (विभाति) सब के भीतर रह कर प्रत्येक जीव को अपने नियम में पाप पुन्य कर्मों का प्रकाश करने वाला। (विजानन) उसको जानने से। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (भवेत) होता। (न) नहीं। (अतिवादी) अधिक वक्ता व्यर्थ अलापी। (आत्मक्रीड़ी) अपनी आत्म में ही आनन्द को प्राप्त करता है। (आत्मरतिः) आत्मा में ही उसको प्रेम होता है, दूसरे से नहीं। (क्रियावान) अपने ज्ञान के अनुकूल कर्म करता है, तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म करता है वाणी से नहीं कहता है। (एष) यह। (ब्रह्मविदां) वेद के ज्ञाताओं में अथवा परमात्मा के जाननेवालों में। (वरिष्टः) सबके उत्तम।

अर्थ—परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण है यदि परमात्मा अपनी शक्ति से संयोग न दे तो कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार यह परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के भीतर प्रकाश कर रहा है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जो नियमानुकूल चल रहा है वह परमात्मा की सत्ता को प्रकाश कर रहा है जिस प्रकार हमारी वाणी को नियम पूर्वक बोलना हाथ, पाँव, का इच्छानुकूल चलना हमारे भीतर नियम से चलानेवाला आत्मा का प्रकाश करता है। अथवा एंजिन इच्छुक क्रिया अर्थात् उसका आगे बढ़ना, पीछे हटना, खड़ा होना इत्यादि ड्रायवर की विद्यमानता के प्रमाण हैं। गो एँजन भाफ से चलता है परन्तु नियमानुकूल इच्छक क्रिया ड्रायवर

का प्रमाण देती है। जो उस परमात्मा को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष अधिक बोलनेवाला नहीं होता। किन्तु अपने आत्मा के भीतर ही आनन्द भोगना, परमात्मा से ही प्रेम करना, कर्म कांडी, सत्यवादी होता है। ब्रह्म के जानने वालों में वही उत्तम है जो मन, वाणी और कर्म का सच्चा है। इस अगले मन्त्र में उस विधान और साधनों को बताते हैं जिससे उस ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो मनुष्य ब्रह्म को साक्षात् करने के लिये दूर दूर देशों में घूमते हैं या जो पुरुष यह आशा रखते हैं कि गुरु अथवा पीर हमको निकाल कर परमात्मा दिखावेगा वह बहुत ही भूल करते हैं। गुरु मार्ग बता सकता है दिखा नहीं सकता।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरेज्योतिर्मयो हि शुभ्रोयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५।४॥

प० क्र०—(सत्येन) सदा सत्य बोलने, सत्य मानने, सत्य करने से। (लभ्यः) मिलता है जाना जाता है। (तपसा) इन्द्रियों को विषयों से रोकने और शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा इत्यादि के सहन करने। (हि) निश्चय करके। (एष) यह आत्मा जीवात्मा परमात्मा। (सम्यग्ज्ञानेन) ठीक प्रकार जो वस्तु जैसी है उस को वैसा ही जानना चाहिये। (ब्रह्मचर्येण) सदा वेदानुकूल ८ प्रकार के मैथुनादि से पृथक् रहने से। (नित्यम्) सदा से यही नियम है। (अन्तःशरीरे) इस शरीर में परमात्मा के दर्शन होते। (ज्योतिर्मयः) वह प्रकाश स्वरूप उसमें अज्ञान और तम का पता भी नहीं। (हि) निश्चय करके। (शुभ्रः) शुद्ध है। (यत्र) जिस को। (पश्यन्ति) देखते हैं। (यज्ञयः) सन्यासी

पुरुष। (क्षीणदोषः) जिन के मल विक्षेप आवरण दोष नष्ट हो गये।

अर्थ—जो मनुष्य सत्य पर चलता है अर्थात् सत्य ही बोलता, सत्य ही मानता और सत्य ही करता है, वह आत्मा को जान सकता है; परन्तु वह मनुष्य सत्य पर नहीं चल सकता जो तप का अभ्यासी नहीं जिससे शीतोष्णता, क्षुधा, तृषा और और इन्द्रियों को विषयों से रोकता है। जो कष्ट होता है उस के सहन करने का स्वभाव नहीं उत्पन्न कर लिया, यह हित का स्वभाव नहीं हो सकता। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो, क्योंकि जो जानता है कि क्षुधा, तृपा प्राणों का धर्म है और में प्राण नहीं। वृद्ध होना और मरना शरीर का धर्म है, मेरा नहीं। हर्ष, शोक मन का धर्म है, मेरा नहीं। उस में तो सहन की शक्ति हो सकती है, दूसरे में नहीं। परन्तु ज्ञान उनको हो सकता है जो नित्य ब्रह्मचर्य के नियमानुकूल गुरु से शिक्षा पाते हैं। जिन मनुष्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया, उन को ठीक ज्ञान नहीं हो सकता और जिनको ठीक ठीक ज्ञान न हो, वह तप नहीं कर सकते; वह सदा आलसी रहते हैं। परन्तु आलसी मनुष्य कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकते। क्योंकि सच्चे को बहुत सी परीक्षाओं में से निकलना पड़ता है। जैसे खरा सुवर्ण कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी परीक्षक को दिखाया जाता है और कसौटी पर घिसा जाता है, किसी को काट कर दिखाया जाता है। इसी प्रकार सत्य की परीक्षा होती है। जो परीक्षा उत्तीर्ण हो जाता है, वही सच्चा ठहरता है। निदान जीवात्मा अपने शरीर में तप कर के उस प्रकाश स्वरूप को जिस में किसी प्रकार का मल या तम लेशमात्र भी नहीं होता। और जो शुद्ध है, जिसको सब

मनुष्य नहीं देख सकते, किन्तु वह सन्यासी मनुष्य जानते हैं। आगे तीन प्रकार की इच्छा को त्याग कर और कर्मकाण्ड से अन्तःकरण के मल को उपासना काण्ड से अन्तःकरण की चंचलता को और अहङ्कार को त्याग देने से और आवरण दोष को दूर कर दिया हो। जब तक यह तीन प्रकार की इच्छाएं और तीन प्रकार के दोष विद्यमान हैं, कोई भी परमात्मा को नहीं देख सकता और न कोई दिखा सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों को बाहर के प्रत्येक प्रकार के आडम्बर को त्याग कर भीतर देखने के लिये जो साधन बताये गये हैं, उन पर अमल करना चाहिये।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्। ६ ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(सत्यमेव जयते) सत्य कर्म करके ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। (न) नहीं। (अनृतम्) झूठ की जय नहीं होती। (सत्येन) सत्य से। (पन्था) मार्ग जिस पर मनुष्य चल रहे हैं। (विततं) फैला हुआ है। (देवयानः) वेदों के जानने वाले देवतों के कर्म का मार्ग। (येन) जिस मार्ग से। (आक्रमन्ति) परस्पर में उत्साह से चलते हैं। (ऋषयः) वेदों के अर्थ के ठीक ठीक जानने वाले ज्ञानी। (हि) निश्चय करके। (आप्तकामः) जिन्हों ने अपने उद्देश में सफलता प्राप्त करली है, जिस दशा में। (यत्र) जहां पर। (तत्) वह। (सत्यस्य) सत्य कर्म करने का। (परमम्) अत्यन्त सुन्दर। (विधानम्) अन्तिम सीमा है।

अर्थ—अन्तिम सत्य की जय होती है, यद्यपि परीक्षा के समय सत्यता निर्बल मालूम होती है। झूठ को कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। मुलम्मा कहने से कोई परीक्षा नहीं करता; सोना कहने से उसकी परीक्षा की आवश्यकता होती है। इस के यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सोने से मुलम्मा को अच्छा समझते हैं, इस कारण उसकी परीक्षा नहीं करते। सत्य से ही देवतों के सन्मार्ग का द्वार खुला हुआ है अर्थात् सत्य से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, जिस मार्ग से ऋषि मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, वह वेद के ज्ञानियों का ही मार्ग सत्यता की अन्तिम सीमा है।

प्रश्न—क्या सत्य की सदैव जय होती है? हम तो प्रायः देखते हैं कि सत्य की पराजय होती है।

उत्तर—अन्त में अवश्य सत्य की जय होगी। मध्य में जो असत्य की जय होती है, वह सत्य की परीक्षा होती है। क्योंकि यदि सत्य पर पूर्ण विश्वास होता है, तो असफलता की दशा में भी सत्य से पृथक् नहीं होता। यदि पूर्ण विश्वास नहीं, तो वास्तव में वह सत्य नहीं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ । ५० ॥

प० क्र०—(बृहत्) बहुत ही बड़ा। (च) और। (तत्) वह। (दिव्यम्) वह स्वयम् प्रकाश स्वरूप है, उसके देखने को किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। (अचिन्त्यरूप) जिस के रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, मन सब की

सीमा पर हो आता है, परंतु वह इस शक्ति से बाहर है। (सूक्ष्मात्) अति सूक्ष्म है। (विभाति) प्रकाश करता है। (दूरात्) दूर से भी। (सुदूरे) अधिक दूर है। (तत्) वह। (इह) यहां। (अंतिके) निकट ही है। (च) और। (पश्यत्सु) देखनेवालों के भीतर है। (इह) यहां। (एव) भी। (निहतम्) स्थिर है, विद्यमान है। (गुहायाम्) बुद्धि के भीतर।

अर्थ— वह परमात्मा सबसे बड़ा और प्रकाश स्वरूप है, जिसके जानने के लिए किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। उसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, क्योंकि उसके गुण अनन्त हैं। क्योंकि सूक्ष्म प्रकृति और जीव से भी अधिक सूक्ष्म है। इसलिये उनके भीतर व्यापक हो रहा है और उनको प्रकाश देता है, जिसके प्रकाश से यह प्रकृति और जीव काम कर रहे हैं। वह अज्ञान की दूरी से दूर है। और न मक्का जाकर ही उसको पा सकते हैं और न काशी जाकर और न द्वारका में, न रामेश्वर में। और ज्ञानियों के लिए इस शरीर के भीतर ही विद्यमान् है। वह मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करके विज्ञान से मन की वृत्तियों को स्थिर करके अहङ्कार के आवरण से पृथक् होकर उसको देखना चाहते हैं, उनको यहां ही अपनी बुद्धि के भीतर मालूम पड़ता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को देखने के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्तःकरण में देखने की आवश्यकता है। जो मनुष्य परमात्मा को बाहर ढूंढते हैं, उन से परमात्मा बहुत ही दूर है। और जो हृदय में देखते हैं उनके नितान्त समीप हैं। बाह्य-ज्ञान से देखनेवालों को वह किसी दशा में मिल नहीं सकते और ज्ञान-चक्षु से देखने वाले उनको सदा देखते हैं।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-स्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्त-तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८।५१॥

प० क्र०—(न) नहीं। (चक्षुषा) नेत्रों से उसे कोई देख सकता है, क्योंकि वह अनन्त है, सत् है, सूक्ष्म है। (न) नहीं (अन्यैः देवैः) दूसरे इन्द्रियों के द्वारा से। (अपि) भी। (वाचा) वाणी से उस के गुणों की सीमा पा सकता है। (तपसा) तप से। (कर्मणा वा) न कर्म से, तप और कर्म से भी नहीं देखा जाता। (ज्ञान प्रसादेन) ज्ञान के भीतर जो राग द्वेष इत्यादि दोष प्रस्तुत हैं, जब यह दोष दूर हो जावें। (विशुद्ध सत्त्व) साफ दर्पण की भांति मन शुद्ध हो जावे। उन में किसी प्रकार का राग अथवा द्वेष सत्कार मौजूद हो। (तत्) उससे। (तु) है। (तम्) उस परमात्मा को (पश्यते) देख सकते हैं। (निष्कलम्) निराकार और अनन्त को। (ध्यायमानः) ध्यान करते हैं।

अर्थ—परमात्मा निराकार है, इसलिये उसको नेत्र देख नहीं सकते और वह अत्यन्त समीप है, इसलिये नेत्र भी देखने में असमर्थ हैं। और महान से भी महान है, इस लिये भी नेत्र नहीं देख सकते और न वाणी उसके गुणों की सीमा को बता सकती है। और न कोई दूसरी इन्द्रियाँ उसको अनुभव कर सकती हैं। और न उसको तप अर्थात् शीतोष्णादि कष्ट सहन करने से जान सकते हैं और न कर्म से उसका ज्ञान हो सकता है। किन्तु अज्ञान के दोषों से रहित होकर जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है अर्थात् मन में जो मल विक्षेप आवरणादि

दोष हैं, यह नितान्त दूर हो जाते हैं, तब उस शुद्ध मन से ध्यान करता हुआ उसको देख सकता है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ बाहर की चीजों के देखने के लिये हैं, उनसे भीतर नहीं देखा जा सकता। इस लिये जो भीतर देखता है, वह किसी भौतिक इन्द्रिय अथवा मन से नहीं देखा जाता है। जीवात्मा की स्वाभाविक शक्ति जो बुद्धि है, उनसे देखा जाता है।

उत्तर—निराकार के अर्थ असंयोग के हैं। क्योंकि आकार कहते हैं नियत वस्तुओं के योग को, जिसका दूसरा नाम स्थूल है। और जिसमें योग न हो, वह निराकार अर्थात् सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्म और स्थूल वस्तु अपने गुणों से ग्रहण की जाती हैं। जिसके देखने के लिये जो साधन नियत हैं, उससे वह देखा जाता है, दूसरे से नहीं देख सकते।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्। यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ६ । ५२ ॥

प० क्र०—(एष) यह। (अणु) सूक्ष्म। (आत्मा) सब में व्यापक। (चेतसा) पवित्र ज्ञान से जो हर प्रकार के दोष से पृथक् हो (वेदितव्यः) जानने के योग्य है और प्रकार से नहीं। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (प्राणः) प्राण वायु। (पञ्चधा) पांच प्रकार के प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नाम वाले। (संविवेश) ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं। (प्राणैः) प्राण और उसके आश्रय काम करने वाली इन्द्रियों के साथ। (चित्त) अन्तःकरण। (सर्वं) सब प्रकार के अर्थात् मन

और बुद्धि। (ओतम्) मन के मनकों में तागे की भांति पिरोया हुआ है। (प्रजानाम्) प्रजा का। (यस्मिन्) जिस शरीर के भीतर। (विशुद्धे) शुद्ध होने से। अर्थात् तीन प्रकार की इच्छा और राग द्वेष के पृथक् होने से। (विभवति) अपने स्वरूप को प्रकट करता है। (एष) योगियों को प्रत्यक्ष होने वाला। (आत्मा) परमात्मा।

अर्थ—उस सूक्ष्म आत्मा को ज्ञान चक्षु से देख सकते हैं। जिस शरीर में पाँच प्रकार के प्राण ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हों, प्राणों से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चारों प्रकार के भीतरी यन्त्र अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस प्रकार पिरोये हुए हैं, जैसे माला के मनकों में धागा पिरोया होता है। जिस शरीर में चित्त अथवा अन्तःकरण सम्पूर्ण दोषों से शुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् मन में मल अर्थात् दूसरों की क्षति चाहना। चंचलता हर समय इच्छा का बढ़ते रहना। आवरण, अहंकार से अपनी शक्ति और दशा को अनुभव न करना, किन्तु बड़ा मान लेना और अज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानना; किन्तु और का और जानना। यह सब दोष दूर हो जाते हैं, तब वह परमात्मा चित्त में अपना प्रकाश करते हैं। और जिस प्रकार किसी बड़े अफसर का आना होता है, तो सम्पूर्ण शहर की सफाई कराते हैं, सम्पूर्ण हाट बाजारों में रोशनी करते हैं, क्योंकि एक बड़े अफसर को आना है। इसी प्रकार जो अन्तःकरण तम अवस्था में अपवित्र है, वहाँ परमात्मा के दर्शन नहीं होते, किन्तु जो शुद्ध और प्रकाशित है, उस चित्त में परमात्मा के दर्शन होते हैं।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयतयोंश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०।५३॥

प० क्र०—(यम्‌यम्) जिस जिसको। (लोकं) शरीर को। (मनसा) मन से। (वभाति) मन से इच्छा करता है। (विशुद्धसत्वः) जिसका मन राग द्वेष, छल कपट, आडम्बर से रहित है। (कामयते) इच्छा करता है। (यान्च) जिसको। (च) और। (कामान्) इच्छाओं को। (ताम्) उस उस। (लोकम्) सूर्य, चन्द्रादि अथवा शरीर में। (जायते) उत्पन्न होता है। (तान) उन। (कामान्) इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है। (तस्मात्) इस कारण से। (आत्मज्ञम्) आत्मा के जानने वाले विद्वान् को। (अर्चयेद्) उसकी सेवा करने अर्थात् उसका संग करके उसके गुणों को प्राप्त करते हैं। (भूतिकामः) जिसको योग सिद्ध करने की इच्छा हो, क्योंकि उसके संग से वह वैसा बन सकता है।

अर्थ—जिस ज्ञानी पुरुष ने अपना मन शुद्ध कर लिया है, वह जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, अथवा जिस वस्तु की इच्छा रखता हो, उसको वह प्राप्त कर सकता है। इस कारण जिस मनुष्य को योग की इच्छा हो कि मैं योग सिद्ध करूँ उसको चाहिये कि आत्मा से जानने वाले योगियों की सेवा करे।

प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि होने की, मनुष्यों और दूसरी वस्तुओं की कामना कैसे हो सकती है? क्योंकि अन्तःकरण के शुद्ध होने का प्रमाण यही है कि तीन प्रकार की वस्तु अर्थात् वित्तेषणा, लोकेषणा, पुत्रेषणा की इच्छा न रहे। जिसको इनकी

इच्छा है, उसका मन शुद्ध नहीं। और जिसका मन शुद्ध है, उसको इच्छा नहीं ?

उत्तर—इच्छा दो भाँति से होती है' एक अपने स्वार्थ से, दूसरे परोपकार के लिये। जिसका मन अपवित्र होता है, उसको अपने लिये इच्छा होती है। और जिसका मन शुद्ध है, उसको दूसरों के उपकार की इच्छा होती है।

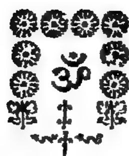
प्रश्न—परोपकार का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, तो परोपकार का क्या प्रयोजन ?

उत्तर—जीवात्मा का स्वभाव कर्म करना है, जिससे वह अतिरिक्त उस दशा के जब कि कर्म करने के यन्त्र मन आदि न हों, कर्म से मन की विद्यमानता में खाली नहीं रह सकता। अतः वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ, इस लिये मन के शुद्ध होने पर भी बुद्धिमान् परोपकार करते हैं, जिससे पाप की ओर मन न चला जावे।

प्रश्न—शुद्ध मन वाला ज्ञानी भी पाप कर सकता है ?

उत्तर—मन से काम करता है, यदि ज्ञानी उसको सन्मार्ग पर जाने देगा तो वह पाप नहीं कर सकता। यदि उसके स्वभाव के विरुद्ध उसको रोकेगा, तो वह जिस प्रकार अवसर मिलेगा कर्म करेगा। इस लिये मन की शुद्धि के पश्चात् योग के साधनों से उसकी चंचलता को रोकने की आवश्यकता विद्वानों ने स्वीकार की है।

तृतीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।



अथ तृतीय मुंडक-द्वितीय खंड ।

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ । ५४ ॥

प० क०—(सः) वह ज्ञानी पुरुष जिसका विचार ऊपर हो चुका है । (वेद) जानता है । (एतत्) यह प्रत्यक्ष (परमम्) सब से उत्तम सब से सूक्ष्म । (ब्रह्म) परमात्मा है । (यत्रधाम) जिस में । (विश्व) यह सम्पूर्ण जो विद्यमान है । (निहितं) स्थित होकर । (भाति) प्रकाश हो रहा है । (शुभ्रम्) जो शुद्ध है, जिस में किसी प्रकार का दोष नहीं । (उपासते) उपासना करते हैं । (पुरुषं) उस पुरुष की । (यः) जो ज्ञानी मनुष्य । (हि) निश्चय करके । (अकामा) निष्प्रयोजन । (ते) वह ज्ञानी मनुष्य । (शुक्रम्) वीर्य्य को । (एतत) यह ज्ञानी पुरुष । (अतिवर्त्तन्ति) उसकी शक्ति से बाहर निकल जाते हैं अर्थात् वह विषय भोग नहीं करते । (धीराः) ऐसे बुद्धिमान् योगी ।

अर्थ—उक्त गुणों से युक्त ज्ञानी जान सकता है कि सब से सूक्ष्म परमात्मा किस स्थान पर दर्शन देते हैं । जिस परमात्मा

में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित होकर प्रकाश करता है, अतिरिक्त परमात्मा के जगत् की सत्ता का दृष्टि पड़ना कठिन है। क्योंकि जगत् में दो गुण, संयोग और वियोग काम कर रहे हैं। जो परस्पर विरोधी हैं, एक से उत्पत्ति होती है दूसरे से नाश। यह दोनों एक ही प्रकृति का गुण तो भूल नहीं सकते, अतः एक ही माना जाता है। प्रकृति में स्वाभाविक गुण संयोग मान कर भी दुनियाँ का काम चल नहीं सकता और न वियोग मान कर चल सकता है। अतः शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही संसार में प्रकाश करते हैं। जो उस परमात्मा की निष्काम उपासना करता है, वह संसार के विषयों में नहीं फँसता, वह वीर्य्य को नहीं गिराता। किन्तु अपनी सम्पूर्ण शक्ति परमात्मा की उपासना और ज्ञान में व्यय करता है।

**कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभि-
र्जायते तत्र तत्र। पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ । ५५ ॥**

प० क्र०—(कामान्) कामनाओं को। (यः) जो मनुष्य। (कामयते) चाहता है। (मन्यमानः) मन में उनकी वासना रखता हुआ। (सः) वह मनुष्य। (कामभि) कामनाओं के कारण। (जायते) उत्पन्न होता है। (तत्र तत्र) उस स्थान में जहाँ की इच्छा थी। (पर्याप्त कामस्य) जिसने कामनाओं को पूर्ण कर लिया है, अब उसे कोई इच्छा शेप नहीं। (कृतात्मनः) जिसकी आत्मा, काम क्रोध लोभ मोह आदि से पृथक् होगई है। (तु) तो। (इह) इस संसार में। (एव) ही। (प्रविलीयन्ते) अपने अपने जिसमें प्रवेश हो जाती हैं। (कामा) उसकी इच्छा।

अर्थ—जो मनुष्य संसार की कामनाओं में फँसा हुआ और निशदिन कामना ही करता रहता है वह अपनी अभि-

लाषा के अनुकूल बार बार जन्म लेता है। यदि घोड़े की इच्छा है, तो घोड़े के जन्म में जाता है। यदि स्त्री की इच्छा है तो स्त्री का जन्म लेता है। यदि सूर्य लोक में जाने की कामना है, और वैसे कर्म किए हैं तो सूर्य लोक में जाकर जन्म लेता है। प्रयोजन यह है कि इच्छा से काम करने का परिणाम जन्म है, मुक्ति नहीं। जिसने आत्मा की कामनाओं से अलग करके काम, क्रोध, लोभ, मोह की आत्मा से दूर रहने दिया है और सब कामनाओं को पूर्ण करके उनका फल समझ लिया है। और अब उसके मन में कोई इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती उसकी सब इच्छाएँ अपने अपने कारण अर्थात् सब में प्रवेश हो जाती हैं उसके साथ जाकर जन्म होता है।

प्रश्न—जिस प्रकार की कामना की जावे वैसा ही जन्म होता है

उत्तर—जिस प्रकार की इच्छा से यज्ञादि शुभ कर्म किए जावेंगे, वैसा ही जन्म होना सम्भव है।

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ । ५६ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (अयमात्मा) यह जीवात्मा यह परमात्मा। (प्रवचनेन लभ्यो) बहुत से व्याख्यान करने से मिल सकता है। (न) नहीं। (मेधया) बुद्धि से जाना जाता है। (बहुधा श्रुतेन) बहुत सी पुस्तकों के पढ़ने से अथवा बहुत से कथा वार्त्ता और व्याख्यानों के सुनने से जाना जाता है। (यम्) जिस पुरुष। (एष) इस जगत् में परमात्मा व्यापक। (वृणुते) अधिकारी समझकर स्वीकार करता हूँ।

(तेन) उस पुरुष को। (लभ्यः) ज्ञान होना है। (तस्य) उसके लिए। (एष) यह जगत् कर्त्ता परमात्मा। (वृणुते) फैला देता है प्रकाश करता है। (तनू) फैलाव को। (स्वाम्) अपने।

अर्थ—उस परमात्मा को बहुत पढ़ाने अथवा उपदेश करने अथवा व्याख्यान देने से नहीं जान सकते, और न बुद्धि से परमात्मा का ज्ञान होता है और न बहुत से शास्त्रों से सुनने सुनाने और पुस्तकों के पढ़ने पढ़ाने से परत्मामा को जान सकते हैं। जिसको अधिकारी देखकर यह आत्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्पूर्ण दोषों को दूर कर लिया है, जिसको अतिरिक्त आत्मा के जानने के और कोई इच्छा नहीं, जिसका अतिरिक्त आत्मा, के और भरोसा नहीं। निदान जिसका सर्वस्व आत्मा ही है, जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं। जिसकी बुद्धि पतिव्रता स्त्री की भांति परमात्मा के ही ध्यान में लगी हुई है, जिसको और और विचार करना भी दुःख का कारण मालूम होता है, वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है, उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। सब साधन अधिकारी बनने के लिये हैं। जब अधिकारी बन जाता है, तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देते हैं।

प्रश्न—एक ओर तो कहा जाता है, कि परमात्मा बुद्धि से नहीं जाना जाता। दूसरी ओर कहा जाता है, परमात्मा केवल बुद्धि से जाना जाता है?

उत्तर—बुद्धि दो भांति की होती है। एक जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान। दूसरे एक मन की प्रेरणा से परमात्मा का

ज्ञान नहीं हो सकता। स्वाभाविक बुद्धि से समाधि और मुक्ति की दशा में ज्ञान होता है।

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥ ५७ ॥

प० क्र०—(न) नहीं। (अयमात्मा) यह परमात्मा। (बलहीनने) जिसने ब्रह्मचर्य का सेवन करके आत्मिक बल नहीं बढ़ाया। (लभ्य) वह उसको जान सकता है। (न) नहीं। (च) और। (प्रमादात्) जिसने अभिमान में फंस कर आत्म चैतन्य की ओर से लापरवाही की है। (तपसः) तप से भी उसको नहीं जान सकते। (वपि अलिङ्गात्) पाखंड से सम्पूर्ण वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग देने से ही परमात्मा नहीं जाना जाता। (एतैः) उस ब्रह्मचर्याश्रम को करने और आलस्य को त्यागने, सत्य, तप करने आदि। (उपायैः) जो उपायों में। (यतते) परिश्रम करता है। (यस्तु) जो कोई। (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य। (तस्य) उसको। (एषः) योग से जानने योग्य। (आत्मा) परमात्मा। (विश्वते) प्रवेश करता है या दिखाता है। (ब्रह्म) सब से बड़े। (धाम) सब के रहने के स्थान परमेश्वर को।

अर्थ—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके और कर्म और उपासना से आत्मिक बल प्राप्त नहीं किया, उस शक्ति से शून्य मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते। और जो अभिमान और नित्य कर्मों से अचिन्त हैं, उनको भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते। और न आडम्बर तप से कोई परमात्मा को जान सकता है। और न वैदिक धर्म के

लक्षणों को त्याग कर स्वतन्त्रता से उसको मान सकता है। यदि नियम पूर्वक ब्रह्मचारी बनकर, अज्ञान को नाश करके और गृहस्थाश्रम में परोपकार से मन को शुद्ध करके, इन उपायों से जो वेदों ने बताये हैं, जो विद्वान् पुरुषार्थ करता है, उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं, अथवा वह ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होता है। प्रयोजन यह है कि परमात्मा के जानने के लिये बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषयों की तुलना करनी पड़ती है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को अपनी ओर खींचते हैं, मन विषयों की ओर आत्मा को ले जाना चाहता है। यदि आत्मा में बल नहीं है, तो मन के पीछे लग जाता है। यदि ब्रह्म की उपासना करने से आत्मा बलवान है, तो विषयों से हटकर परमात्मा की ओर लग जाता है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ । ५८ ॥

प० क्र०—(सम्प्राप्य) ठीक प्रकार प्राप्त करके। (ऋषयः) वेद जानने वाले ज्ञानी अथवा वैदिक कर्म के आचार्य। (ज्ञानतृप्ता) बाहर के विषयों को त्याग करके, भीतर के ज्ञान से ही जो तृप्त। (कृतात्मा) जिनकी आत्मा शुद्ध हो गई है अर्थात् ऊपर की उपाधि से पृथक् हो गये हैं। (वीतरागाः) जिसका राग दूर हो गया है। (ते) वह विद्वान् मनुष्य। (सर्वज्ञ) सब के जानने वाला, जगव्यापक परमेश्वर। (सर्वतः) सब ओर से। (प्राप्य) प्राप्त करके। (धीरा) आत्म दर्शन के विचारने वाले। (युक्तात्मनः) जिनकी बुद्धि, मन परमात्मा से युक्त है। (सर्वमेव) सर्व कारण का कार्यरूप

जगत् को। (अविशान्ति) स्वतन्त्रता से घूमते अथवा प्राप्त होते हैं।

अर्थ—उस परमात्मा को प्राप्त होकर वेद के जानने वाले ज्ञानी मनुष्य जो ज्ञान से तृप्त हैं, जिनको किसी वस्तु की इच्छा शेष नहीं रही, जिनका आत्मा बाहर की सम्पूर्ण उपाधियों में शुद्ध हो गया है, जिनका राग द्वेष सब नष्ट हो चुका है, जिनके विषयों की चिन्ता जड़ मूल से जाती रही है। वह मनुष्य इस सर्वव्यापक, सब के ज्ञाता, सब स्थान पर प्राप्त होकर आत्म विचार में लगे हुए और बुद्धि को परमात्मा की ओर मिलाए हुए सब कारण का कार्यरूप जगत् में स्वतन्त्रता से घूमते हैं। उनको कोई बन्धन नहीं होता और कहीं आने जाने में बाधा नहीं होती। इसलिये वह स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हुए शान्ति से विचरते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६। ५६॥

प० क्र०—(वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः) वेदान्त के पुस्तकों से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है अर्थात् उपनिषद् और वेदान्त दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस से जिस ने अर्थों को निश्चय कर लिया है। (संन्यास योगात) या तो वैराग्य द्वारा अर्थात् प्रत्येक संसारिक वस्तु में दोष मालूम करने से अथवा योगाभ्यास से मन को रोकने से। (यतयः) जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, इससे। (शुद्धसत्त्वाः) बुद्धि को सब प्रकार के दोषों से शुद्ध कर लिया है। (ते) वह ज्ञानी पुरुष।

(ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म दर्शन में। (परान्तकाले) महाकल्प की सीमा तक अथवा पराविद्या से उत्पन्न हुए शुद्ध सुख के अन्तकाल तक। (परामृताः) पराविद्या से मुक्त हुए जीव। (परिमुच्यन्ति) उस अवस्था से छूट जाते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य वेदान्त के ग्रन्थों अर्थात् उपनिषदों और वेदान्तसूत्र इत्यादि के मन्त्रों और मन से जीवात्मा और परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप को निश्चय कर चुके हैं, वह जीवन मुक्त संन्यास अर्थात् वैराग्य द्वारा सब वस्तुओं में दोष देखने अथवा योग द्वारा मन ठीक करने से अथवा प्रकृति के त्याग और परमात्मा के योग से मन शुद्ध करके, इन्द्रियों को वश में करने वाले महात्मा ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर अर्थात् दर्शन करके पराविद्या के उत्पन्न हुए ज्ञान के अन्त तक पराविद्या से प्राप्त मुक्ति को भोगते हैं और महाकल्प के पश्चात् फिर सब उस दशा से छूट जाते हैं।

प्रश्न परान्तकाल का अर्थ ब्रह्मायु अथवा महाकल्प, अथवा पराविद्या से परान्तज्ञान का अन्तकाल किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—जब कि ब्रह्मलोक कार्य है जिस को शंकराचार्य इत्यादि विद्वानों ने स्वीकार किया है, तो कार्य की आयु भी होती है। क्योंकि ब्रह्म जो नित्य है उसकी आयु तो नहीं हो सकती, क्योंकि आयु अनित्य की होती है। नित्य पदार्थों में काल का व्यवहार नहीं हो सकता। इस लिये जिस जगह ब्रह्म की आयु लिखी है, इसका प्रयोजन ब्रह्मलोक आयु अथवा ब्रह्मदर्शन की आयु से है। और ब्रह्म-दर्शन पराविद्या से होता है, पराविद्या से प्राप्त ब्रह्म-दर्शन का अन्त परान्त कहलाता है।

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वएकी भवन्ति ॥ ७ । ६० ॥

प० क्र०—(गताः) प्राप्त करके । (कलाः) शरीर से सम्बन्ध रखने वाली प्राणेन्द्रियां । (पञ्चदश) पांच प्राण दश इन्द्रियां । (प्रतिष्ठा) अपने कारण । (देवाश्च) विषयों को प्रकाश करने वाली काल आदि इंद्रियां । (सर्वे) सब । (प्रतिदेवतासु) आकाश आदि अपने-अपने कारणों में । (कर्माणि) कर्मों से उत्पन्न हुए संस्कार । (विज्ञानमयः) ज्ञान स्वरूप जिसको स्वाभाविक व नैमित्तिक दोनों ज्ञान हों । (च) और । (आत्मा) जीवात्मा । (परे) सब से उच्च । (अव्यय) नाश से रहित । (सर्वे) सब । (एकीभवन्ति) एकत्र होते हैं ।

अर्थ—मुक्त होने के पश्चात् जीवात्मा के साथ जो पंचादश कला अर्थात् पांच प्राण और दश इन्द्रियां हैं, वह सब अपने अपने कारणों में अर्थात् पांच भूतों के भीतर प्रवेश हो जाती हैं । और सूक्ष्म शरीर के कारण में प्रविष्ट हो जाने से सम्पूर्ण कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । कर्मों का सम्बन्ध तब ही तक है जब तक जीव को शरीर और अंतःकरण में अहंकार है अर्थात् उनको अपना मानता है । और जब यह अहंकार नष्ट हुआ, तो सारा सूक्ष्म शरीर अपने कारण में प्रविष्ट हो गया । और कर्मों का संस्कार भी सूक्ष्म शरीर के साथ ही गया । कर्मों के नाश होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ रहता है और उससे सुख भोग करता है ।

प्रश्न—क्या मुक्ति के काल में जीव ब्रह्म का भेद दूर हो जाता है ।

उत्तर—जीव ब्रह्म में जो दूरी थी वह दूर हो जाती है, क्योंकि न तो देश की दूरी थी न काल की, केवल ज्ञान की दूरी थी, वह दूर हो जाती है और ब्रह्म के गुण भी जीव में आ जाते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८।६१ ॥

प० क्र०—(यथा) जैसे। (नद्यः) नदी। (स्यन्मानः) बहते हुए। (समुद्रे) समुद्र में। (अस्तंगच्छन्ति) प्रविष्ट होकर अदृष्ट हो जाते हैं। (नामरूपे) नाम और रूप। (विहाय) त्याग कर अर्थात् जब नदी सागर में मिल जाती है, तब उनका नाम और रूप दोनों समाप्त हो जाते हैं। (तथा) ऐसे ही। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (नामरूपात्) नाम रूप से। (विमुक्तः) छुटकारा पाकर। (परात्परं) सूक्ष्म से सूक्ष्म बड़े से बड़ा चेतन्य से चेतन्य। (पुरुषम्) सर्वव्यापक परमात्मा (उपैति) प्राप्त होताहै। (दिव्यम्) प्रकाश स्वरूप को।

अर्थ—जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में जाकर अपने नाम रूप को त्याग कर समाप्त हो जाती हैं, ऐसे ही विद्वान ज्ञानी पुरुष नाम रूप जो शरीर के हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इनसब से छूट कर अर्थात् शरीर के अहंकार से पृथक् होकर मन और इन्द्रियों से सम्बन्ध छोड़ कर अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म बड़े ज्ञानी, धनी से धनी, सुखी से सुखी; निदान प्रत्येक गुण में जो अन्तिम सीमा कर है, जिससे किसी गुण में कोई समानता नहीं कर

सकता बड़ा तो तब होता है, जब प्रकाश स्वरूप सब को प्रकाश करता है, इसको प्राप्त होता है।

प्रयोजन यह है कि जब तक शरीर में अभिमान है, तब ही तक नाम रूप से सम्बन्ध है। क्योंकि सब नाम रूप इत्यादि जीव के नहीं, किन्तु शरीर के हैं। शरीर के नाम रूप में अभिमान करना अविद्या है। तब तक दुख है, जब परमात्मा-ज्ञान से यह अविद्या मिट गई, तो बाहर की ओर दृष्टि दूर हो जाने से, वृत्ति भीतर जाकर व्यापक जो परमात्मा है उसको प्राप्त करती है।

सयो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति
पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ६।६२

प० क्र०—(सयो हवै) जो परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण हो जावे अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो। (तत्) वह। (परमम्) सब से उत्तम। (वेद) जाना जाता है। (ब्रह्मएवभवति) ब्रह्म के गुणों वाला हो जाता है अथवा ब्रह्म ही हो जाता है। (न) नहीं। (अस्य) उसके। (अब्रह्मवित्) ब्रह्म को न जानने वाला। (कुले) में। (भवति) होता है। (तरति शोकम्) सम्पूर्ण चिन्ता से मुक्त हो जाता है। (तरति पाप्मानं) पापों से छूटता है। (गुहाग्रन्थिभ्यो) बुद्धि में स्थिर जो राग द्वेष और अविद्या की गाँठि से। (विमुक्त) छूट कर। (अमृतः) मोक्ष। (भवति) हो जाता है।

अर्थ—जो उस परमात्मा को जो सब से उत्तम है, जान जाता है, वह परमात्मा के अनुकूल ही हो जाता है उसके कुल

में ब्रह्म के न जानने वाले उत्पन्न नहीं होते। वह सब शोक, मोह से पार हो जाता है और सब पापों से पृथक् होकर और मन में जो राग द्वेष और अहंकार की गाँठि हैं, उन सब विरक्त होकर मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म के अनुकूल हो जाता है, ऐसा क्यों कहा मनुष्य तो यह कहते हैं कि वह ब्रह्म ही हो जाता है।

उत्तर—जो हो जाता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जो नित्य एक रस है, वह ब्रह्म है। और जिसमें परिवर्तन है वह ब्रह्म नहीं। अतः जो ब्रह्म के ज्ञान से होता है, उस में ब्रह्मरूपता होती है। जिसका कपिल जी से पता लगता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते । एकर्षिंश्रद्धन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० । ६ ॥

प० क्र०—(तदेतदृचाभ्युक्तम्) इस बात में वेद मंत्र प्रमाण। (क्यावंतः) वेदानुकूल क्रिया करने वाला, वेदों के पढ़ने और पढ़ने वाला ज्ञानी। (ब्रह्मनिष्ठा) जिसका मन ब्रह्म में लगा हुआ है। (स्वयम्) अपने आप। (जुह्वते) फल की इच्छा से पृथक् होकर होम करता है। (एकर्षिम्) जिस कर्म का एक ही वेदरूपी ऋषि बताने वाला है। (श्रद्धयन्तः) श्रद्धा के साथ (तेषाम्) उनको। (एव) ही। (एताम्) इस मुण्डक उपनिषद् नाम की। (ब्रह्मविद्या) ब्रह्मज्ञान के विधान को। (वदेत) उपदेश करे ' शिरोव्रतं (विधिवत्) सब गुणों का धारण करना सत् पुरुषों की प्रतिष्ठा करनां यह व्रत वेदानुकूल

हैं। (यस्तु) जिससे। (चीर्णम्) वह उस पर चल सकेगी।

अर्थ—यह उपदेश वेदों में भी कहा है। जो वेदानुकूल कर्म करने वाला है, जिसने वेद का पठन-पाठन सीखा हो और धर्म जानता हो जिसके चित्त में ब्रह्म जानने की पूर्ण इच्छा हो। अपनी इच्छा से वेदानुकूल होम करनेवाला, श्रद्धा से जिज्ञासु मनुष्यों को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे। जिसने तप से अंतःकरण शुद्ध किया। जिसका मन एकाग्र न हो, उनको उपदेश न करे जिनका व्रत यह हो कि वह कभी धर्म के कामों को न छोड़ेगे और दूषित न करेंगे और उनको उपदेश देने से सफलता होती है। जो अधिकारी नहीं, उनको उपदेश करने से सफलता नहीं होती।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतद् चीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः॥ ११। ६४॥

प० क्र०—(तत्) वह। (एतत्) यह ब्रह्मविद्या। (सत्यम्) जो तीन काल में रहता और रहने वाली है। (ऋषि) वेद के ज्ञाता। (अंगिरा) अंगिरा ऋषि ने। (पुरोवाचः) पूर्व समय में उपदेश किया था। (न) नहीं। (एतद् चीर्णव्रतोऽधीते) यह ब्रह्म-विद्या नहीं पढ़ सकता। (नमः परम ऋपिभ्यो) परमात्मा और वेद ज्ञानी को नमस्ते। (नमः परमऋषिभ्यः) वेद के तत्व को जानने वालों को नमस्कार।

अर्थ—प्राचीन समय में यह ब्रह्मविद्या अंगिरा ऋषि ने ऋषियों को उपदेश की थी। और कहा था कि इस ब्रह्मविद्या

को वह मनुष्य जिस ने व्रत के आचारण करने का नियम नहीं रक्खा, न पढ़े । क्योंकि जो अधिकारी नहीं, उस को लाभ नहीं हो सकता । रोगी को औषधि से लाभ हो सकता है, जो रोगी नहीं उस को औषधि हानिकारक है । अधिकार के विना ब्रह्मविद्य लाभ नहीं दे सकती । अन्त में परमवेद के ज्ञाता ऋषियों को जिन्हों ने इस ब्रह्मविद्या का प्रचार किया, बार बार नमस्ते हो ।

श्री पं० चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षिततात्मजत्यज ॥
श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित ने संशोधित मुण्डकोपनिषद् भाषा भाष्यं समाप्तः ।



ॐ

माण्डूक्योपनिषद्

प्रणम्य परमात्मानं, गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
माण्डूक्योपनिषद् व्याख्यायां क्रियते शुद्ध भाष्य॥

ब्रह्मविद्या में यह उपनिषद् सब से अधिक और अद्वैतवादियों को प्रिय है। इस उपनिषद् पर गौड़पादाचार्य जी ने माण्डूक्य कारिका लिखी है, जो नवीन वेदान्त की मूल समझी जाती है, यद्यपि गौड़पाद की कारिका के दो पादों अनुवाद प्रथम उपस्थित कर दिया गया है। परन्तु यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् का शेष पादों के सहित अनुवाद प्रस्तुत किया जावे*। वेदान्त, विज्ञान के जानने वालों के लिये उपनिषदों का अनुवाद भी इस पत्र में क्रम से निकलता रहेगा।

---

* मैंने इन कारिकाओं का भाषानुवाद करके प्रकाशित करा दिया है जिससे नवीन वेदान्त की स्थित का यथार्थ पता लगता है (अनुवादक)।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

प० क्र०—(ओम्) परमात्मा। (इति) जो। (एतद्) यह। (अक्षरम्) नाश रहित है। (इदं) यह। (सर्वं) सब। (तस्य) इसका। (उपव्याख्यान) प्रकाशित करने वाली है। (भूतं) भूत। (भवत्) जो वर्त्तमान है। (भविष्यत्) जो आने वाला है। (इति) जो। (सर्वम्) सब है। (ओङ्कार एव) ओङ्कार ही है। (यत्) जो। (च) और। (अन्यत) दूसरे। (त्रिकालातींतं) तीनों कालों से पृथक् सर्वव्यापक है। (तत्) वह। (अपि) भी। (ओङ्कार एव) ओङ्कार ही है।

अर्थ—एक नित्य वस्तु ओ३म् ही है, जो कुछ जगत् दृष्टि पड़ता है सब इसका प्रकाश करने वाला ही है। भूत, भविष्यत, वर्तमान सब ओङ्कार ही है। तीनों कालों से परे जो ब्रह्म अथवा प्रकृति अथवा जीव जो सत्स्वरूप हैं, वह भी सब ओङ्कार ही हैं। क्योंकि शक्ति और शक्ति वाला दो नहीं होते, इसी प्रकार प्रकृित और जीव परमात्मा की शक्ति कहने से परमात्मा के साथ ही आ जाते हैं। परमात्मा एक ही है, अतः परमात्मा की प्रजा जीवात्मा और इसकी सम्पत्ति नित्य मिल कर ही परमात्मा वनती है। क्योंकि तीन अक्षर मिलकर ओ३म् बना है, इसी तीन वस्तुओं से परमात्मा ओङ्कार कहाता है। यदि व्याप्य प्रकृति न हो, तो परमात्मा को व्यापक अर्थात आत्मा नहीं कह सकते। यदि शरीर में व्यापक जीवात्मा न हो तो भी परमात्मा नहीं कह सकते, इसलिए ओङ्कार में भी

सब आ जाता है, सब ओङ्कार की व्याख्या ही है। जैसे राजा की प्रजा और सम्पत्ति राजा की महिमा बताने वाली होती है। इसी प्रकार जीव के असंख्य होने और प्रकृति के महत्ता से परमात्मा के गुण की ही प्रकाश होता है जो कुछ बीत चुका है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय और मृत्यु परमात्मा की सत्ता का प्रकाश करती है, जो कुछ विद्यमान है, उसकी उत्पत्ति स्थिति और नाश परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रही है, जो आगे होगा, वह भी इसी काम को करेगा। निदान, कार्य, कारण, प्रकृति और जीव से ओ३म् का ही प्रकाश होता है, इसलिये सब ओ३म् की ही महिमा समझनी चाहिये।

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा। चतुष्पात् ॥ २ ॥

प० क्र०—(सर्वं) सब। (हि) निश्चय करके। (एतद्) यह (ब्रह्म) परमात्मा है। (अयमात्मा) यह जो मेरे भीतर व्यापक है। (ब्रह्म) परमात्मा है। (सो) इसलिए (अयमात्मा) आत्मा। (चतुष्पात्) चार भागों वाला है।

अर्थ—यह सब जगत जो कुछ दीख पड़ता है। ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्म की शक्ति प्रकाश होने से ब्रह्म ही है। योगी समाधि की दशा में अपने भीतर देखता हुआ परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि यह जो मुझ में व्यापक है, यह ब्रह्म ही है। सो यह आत्मा चार पाद वाला है। ज्ञानी पुरुष जब संसार में जगत् के नियमानुकूल बनावट को देखता है, तो उसे विचार उत्पन्न होता है कि इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। जब स्वप्न की दशा में देखता है, तो वहाँ भी ब्रह्म की महिमा का पता लगता है। जो वस्तु जागृत दशा में देखी होती है, उनके

संस्कार जो मन में स्थित हो चुके, दीखते हैं। जब स्वप्न अवस्था गाढ़ निद्रा में सो जाता है, तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है। जिससे संसार में रहते हुए भी दुख दूर हो जाते हैं। जब मुक्ति में शरीर त्याग देता है, तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है। यह ब्रह्म के चार पाद हैं दूसरी प्रकृति सत्य है, जीव सत् चित् है, ब्रह्म सच्चिदानन्द और स्वतन्त्र है। यह सत् चित् आनंद और स्वतंत्रता ब्रह्म के चार पाद हैं। अब उपनिषद्कार इसको अपने शब्दों में बताते हैं।

जागरितस्थानोबहिः प्रज्ञः सप्तांगएकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

प० क्र०—(जागरितस्थानो) जागने की दशा अर्थात् स्थूल शरीर जिसका स्थान है। (वहि प्रज्ञः) जिसकी बुद्धि बाहर की ओर काम करती है। (सप्तांग) सात जिसके अंग हैं। (एकोनविंशति मुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (स्थूल भुक्) जो स्थूल विषयों को भोगता है। (वैश्वानरः) जो सम्पूर्ण नरों को भोगने वाला है। (प्रथमः पादः) प्रथम पाद है।

अर्थ—अब ब्रह्म के चार पाद बता कर उसके विभाग बताते हैं, जिसमें जीव जागने की अवस्था में काम करता है जिसकी बुद्धि बाहर की ओर लगी होती है, जिसके सात अङ्ग और उन्नीस मुख हैं, जो स्थूल विषयों को भोगने वाला है वह वैश्वानर नाम वाला ब्रह्म का प्रथम पाद कहाता है।

प्रश्न—क्या निराकार चैतन्य के भी पाद हो सकते हैं ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म के पाद हो नहीं सकते, परन्तु समझाने के लिये कल्पना करते हैं, कि जीव की अवस्थाओं के विचा

से ब्रह्मज्ञान भी चार भागों में होता है। जिस समय जीव जागता है और अपनी बुद्धि को बाहर के विषयों की ओर लगाता है। जब जीव का सात अंगों और उन्नीस मुखों से सम्बन्ध होता है। तब वह स्थूल शरीर का अभिमानी होने से स्थूल विषयों को भोगता है। इस दशा में जो किसी क्षण में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्म को वैश्वानर के नाम से उच्चारण करते हैं। क्योंकि उस समय जगत् के मनुष्य विषय-भोग करते हुए ब्रह्म के आनन्द को विषयों का आनन्द विचार करते हैं, परन्तु वह आनन्द उत्तमानन्द नहीं होता।

प्रश्न—जीव के १६ मुख कौन से हैं?

उत्तर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह सब जीव के मुख कहाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार मुख के द्वारा खाना खाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों इत्यादि के विचार से जीव बाहर के सुखों को भोगता है। कभी उसको सुख अनुभव होता है, कभी दुख अनुभव होता है। यदि यह उन्नीस न हों, तो जीव बाह्य ज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकता। केवल स्वाभाविक ज्ञान जो उसका नित्य है, वही उसको ज्ञान होता है।

प्रश्न—अन्य शास्त्रों में सत्रह सूक्ष्म शरीर माने गये हैं। उन्नीस यहाँ पर बताये हैं, इनका कारण क्या है। और सत्य कौनसा है?

उत्तर—इसमें अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। एक मनन वृत्ति, जब कि अन्तःकरण के द्वारा किसी वस्तु के होने न होने, सत् असत्, सुख दुःख के कारण इत्यादि होने का

अन्वेषण करता है; उस दशा का नाम मन है। दूसरे, जब अन्तःकरण इन्द्रियों के साथ बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, उसका नाम बुद्धि है। तीसरे, जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है, जैसे कोई मनुष्य सोचता है कि इस समय मेरे पास १०) रु० हैं, इससे व्योपार करके दस सहस्र कर लूँगा, पुनः एक लक्ष से एक वाटिका निर्माण कराऊँगा, इसमें सब देशों से एकत्र करके उत्तम उत्तम फल पुष्पादि लगाऊँगा, फिर उन्हें आनन्द से खाऊँगा। इस प्रकार की दशा का नाम चित्त है। चौथे, जब अपनी सत्ता और उसके सम्बन्ध वस्तुओं को अपना जानता हुआ प्रकाश करता है, इस दशा का नाम अहंकार है। कतिपय आचार्यों ने मन और चित्त और बुद्धि और अहंकार को एक मान कर, क्योंकि इनकी दशाओं में बहुत ही न्यून भेद है, एक स्वीकार कर लिया है। परन्तु वेदान्त शास्त्र ने जिसका उद्देश ही आत्मिक विद्या का प्रचार करना है, उस थोड़े से भेद से भी पृथकता प्रकट कर दी है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद विदित हो जावे।

प्रश्न—अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त, अहंकार नित्य हैं अथवा अनित्य ?

उत्तर—इनके दो भेद हैं; एक शक्ति, दूसरे करण। शक्तियां सब जीवात्मा का स्वभाव (गुण) होने से नित्य हैं। और करण सब कार्य होने से अनित्य हैं।

प्रश्न—जब कि जीव की शक्तियां न्यूनाधिक होती हैं, जिनसे उनका विकार होना स्वीकार किया जाता है। और जो वस्तु विकार वाली होती है। अतः वह शक्तियां उत्पन्न होनेवाली हैं। और शक्तियां जीवात्मा का स्वाभाविक गुण आपने स्वीकार

किया है और विकार वाली नाशवान् हैं। इसलिये जीवात्मा भी कार्य और नाशवान् स्वीकार करना पड़ेगा।

उत्तर—जीवात्मा की शक्ति बढ़ती घटती नहीं, किंतु उसके साधन अर्थात् कारण बढ़ते घटते हैं। दूसरे, शक्ति का न्यूनाधिक जीव के विचार से होता है। अतः साधन और विचार में परिवर्त्तन है, न कि जीवात्मा की शक्ति में। यथा हम कभी तो बालकों के बल से तमाचा मारते हैं, जब कि वह दोषी होते हैं। और कभी प्रेम से बहुत हलका मारते हैं। क्या इन दोनों दशाओं में हमारी शक्ति में भेद होता है अथवा विचार में। इसी प्रकार कभी नेत्र सूर्य की रोशनी में देखता है और पर्वत पर से देखता है, तो पचास और सौ कोस के वृक्ष तथा मकान देख पड़ते हैं। और दीप के प्रकाश में अथवा कूप के भीतर घुस कर देखते हैं, तो घर और कूप के बाहर की वस्तु भी नहीं देख पड़ती। क्या यह साधनों की न्यूनाधिकता है, अथवा नेत्र की शक्ति की। अतः साधन परिवर्तन होने से अनित्य हैं और शक्तियां एक रस अर्थात् नित्य हैं। कर्मेन्द्रियों की शक्ति साधनों और विचार से और और ज्ञानेन्द्रियों के साधनों से न्यूनाधिक मालूम होती है। वास्तव में वह एक वर्ष है, इसलिये कार्यरूप न होने से शक्ति उत्पन्न होने वाली नहीं और न उन शक्तियों का भण्डार जीवात्मा उत्पन्न होने वाला है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जीव को माया की कार्य और अविद्या उपाधि से अथवा इस अन्तःकरण से मिला हुआ मानते हैं और अंतःकरण के नाश से जीवात्मा का नाश स्वीकार करते हैं?

उत्तर—यह आत्मविद्या अथवा वेदान्त-शास्त्र के ज्ञान के कारण हैं। क्योंकि माया का कार्य अंतःकरण उपाधि किसने बनाया और किसके वास्ते बनाया। यदि कहो ब्रह्म ने अपनी माया से बनाया तो प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म स्वाभाविक कर्त्ता है अथवा नैमित्तिक है। यदि कहो कि स्वाभाविक कर्त्ता है तो जीव नित्य हो जावेगा, इसका नाश मानना अविद्या होगी। क्योंकि ब्रह्म अपने स्वभाव से अंतःकरण बनाता ही रहेगा और उस उपाधि से उपा हुआ होने से जीव भी बना रहेगा। यदि ब्रह्म नैमित्तक कर्त्ता है, तो इरादा दो प्रकार का होता है। लाभदायक और अप्राप्ति वस्तु को प्राप्त करने का और प्राप्त हानिकारक वस्तु को नाश करने का। अब जिस वस्तु अर्थात् अंतःकरण को ब्रह्म ने उत्पन्न करने का विचार किया वह उस के लिये लाभदायक होना आवश्यक है। लाभदायक यह वस्तु होती है, जो दोष को दूर करे अथवा त्रुटि को पूरा करे। अब ब्रह्म ने अपने किस दोष को दूर करने और किस कमी को पूरा करने के लिये अन्तःकरण बनाया। इसका पता नहीं लग सकता, क्योंकि ब्रह्म में न तो कमी है और न कोई दोष है। जब अन्तःकरण के बनाने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती, तो विचार से यह कार्य उपाधि उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे जीव का उत्पन्न होना और नाश होना संभव हो। अतः जीव को अनादि मानना ही ठीक है। जीव बिना अन्तःकरण के न तो अपने स्वरूप को जान सकता है और न प्रेम के आनन्द को प्राप्त करने के जो साधन हैं, वह कर सकता है। इसलिए जीवों के लिए माया से अपनी दया के कारण अन्तःकरण और सब जगत् बनाता है।

प्रश्न—ब्रह्म में अन्तःकरण के न होने से माया के गुणों को भोगने की शक्ति न थी, इसलिए उसने अन्तःकरण को बनाकर अपनी इस कमी को पूरा किया।

उत्तर—अन्तःकरण से सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ होगया, जिससे ब्रह्म में दोष उत्पन्न होगया और कोई काम दोष बढ़ाने को नहीं किया जाता। अतः यह विचार सत्य नहीं। दूसरे भोग सुख, दुःख बुद्धि का नाम है। दुःख भोगने की तो किसी को इच्छा नहीं होती और सुख प्रकृति का गुण नहीं। इसलिये दुःख स्वरूप प्रकृति के गुणों के भोगने के योग्य न होना उत्तमता है। कमी नहीं। अतः उत्तमता को दूर करने और दोष को उत्पन्न करने के लिये कोई बुद्धिमान मनुष्य भी काम नहीं करता। तो सर्वज्ञ ब्रह्म किस प्रकार कर सकता है। अतः ब्रह्म को जीव बनाना अपने को दोषी बनाना है, जो असम्भव है। ऐसी अविद्या ब्रह्म में नहीं आ सकती, जिससे वह आनन्द स्वरूप होकर दुःख भोगने की इच्छा करे, सर्वज्ञ होकर अल्पज्ञ बन जावे। क्योंकि ऐसा मानना वेद विरुद्ध है, इसलिये सत्य नहीं। दूसरे ब्रह्म ने अन्तःकरण किस से बनाया। यदि कहो माया से, तो माया गुण है, अथवा द्रव्य और नित्य है अथवा अनित्य। यदि कहो नित्य है, तो अद्वैत सिद्धान्त गिर गया, क्योंकि ब्रह्म के साथ माया भी नित्य हो गई। यदि कहो अनित्य है, तो उसको ब्रह्म ने किस से बनाया। यदि माया का उपादान कारण कुछ और बताना होगा, तो इसके सम्बन्ध में भी यही शङ्का होगी। यदि माया को ब्रह्म का गुणी मान कर अद्वैत बताओगे, तो गुण से गुणी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस लिए ससार में एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ गुण से गुणी उत्पन्न होता दृष्टि पड़े।

प्रश्न—क्या तुम ब्रह्म को अद्वैत नहीं मानते ?

उत्तर—हम ब्रह्म को अद्वैत इस प्रकार मानते हैं कि प्रभु नित्य है। उसका ऐश्वर्य प्रकृति अथवा माया भी नित्य है। किसी स्वामी की सम्पत्ति उसको मिल नहीं सकती। इसलिए प्रकृति की विद्यमानता में उसका स्वामी ब्रह्म अद्वैत ही बना रहता है। दूसरे, ब्रह्म राजा है, जीव उसकी प्रजा है। किसी राजा की प्रजा भी उसके समान नहीं कही जा सकती, किन्तु सम्पत्ति और प्रजा राजा को वास्तव में राजा सिद्ध करने वाली होती है। नहीं तो बिना सम्पत्ति और प्रजा के राजा सतरञ्ज के खेल से अधिक क्या मान रख सकता है। यदि राजा नित्य होगा तो उसकी सम्पत्ति और प्रजा भी नित्य होगी। जिसकी सम्पत्ति और प्रजा नित्य न हो, वह बनावटी राजा होगा। चाहे वह राज उसने स्वयम् उत्पन्न किया हो परन्तु नित्य राजा कभी नहीं होगा।

प्रश्न—यह सब विद्वानों का एक सिद्धान्त है कि ब्रह्म सजाति विजाति और स्वगति भेद से शून्य है। यदि जीव प्रकृति को ब्रह्म से अलग सत् माना जावे, तो विजाति भेद तो विद्यमान रहा, जिससे सिद्धान्त बिगड़ जाता है।

उत्तर—प्रथम तो ब्रह्म में जाति ही नहीं, क्योंकि जाति बहुतों में होती है। और ब्रह्म एक है, इसमें जाति का लक्षण पाया नहीं जाता। दूसरे जाति का चिह्न आकृति है और ब्रह्म निराकार है; इसलिये जीव इसमें मौजूद नहीं। जब ब्रह्म में जाति नहीं, तो समान जाति और पृथक् जाति हो ही नहीं सकती। तीसरे विजाति का अर्थ यहाँ पृथक् जाति नहीं; किन्तु विरुद्ध जाति है। और जीव प्रकृति ब्रह्म की प्रजा और सम्पत्ति है, इस कारण विरुद्ध है। नहीं तो विजाति वस्तु किस प्रकार हो सकती है।

प्रश्न—सात अङ्ग कौन से हैं ?

उत्तर—अग्नि इसका घर, चन्द्र सूर्य नेत्र, वायु, प्राण, वेद उसकी वाणी अथवा रसना, दिशा-श्रोत्र, आकाश-नाभि, पृथिवी पाँव हैं।

प्रश्न—अग्नि को सिर और पृथिवी को पाँव क्यों कहा ?

उत्तर—अग्नि सतोगुणी होने से सब से ऊपर का भाग अर्थात् सिर है अर्थात् सतोगुण जीव मनुष्य जाति का सिर अर्थात् सब से उच्च है। और पृथिवी तमोगुण है और पाँव सब से नीचे हैं। इस कारण बताया कि तमोगुणी जीव सब से नीचे हैं, रजोगुणी और श्रोत मध्यम हैं।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशति-मुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीय पादः ॥

प० क्र०—(स्वप्नस्थान) स्वप्न अवस्था। (अन्तः प्रज्ञः) भीतर की ओर है बुद्धि जिसकी। (सप्ताङ्ग) सात अंग हैं। (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (प्रविविक्तभुक्) बाह्य विषयों के न होने पर भोगने वाली है। (तैजसः) तैजस नाम वाला आत्मा। (द्वितीयपादः) दूसरा पाद है।

अर्थ—जिस अवस्था में जीवात्मा स्वप्न देखता है, उस समय उसकी बुद्धि अर्थात् मन के जानने वाली वृत्ति अथवा इसका स्वाभाविक ज्ञान संसार में बाह्य विषयों से सम्बन्ध न रखता हुआ सात अंगों और उन्नीस मुखों से जिनका उपर्युक्त वर्णन हुआ, उन्हीं पदार्थों को भोगता है कि जिनके संस्कार जागने की दशा में मन पर पड़ गये हैं। इस अवस्था में इसका नाम तैजस कहलाता है और यह दूसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न अवस्था में वही पदार्थ दृष्टि पड़ते हैं जिनके संस्कार जागने की अवस्था में पड़ गये हैं, अथवा अन्य वस्तु भी दृष्टि पढ़ सकती है।

उत्तर—जागृत अवस्था में तो जीवात्मा बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब उतारता है। जिस प्रकार फोटूग्राफ़र के कैमरे में दो शीशा होते हैं, एक बाहर का शीशा दूसरा भीतर का प्रकाश की किरणें उस वस्तु के प्रतिबिम्ब को प्रथम शीशा पर डालती हैं, तो वह उलटा पड़ता है। जब दूसरे शीशा पर जाता है, तो सीधा हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा फोटूग्राफर के लिये परमात्मा ने यह मनुष्य का शरीर कैमरा बनादिया है जिस के बाहर के शीशा तो इन्द्रियाँ हैं और भीतर का शीशा मन है, इंन्द्रियों का सहायक प्रकाश उनके विषय का फोटू इंन्द्रियों पर डालता है, जिससे वह उलटा होता है, और मन पर जाकर सीधा हो जाता है। जब जीवात्मा बाहर के शीशों को बंद कर देता है, तो नवीन फोटू उतरने बंद हो जाते हैं। केवल जो कुछ फोटू में उतरा हुआ है, उसी को देखता है। जो वस्तु बाहर न होगी, उसका चित्र शीशा पर नहीं आ सकता। जो चित्र शीशा पर न हो, उसको कैसे देख सकते है। अतः स्वप्न में वही जाना जाता है जो कि जागृत अवस्था में देखा हुआ होता है। अतिरिक्त जागृत के देखे हुए संस्कारों के स्वप्न में कुछ भी नहीं आ सकता। जागृत जीवात्मा के फोटू खींचने की अवस्था का नाम है। और स्वप्न उन फोटू के देखने का नाम है।

प्रश्न—हम बहुत सी वस्तुएं स्वप्न देखते हैं कि जिन को हमने जन्म भर में कहीं नहीं देखा ?

उत्तर—यदि इसी जन्म के संस्कार मन में होते, तो यह कहना ठीक था। परंतु मन में सहस्रों जन्मों के संस्कार विद्यमान होते हैं, जो वस्तुतः हमारी देखी हुई वस्तुओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। परन्तु अल्पबुद्धि हम समझते हैं कि वह हमारी देखी हुई

नहीं। वास्तव में जब जीव मुक्ति से लौट कर योनिज सृष्टि में आता है, तब उसको नवीन मन मिलता है। और इस समय से लेकर अब तक जितने जन्म व्यतीत हुए हैं, सब के संस्कार हमारे भीतर प्रस्तुत है। जिसको योगीजन जानते हैं, परन्तु दूसरों को ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—क्या कारण है कि हमारे भीतर जो संस्कार विद्यमान हैं उनको भी हम नहीं जानते? और योगी किस प्रकार जानते हैं?

उत्तर—यदि तुम एक खत्ता में दो फीट गेहूँ (गोधूम) भर दो उसके ऊपर दो फुट चने डाल दो, उसके ऊपर दो फुट यवे डाल दो उसके ऊपर दो फुट मकई, इसी प्रकार बीस भाँति के अन्न इस खत्ते में भर दो। फिर ऊपर से देखो तो सब से पीछे जो चावल डाले हैं वही दृष्टि पड़ेंगे। नीचे वाले सब अन्न मौजूद होते हुए भी दृष्टि नहीं आवेंगे। यही संस्कारों की अवस्था है। जो समीप के होते हैं, वह स्मरण रहते हैं; जितनी देर होती जाती है, वह नवीन पड़ने वालों के नीचे दब जाते हैं। जिसको सर्व मनुष्य अनुभव नहीं कर सकते। जो खोद कर देखता है, उसको मालूम होते हैं। योगी का मन और विचार शक्ति ठीक होती है, इस कारण वह इन संस्कारों को मालूम कर सकता है जैसा कि महात्मा कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि—"हे अर्जुन! मेरे तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हुए हैं। परन्तु मैं उन जन्मों को जानता हूँ और तू नहीं जानता।

प्रश्न—बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि योगी का ज्ञान इतना बढ़ जावे? यद्यपि हम गीतादि अवलोकन करते हैं, विद्वानों से श्रवण करते हैं, परन्तु बिना युक्ति मानने को उद्यत नहीं।

उत्तर—जिस प्रकार गंगा एक धार में बहती है, तो इसमें यह शक्ति होती है कि बड़े बड़े मकानों को बहा ले जाती है। परन्तु जब उस गंगा में नहरों के द्वारा छोटी नालियां कर दी जाती हैं, तो वह एक ईंट को भी बहा नहीं सकती। ऐसे ही जब मन का भाव वृत्तियों के एकत्र होने से एक ओर चलता है, तो बड़े बड़े पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, सूक्ष्म तथा दूर की वस्तु को जान सकता है। परन्तु जब मन वृत्ति फैल जाती है, तो उसकी शक्ति न्यून हो जाती है।

प्रश्न—जब कि मन भी आत्मा से बाहर है; तो उसका भीतर स्थान क्यों बताया ?

उत्तर—इन्द्रियों की अपेक्षा मन भीतर है अर्थात् इन्द्रियां बाहर का शीशा और मन भीतर का शीशा है। इस कारण भीतर स्थान में बुद्धि का काम करना बताया है।

प्रश्न—जागृत और स्वप्न अवस्था में क्या अन्तर है ?

उत्तर—हम ऊपर कथन कर आये हैं, कि जागृत अवस्था में बाहर की वस्तुओं का फोटू लेता और उससे दुःख सुख अनुभव करता है। और स्वप्न अवस्था में बिना बाहर की वस्तु होने के, भीतर ही फोटू को देखता है और इसे दुःख सुख मानता है। अतः जीव की इस अवस्था को जब बाहर के विषय की उपस्थिति में सुख दुःख को अनुभव करता है, पशु कहते हैं। और जब बाहर के विषयों की अनुपस्थिति में सुख दुःख को भोगता है, उस समय तैजस कहाता है।

प्रश्न—स्वप्न में जिन वस्तुओं को भोगते हैं, उस में तो प्रभाव शरीर पर भी पड़ जाता है। लेकिन फोटू के देखने की दशा में प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता।

उत्तर—यदि कभी स्वरूपवान का फोटू देखते हैं, तो प्रसन्नता; और निकृष्ट आकृति का फोटू देखने से घृणा उत्पन्न होती है। सहस्रों मनुष्य फोटू देखने से ही मस्त हो गये। इस कारण जो प्रभाव स्वप्न से शरीर पर मन के द्वारा पड़ता है, वही फोटू के देखने से भी पड़ताहै।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

प० क०—(यत्र) जिस अवस्था में। (सुप्तो) सोया हुआ। (न) नहीं। (कञ्चन कामं) किसी काम को। (कामयते) इच्छा करता। (न) नहीं। (कञ्चन) कोई। (स्वप्नं) स्वप्न। (पश्यति) देखता है। (तत्) वह। (सुषुप्तम्) सुषुप्ति की अवस्था है। (सुषुप्तस्थान) उस स्थान पर। (एकीभूतः) समस्त ज्ञान। एकत्रित होकर। (प्रज्ञानघन) अंधेरी रात्रि की भांति विवेक रहित ज्ञान। (एव) है। (आनन्दमयः) आनन्द युक्त। (आन्दभुक) आनन्द को भोगता है। (चेतोमुखः) केवल स्वाभाविक ज्ञान ही जिसका मुख है। (प्राज्ञः) प्राज्ञ नाम वाला (तृतीय पादः) यह तीसरा पाद है।

अर्थ—जब यह जीवात्मा बाहर के ज्ञान से पृथक् होकर ऐसी अवस्था में चला जाता है, जहाँ उसकी इच्छा शेष नहीं रहती और न किसी प्रकार का स्वप्न देखता है। अर्थात् पूर्व देखे हुये ज्ञान का भी कुछ प्रभाव शेष नहीं रहता। अर्थात् बाहर के ज्ञान से निःसम्बन्ध होकर और बाहर के ज्ञान के

कारण इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध को त्याग कर जब जीव भीतर की ओर लग जाता है, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में सब बाह्य ज्ञानों के दूर होजाने से, विवेक से रहित ज्ञान; जैसे अंधेरी रात में नेत्र लाल काले रूप के विवेक से रहित होकर अंधेरा ही अंधेरा देखते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भीतर देखता है, उस समय एक ही दृष्टि आता है, और आनन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द को जो बाहर की ओर लग जाने से दूर होगया था, भोगता है। उस समय भोगने का साधन केवल स्वाभाविक ज्ञान जो जीवात्मा का जातीय गुण है, प्रस्तुत होता है। कोई अन्य यन्त्र मन इत्यादि नहीं होता। इस अवस्था में जीव का नाम प्राज्ञ होता है। यह तीसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न की दशा में जीवात्मा आनन्द भोगता है ?

उत्तर—अवश्य, तीन दशाओं में जीव को ब्रह्म का गुण आनन्द मिलता है। एक समाधि की अवस्था में, दूसरे सुषुप्ति की अवस्था में, तीसरे मुक्ति अवस्था में। अतएव महर्षि कपिल जी सांख्यदर्शन में लिखते हैं—"समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपिता।" अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मुक्त इन तीन अवस्थाओं में सत्चित्त स्वरूप आत्मा ब्रह्म के गुण नैमित्तिक आनन्द से ब्रह्मरूपिता अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त होता; अर्थात् उस अवस्था में जीव भी सच्चिदानन्द कहाता है। जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से उष्ण होकर अग्नि के गुण वाला हो जाता है, तो उसमें अग्नि का गुण जलाना इत्यादि मौजूद होते; परन्तु अपने गुण भार इत्यादि भी उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार जीव में ब्रह्म का गुण आनन्द आ जाता है; परन्तु उसका अपना गुण अल्पज्ञता भी मौजूद होती है। जिस

प्रकार अग्नि रूप लोहे के गोले को अग्नि कह सकते हैं। ऐसे ही समाधि की अवस्था में जीव को ब्रह्म भी कह सकते हैं। परन्तु यह कहना उपचार से होता है, वास्तव में नहीं।

प्रश्न—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति के स्वरूप मे क्या अन्तर है?

उत्तर—जब ज्ञान सहित और शरीर रहित ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध होता है, उस अवस्था का नाम समाधि है। और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव का ब्रह्म मे सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। और शरीर रहित और ज्ञान सहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—क्या स्थूल शरीर की विद्यमानता में ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध हो सकता है?

उत्तर—जब तक स्थूल शरीर का जीव को अभिमान है, तब तक ब्रह्म से सम्बन्ध हो नहीं सकता। परन्तु समाधि और सुषुप्ति में जब अभिमान नहीं रहता, तो ब्रह्म से सम्बंध हो जाता है। क्योंकि जीव को बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध कराने वाला अहङ्कार ही है, और समाधि, सुषुप्ति की दशा में अहङ्कार विद्यमान नहीं होता। जब अहङ्कार न हो, तो उसका प्रकृति से सम्बंध नहीं हो सकता। जब प्रकृति से सम्बन्ध नहीं, तो ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अवश्य होगा। क्योंकि चेतन जीवात्मा बिना सम्बन्ध के नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सुषुप्ति में ज्ञान रहता है? जिससे वह आनन्द भोगता है।

उत्तर—जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान है, वह जीव से किस प्रकार पृथक् होना हो सकता है। जिस प्रकार अग्नि

से उष्णता का पृथक् असम्भव है, ऐसे ही जीव से ज्ञान का पृथक् होना भी असम्भव है यदि बाहरी ज्ञान के साधन होंगे, तो बाहर की वस्तुओं को जानेगा, यदि साधन न होंगे, तो भीतर की वस्तुओं को जानेगा। अतः जब जाग उठता है, तो कहता है कि आज मैं सुख से सोया जिससे स्पष्ट विदित होता है कि उसको इस बात का ज्ञान था कि सुख है। यद्यपि बाहरी पदार्थों से बे खबर होता है, परन्तु ज्ञान से शून्य नहीं।

प्रश्न—बहुत मनुष्य कहते हैं कि सोने के समय ज्ञान नहीं होता। जब जाग कर देखता है, तब कहता है। क्यों कि जागने से पूर्व कोई नहीं कहता।

उत्तर—यदि ऐसा स्वीकार किया जावे, तो मूर्खता ही कहलावेगी। क्योंकि जिस समय ज्ञान नहीं था, उस समय सुख था और जब ज्ञान हुआ, तब सुख नहीं। तब सुख से सोने को किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं। ऐसा कहने वाले महाशय सुख के स्वरूप से भी अनभिज्ञ हैं। क्योंकि सुख दुःख दोनों बुद्धि अर्थात् ज्ञान हैं। यदि ज्ञान न हो, तो सुख कह ही नहीं सकते।

प्रश्न—फिर योग दर्शन में क्यों लिखा है कि ज्ञान की अभाव वृत्ति का नाम निद्रा है। क्या पातञ्जलि को भी सुख का स्वरूप विदित नहीं था।

उत्तर—योग दर्शन के कर्त्ता का आशय बाह्य ज्ञान से है, अतः निद्रा की अवस्था में बाहरी ज्ञान का अभाव होता है।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि बाहर का ज्ञान नहीं होता और भीतर का ज्ञान होता है।

उत्तर—प्रथम तो जीवात्मा का चैतन होना ही इस का प्रमाण है। क्योंकि चेतन किसी समय भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता। द्वितीय, सुषुप्ति में सुख होना भी इस बात का प्रमाण है कि सुखानुकूल ज्ञान का नाम है। तृतीय, जाग कर यह कहना कि आज ऐसा सुख से सोया कि कुछ स्मरण नहीं रहा। जिससे स्पष्ट विदित है कि बाहर कीकुछ सुधन थी केवल सुख की सुधि थी। अब जीव की तीनों अवस्थाओं का कथन करके जिससे भीतर जाकर जीव समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म का कथन करते हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः। सर्वस्य प्रभावप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६ ॥

प० क्र०—(एषः) यह। (सर्वेश्वर) सब का स्वामी। (एषः) यही। (सर्वज्ञः) सब कुछ जानने वाला। (एषः) यह। (अन्तर्यामी) सब के भीतर रहकर नियमानुकूल चलाने वाला। (एषः) यही। (योनिःसर्वस्य) सब जगत्‌का कारण। (प्रभव) उत्पन्न होने। (अप्ययौ) सुख पाने। (भूतानाम्) भूतों के।

अर्थ—यह परमात्मा सब का स्वामी है, जो सब के कर्मों को जानने वाला है। जो सर्वव्यापक होकर उनको नियमानुकूल चल रहा है, यही सबका निमित्त कारण है और अपने ऐश्वर्य से ही कुल जगत् को बनाता है और सम्पूर्ण जीव उसी से सुख पाते हैं। जब जीव अपनी तीन दशाओं से पार होकर, भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन करता है। तब उसको परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति होती है। तब वह यह कहता है कि यह जो

मेरा अन्तर्यामी है, यही सब का स्वामी, यही सब का ज्ञाता यही सब जगत् का अपनी सामग्री से उत्पादक है। इसी से सब को आनन्द प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—प्रायः मनुष्य कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी जो जीवात्मा है, वही सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादि है।

उत्तर—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस दशा में किस का अन्तर्यामी होगा। सुषुप्ति की दशा में भी अन्तर्यामी होना आवश्यक है, उस समय किसका अन्तर्यामी होगा; क्योंकि बाहर के विषयों से तो कोई सम्बन्ध नहीं। अतः सुषुप्ति की दशा में जीव का अन्तर्यामी है। पूर्व तो यह सन्देह हो सकता था कि आनन्द बाहरी विषयों से मिलता है। जागृत में बाहरी विषय और स्वप्न में उसका प्रतिबिम्ब आनन्द का कारण कह सकते थे। अतः सुषुप्ति की दशा में न तो बाहर के विषय ही प्रस्तुत हैं न उनका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत है। अब जिससे जीव आनन्द को प्राप्त होता है, वह कोई बाहरी वस्तु नहीं, किन्तु वह भीतर वास करने वाला है। उसी के यह लक्षण प्रकट किये हैं।

प्रश्न—यहाँ तो ओंकार जो परमात्मा है उसके चार पाद बताये हैं, जिस से जीव ब्रह्म का भेद प्रकट किया है। तुम और ही ओर चल रहे हो।

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ है व्यापक। उस की जो चार सीढ़ियां हैं, वह आत्मा के चार पाद। पहले जागृत अवस्था में जिस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा है, उस के भीतर जो व्यापक है, वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म होने से उस में व्यापक कारण शरीर है। कारण शरीर

से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक जीवात्मा है। और जीवात्मा से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक परमात्मा है। जो मनुष्य आत्मज्ञान के तीन मार्गों को व्यतीत करके चौथे मार्ग में पहुँचते हैं, तो उनको जीवात्मा अर्थात् अपने भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। और उस से वह आनन्द को प्राप्त करके कहते हैं कि यह जो मुझ में व्यापक है, वह ब्रह्म है। तीन मार्गों में तो जीव व्यापक है, चौथे मार्ग में जीव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। यद्यपि जीव ब्रह्म में कोई दूरी नहीं होती, इस कारण अभेद कहते हैं। यथा नेत्र में अञ्जन है, अब नेत्र और अंजन में दूरी नहीं। क्योंकि दूरी तीन प्रकार की होती है, एक देश की, दूसरे काल की, तीसरे ज्ञान की दूरी। नेत्र और अञ्जन देश और काल की दूरी से तो पृथक् होने से, केवल ज्ञान की दूरी है। जब जीवात्मा अपने ज्ञान को बाहर की ओर से हटाकर भीतर देखता है, वह ज्ञान की दूरी भी दूर हो जाती है। इसी दूरी के दूर करने का नाम अभेदज्ञान है; न कि जीव ब्रह्म को एक मानने का।

प्रश्न—जीव ब्रह्म के दो होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र में जीव ब्रह्म के दो होने में इतने प्रमाण दिये हैं कि जिस से किसी मूर्ख को भी इनका एक होना मालूम नहीं होता। प्रथम, ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द ही इस बात का प्रमाण है। द्वितीय, ब्रह्म का जीव के भीतर होना जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति से प्रकट होता है। तृतीय, ब्रह्म के चार पाद होना। चतुर्थ, वेदांतके सूत्रों में स्थान स्थान पर व्यास जी का यह बताना कि श्रुति ने जीव ब्रह्म का भेद बताया है। जिस को हम वेदांतदर्शन के भाष्य में प्रकट कर चुके हैं। इस कारण अभेद पाद का तात्पर्य इतना ही है

कि जीव ब्रह्म में दूरी नहीं। जिस के लिये किसी को (दूत) की आवश्यकता पड़े। किन्तु अन्तःकरण के दर्पण को शुद्ध करके भीतर देखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये इतने विशेषण क्यों दिये ?

उत्तर—पहले कहा यह ब्रह्म सब का स्वामी अथवा ईश्वर है। परन्तु वेदान्तदर्शन में मुक्त जीव का नाम भी ईश्वर स्वीकार किया गया है। फिर जीव को अल्पज्ञ समझ कर सर्वज्ञ बताया। फिर शंका हुई कि मनुष्य योगियों को भी सर्वज्ञ कहते हैं। इस कारण अन्तर्यामी कहा। क्योंकि किसी जीव के भीतर कोई दूसरा जीव नहीं जा सकता। यदि अन्तर्यामी शब्द न देते, तो उपाधि कृत भेष वालों का मत बन सकता था परन्तु श्रुति ने अन्तर्यामी शब्द देकर जीव ब्रह्म को एक मानने वालों का गढ़ ही गिरा दिया। यहाँ तक कि आनन्दगिरि जैसे अद्वैतवादियों को मानना पड़ा कि किसी दूसरे को भीतर प्रवेश होकर नियमानुकूल चलाने की सामर्थ्य नहीं। फिर इस बात को स्वीकार करने के लिये सारे जगत् का कारण बता दिया, जिस से किसी को जीव भ्रम न रहे। क्योंकि वेदान्तदर्शन में स्थान स्थान पर सिद्ध कर दिया है कि जीव अथवा प्रकृति जगत कर्त्ता नहीं। इसके पश्चात् यह कह कर कि उससे आनन्द को प्राप्त करते हैं, अतः आनन्द स्वरूप तो अतिरिक्त ब्रह्म के कोई भी नहीं। जिस पर वेदान्त के प्रथम पाद में अत्यन्त सबल विचार किया गया है। क्या इन विशेषणों को देख कर भी जीव ब्रह्म के एक होने का ख्याल रह सकता है? निस्सन्देह जो नेत्रों में पट्टी बाँध कर इसको देखते हैं, तो इसका उपाय क्या हो सकता है। अब उस ब्रह्म को जीव से पृथक् करते हैं।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञा घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ ७ ॥

प० क्र०—(नांतः प्रज्ञं) भीतर की ओर ज्ञान नहीं। (न बहिः प्रज्ञं) बुद्धि नहीं जाती। (नोभय प्रज्ञं) न दोनों ओर भीतर बाहर बुद्धि जाती है। (न प्रज्ञान घनं) न अँधेरे की ओर एक ही ज्ञान होता है। (नः) नहीं। (प्रज्ञं) प्राप्त किया हुआ ज्ञान। (न) नहीं। (अप्रज्ञं) ज्ञान की जड़ता। (अदृष्टम्) नेत्रों के देखने योग्य नहीं। (अव्यवहार्यम्) व्यवहार दशा से रहित। (अग्राह्यम्) पकड़ने योग्य नहीं। (अलक्षणम्) जिसका लक्षण इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। (अचिंत्यम्) मन की कल्पना शक्ति जिसकी सीमा को नहीं पा सकती। (अव्यपदेश्यम्) जो किसी नाम के कहने से ध्यान में नहीं आता। (एकात्मा प्रत्ययसारं) जिसको एक आत्मा ही जानने का अधिकारी है। (प्रपंचोपशम) बाहर पंच भौतिक ज्ञान से एक होकर। (शांत) जो शांत अर्थात् विक्षेप रहित है। (शिवम्) जो कल्याणकारी और शरीर, मन और प्राणों के धर्म से रहित। (अद्वैतं) अनुपम। (चतुर्थं) चौथा। (मन्यन्ते) विचार करते या मानते हैं। (स आत्मा) वह जीवात्मा है। (स) वह। (विज्ञेयः) जानने योग्य है।

अर्थ—परमात्मा सब से सूक्ष्म है, इस कारण इसके भीतर कोई पदार्थ नहीं। अतः वह भीतर किसको देख सकता

है, जिससे उसको भीतरी ज्ञान हो ? और परमात्मा के सर्व-व्यापक होने से उससे कोई वस्तु बाहर नहीं, जिसको वह बाह्य ज्ञान के द्वारा देखे और बाहरी बुद्धि को प्राप्त करे। और जब उसके भीतर बाहर कुछ नहीं, तो दोनों ओर जाने वाली बुद्धि भी उसकी नहीं हो सकती। और न अन्धेरे में केवल उसको अन्धेरा ही दृष्टि पड़ता है, जिसको एक ही प्रकार का ज्ञान कहा जावे और न उसे नैमित्तिक ज्ञान होता है और न कोई वस्तु ऐसी है जिसको वह न जानता हो। क्योंकि उसको पूर्व सर्वज्ञ बता चुके हैं। अतः वह क्या है, जो इन्द्रियों मे नहीं जाना जाता। नाम रूप के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से उसमें व्यवहार दशा नहीं हो सकती। उसका कोई लक्षण ही ऐसा नहीं हो सकता जो इंद्रियों से प्रत्यक्ष हो सके। मन से कितना ही विचार किया जावे, उसके अनन्त गुणों की सीमा नहीं। वह ऐसा आकृति नहीं कि जो केवल नाम लेने से ही उसका स्वरूप स्मरण हो जावे। उसको केवल जीवात्मा ही जान सकता है। जब कि इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य बाह्य वस्तुओं से मन को पृथक् करले और उपासना के द्वारा चंचल मन को शान्त और स्थिर करे, वह कल्याणकारक क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, बुढ़ापा, मौत से रहित और अनुभव है। जिसके समान कोई नहीं हुआ है, न होगा। उसको चतुर्थ पाद मानते हैं, वही इसके जीव के भीतर वास करने वाला आत्मा है, वही जानने योग्य है। जो इसको नहीं जानता, वह अपने जन्म को नष्ट करता है।

प्रश्न—जब कि वेद ने यह बताया है कि जो मनुष्य सब भूतों को आत्मा के भीतर देखता है और सब के भीतर आत्मा को देखता है। इससे स्पष्ट विदित है कि सब आत्मा के भीतर हैं, तो उसको भीतर का ज्ञान आवश्यकीय है। और जब वह

सब के भीतर है, तो सब उससे बाहर हैं। इस कारण बाहर का ज्ञान भी अवश्य चाहिये। फिर श्रुति ने क्यों कहा कि वह भीतर बाहर के ज्ञान से रहित है?

उत्तर—भीतर के कहने से आशय परमात्मा से सूक्ष्म कोई नहीं, जिसको भीतर जाकर देखने की आवश्यकता हो। जैसे जीव को भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन की आवश्यकता है। और बाहर कहने से यह आशय है कि वह एक देशी नहीं, जिसको बाहर की वस्तुओं के देखने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता हो। दूसरी बात यह है कि जीवात्मा को नैमित्तिक ज्ञान होता है, परमात्मा को न भीतर का न बाहर का ही नैमित्तिक ज्ञान होता है।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म अदृश्य अर्थात् देखने योग्य नहीं तो बृहदारण्यकोपनिषद् में क्यों लिखा है कि—हे मैत्रेयि! आत्मा ही देखने सुनने योग्य और मनन करने योग्य है।

उत्तर—आत्मा इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, इस कारण अदृष्ट कहा है। परन्तु मन से उसका प्रत्यक्ष होता है। इस कारण देखने योग्य कहा है केवल थोड़ा सा विचार करने से विदित होता है कि दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं।

प्रश्न—परन्तु उपनिषद् में बताया है कि वह मन से चेतन नहीं किया जाता फिर उसका मन से प्रत्यक्ष मानना भी युक्ति से ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि श्रुति इसका खण्डन करती है।

उत्तर—कठोपनिषद् की श्रुति से स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है। वास्तव में मन की दो दशाएँ है। एक मल विक्षेप और आवरण दोष से रहित

मन। दूसरे इन दोषों से युक्त मन जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से नहीं जाना जाता, उसका आशय मन विक्षेप और आवरण दोष युक्त मन से है। और जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से जाना जाता है, उसका आशय मल विक्षेप आवरण दोष से रहित मन से है। यदि परमात्मा का ज्ञान किसी भांति न हो तो उसकी सत्ता ही किस प्रकार स्वीकार की जावे।

प्रश्न—मल दोष किसे कहते हैं।

उत्तर—मन में जो दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार है वही मल दोष है। जब तक यह दोष बना हुआ है, तब तक मन परमात्मा को जानने में साधन नहीं हो सकता। यथा दर्पण से नेत्र और उसके भीतर रहने वाले सुरमा (अञ्जन) का दर्शन होता है। परन्तु मैला दर्पण नेत्र और सुरमा का दर्शन नहीं करा सकता। इस कारण नेत्र और सुरमा को देखने वाले प्रथम दर्पण को शुद्ध करते हैं, जब तक दर्पण शुद्ध न हो, तब तक किस प्रकार उससे ज्ञान हो सकता है। वह मनुष्य मूर्ख है, जो मन को शुद्ध किये बिना जीवात्मा और परमात्मा के देखने की इच्छा रखता है। और वह गुरु कपटी है, जो परमात्मा को दिखाने के लिये अतिरिक्त मन के दोषों के दूर करने के, अन्य साधन बताता है।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते हैं।

उत्तर—मन की चंचलता का नाम विक्षेप दोष है मन इस वेग से संकल्प विकल्प करता है कि इसकी गति विद्युत से भी अधिक है। यदि इस भांति वेग से गति करने वाले दर्पण से, कोई नेत्र और उसके भीतर रहने वाले अंजन का दर्शन करना चाहे, तो क्योंकर सफल हो सकता है।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—यदि दर्पण पर एक कागज पड़ा हो, तो, इसमें नेत्र और नेत्र के भीतर रहने वाले अंजन का दर्शन नहीं हो सकता। अतः जब तक दोष दूर न हों, तब तक आत्मा और परमात्मा का जानना कठिन है।

प्रश्न—क्या इन तीन दोषों के अतिरिक्त परमात्मा के जानने में और भी कोई बाधा है ?

उत्तर—यदि दर्पण शुद्ध हो, परन्तु मकान अंधेरा हो, तो भी नेत्र और सुरमा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस कारण सब से बड़ा दोष जिससे हम जीवात्मा और परमात्मा को नहीं जान सकते; वह अविद्यांधकार है। जब तक अविद्या रहेगी, कोई भी जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप को नहीं जान सकता।

प्रश्न—इन दोषों के दूर करने का उपाय क्या है ? जिस से परमात्मा के जानने योग्य बन सके?

उत्तर—अन्धकार को दूर करने का उपाय ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा वेद वेदाङ्ग और उपाङ्ग को यथावत् पढ़ना। फिर वेद के बताये हुये निष्काम कर्म से मन के मल दोष को दूर करना। जिस प्रकार से मन में अन्य को हानि पहुंचाने का विचार हुआ था, इस के स्थान में दूसरों के साथ परोपकार का विचार नियत करना। जिस के वास्ते गृहस्थाश्रम बनाया गया। फिर विक्षेप दोष को दूर करने के लिये वानप्रस्थाश्रम करके अष्टाङ्ग योगके अभ्यास अथवा वैराग्य द्वारा मन की चंचलता को दूर करना। अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यास के अन्य कोई साधन मन को स्थिर करने का नहीं। पुनः सन्यासाश्रम के द्वारा मन के ऊपर जो अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, इसको

दूर करना। अतएव इन चारों आश्रमों का नियमपूर्वक पालन करना ही परमात्मा को जानने का सन्मार्ग है। इसके विरुद्ध चलने वालों को कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रंपादा मात्रं मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

प० क्र०—(सः) इसलिये। (अयमात्मा) यह जीव के भीतर वास करने वाला आत्मा। (अक्षरम्) नाश रहित। (ओङ्कार) ओ३म् है। (अधिमात्र) मात्रा इनमें बताया गया। (पादः) पाद अर्थात् भागों से विभाजित करके। (मात्रा) मात्रा से विभाग करके। (मात्राश्च) मात्रा में। (पादा) पाद है। (अकार) अकार। (उकार) उकार। (मकार) मकार।

अर्थ—सो यह आत्मा जो विनाश रहित और जीव के भीतर वास करने वाला है। वह पाद और मात्रा के विभाग से विभाजित करके अकार, उकार, मकार के शब्द से प्रकाशित किया गया है। जिससे समझने वालों को सरलता से परमात्मा का ज्ञान हो सके। समस्त संसार में जानने के योग्य चार ही वस्तु हैं, जो चार पाद कहलाते हैं तीन प्रकृति के गुण और एक तीनों से पृथक। चार आश्रम, चार वर्ण, चार वेद, चार अवस्था जानने के चार साधन हैं। किंतु ब्रह्म चार ही से जाना जाता है, इस कारण ओ३म् अक्षर में तीन पाद तो चेतन जीवात्मा के, जो प्रकृति के गुणों को अल्पज्ञता से भोगता है; दिखाकर चौथे में उस जीव के भीतर रहने वाले परमात्मा को प्रकट किया।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति हवै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

प० क्र०—(जागरितस्थानः) जाग्रत दशा का अभिमानी जीव में व्यापक। (वैश्वानर) वैश्वानर नाम वाला। (अकार) अकार। (प्रथमा) प्रथम मात्रा है। (मात्रा) सर्व अक्षरों में व्यापक होने से। (आप्तेः) पाना। (आदिमत्त्वात्) सब अक्षरों में पहिला होने से। (आप्नोति) प्राप्त होता है। (हव) निश्चय करके। (सर्वान् कामान्) सम्पूर्ण इच्छाओं का आदि कारण। (च) भी। (भवति) होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है।

अर्थ—ओंकार की प्रथम जो मात्रा अर्थात् अक्षर अकार है, उसका नाम वैश्वानर है। क्योंकि जिस प्रकार अकार सब अक्षरों में व्यापक है, विना अकार के किसी अक्षर को बोल नहीं सकते। ऐसे ही परमात्मा जो वैश्वानर है, वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है। बिना उसकी सत्ता के संसार के भीतर कोई नियम स्थित नहीं हो सकता। दूसरे सम्पूर्ण अक्षरों में अकार प्रथम है। इसी प्रकार सृष्टि के सर्व कारणों में परमात्मा प्रथम कारण है। अर्थात् कर्ता है। बिना कर्ता के कोई कारण कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अर्थात् मिट्टी कभी अपने आप घड़ा नहीं बन सकती। लोहे से विना कर्ता के घड़ी नहीं बन सकती। जो मनुष्य विना कर्ता के जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उन के पास दृष्टान्त के लिये कोई शब्द नहीं।

प्रश्न—जगत् अनादि है, उसका कोई आदि नहीं और न अकार सब में व्यापक है।

उत्तर—जो वस्तु विकार वाली हो वह अनादि कैसे हो सकती है। जगत् के पदार्थों में षट्विकार अर्थात् १ उत्पन्न होना, २ बढ़ना, ३ एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, ४ रूप बदलना, ५ घटना, ६ नाश होना पाये जाते हैं। जब कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ विकार युक्त है, तो उसका योग विकार से शून्य कैसे हो सकता है ? जब सम्पूर्ण योग के परमाणु विकार युक्त हों, तो वह विकार रहित कैसे हो सकते हैं। अतः जगत् विकारवाला होने से अनादि कभी नहीं हो सकता। और आदि कहते हैं कारण को, अतएव जो उत्पन्न है, उसका कारण अवश्य है। और किसी व्यंजन का उच्चारण विना अकार के नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब कि एकार, उकार का उच्चारण विना अकार के होता है, तो किस प्रकार कहा जावे कि अकार के विना किसी का उच्चारण नहीं हो सकता ?

उत्तर—एकार और उकार दो स्वर इस कारण पृथक् हैं कि जीव और प्रकृति वह जो ब्रह्म की सम्पत्ति तथा प्रजा है, वह नित्य हैं। इस कारण तीन स्वर जो नित्य हैं अर्थात् अकार, ब्रह्म और उकार जीव और एकार प्रकृति। शेष सब स्वर और व्यंजन यौगिक हैं। स्वर की परिभाषा ही यह है कि जो अपने आप हो जिसका कोई कारण न हो। अतः जीव की तीन अवस्थाओं में ब्रह्म उस के भीतर विराजमान होता है। इस कारण तीन पाद और मात्राएँ जीव को दिखा, चौथा पाद और मात्रा ब्रह्म है जीव के भीतर कोई नहीं, वह सब से सूक्ष्म और सब से महान सब के भीतर रह कर उनका प्रबन्धक है। जब तक जीव उसको न जाने, तब तक उसको यथार्थ शान्ति नहीं मिल सकती।

प्रश्न—जब कि जीव, प्रकृति और ब्रह्म तीनों नित्य हैं, तो अकेले ब्रह्म को सब के भीतर मानना और प्रकृति न मानना ठीक नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार अकार के बिना तो किसी व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। क्या एकार उकार की भी यही दशा है ? कदापि नहीं। इस दृष्टान्त से बताया गया है कि ब्रह्म के बिना तो वस्तु स्थित नहीं रह सकती। परन्तु ऐसे पदार्थ जिनके भीतर जीव नहीं, जिससे जगत् दो प्रकार का कहाता है। एक जड़, दूसरे चेतन अथवा स्थावर, जंगम, चराचर इत्यादि।

प्रश्न—भला जीव के होने न होने से तो जड़ चेतन का भेद किया, परन्तु प्रकृति को तो सब के भीतर मानना ही पड़ेगा। फिर अकेले ब्रह्म ही को क्यों व्यापक कहा ?

उत्तर—सूक्ष्म वस्तु के भीतर स्थूल वस्तु नहीं जा सकती, परन्तु स्थूल के भीतर सूक्ष्म जा सकती है। अतः प्रकृति स्थूल है इसके भीतर जीव और ब्रह्म रह सकते हैं, परन्तु जीव, ब्रह्म के भीतर प्रकृति नहीं व्यापक हो सकती। अतः अकेला ब्रह्म ही व्यापक हो सकता है। जीव एक देशी होने से व्यापक नहीं हो सकता और प्रकृति स्थूल होने से।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

प० क्र०—(स्वप्नस्थानः) स्वप्न की दशा जिस स्थान में है। (तैजसः) तैजस नाम। (उकार) द्वितीय मात्रा है।

(उत्कर्षात्) महान् होने से। (उभयत्वाद्) दोनों के बीच होने से अथवा दोनों के साथ सम्बन्ध होने से। (उत्कर्षति) महत्ता को प्राप्त करता है। (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान से उत्पादक फल को प्राप्त होता है। (समानश्च) जो न कभी दुखी न सुखी, न मित्र न शत्रु सब को समान होता है। (न) नहीं। (अस्य) इसके कुल। (अब्रह्मविद्) ब्रह्म को न जानने वाला। (भवति) होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार वेद जानता है।

अर्थ—द्वितीय पाद अर्थात् तैजस को द्वितीय मात्रा उकार से अनुकूल करके दिखाते हैं। स्वप्न दोनों दशाओं के मध्य में होता है। जागृत और निद्रा की मध्यम दशा का नाम स्वप्न होता है, इस कारण वह दोनों के मध्य में होता है। और वह जागृत से उत्तम होता है। क्योंकि जागृत की अवस्था में तो विषयों के संस्कार बढ़ते हैं और स्वप्न में उसकी उन्नति रुक जाती है। यहाँ उकार से आशय जीवात्मा का है, जो संसार में नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करता है, जो प्रकृति से उत्तम है, क्योंकि प्रकृति में ज्ञान नहीं और जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके उससे प्राप्त होने वाले आनंद को प्राप्त करता है। और ब्रह्म प्रकृति के मध्य है और ब्रह्म की भांति ज्ञान स्वरूप नहीं। जिसको बाह्य ज्ञान की आवश्यकता ही न हो अथवा जिसका नियम उन्नति न कर सके और प्रकृति की भांति ज्ञान से शून्य हो, वह अल्पज्ञ है। यदि वह प्रकृति के साथ संबन्ध करे तो मिथ्या ज्ञानी होकर अज्ञान स्वरूप प्रकृति के धर्म दुःख को ग्रहण कर लेता है। प्रकृति दुःख स्वरूप है जीव उसके संग से दुख को प्राप्त होता है जैसाकि जागृत अवस्था में।

मालूम होता है। जागृत अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकृति के विषयों के साथ में सम्बन्ध रखती हैं, जिससे सब प्रकार के दुःख ईर्षा द्वेष, काम, क्रोध लोभ, मोह इत्यादि प्राप्त होते हैं। मानों जागृत अवस्था प्रकृति के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करती है। स्वप्न जागृत से ऐसा ही उत्तम है, जैसे प्रकृति से जीव। जागृत में प्रकृति के संस्कार बढ़ते हैं, स्वप्न में नहीं। सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है और जागृत में प्रकृति से; स्वप्न दोनों के मध्य में है। जैसे ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप और प्रकृति अज्ञान-स्वरूप है। परंतु जीव न तो ज्ञान-स्वरूप है, न अज्ञान-स्वरूप है। थोड़ा ज्ञान है, शेष वस्तुओं का सीमाबद्ध होने से अज्ञान रहता है। जितनी वस्तुओं का इंद्रियों के द्वारा मन में ज्ञान होता है। जितने शब्द सुने हैं, जितने रूप देखे हैं, जितनी वस्तुओं का रस चक्खा है, जितनी गन्ध सूंघी है, जितना स्पर्श किया है इन सब का संस्कार मन में रहता है; उसकी स्मृति होती है, उसको स्वप्न में देखता है। शेष सम्पूर्ण वस्तुओं से अज्ञानी रहता है। जब जीवात्मा परमात्मा के साथ सम्बन्ध करता है, तो उसका बाह्य ज्ञान अल्प होता है और सुख की वृद्धि होती है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है तो उस का बाह्य ज्ञान बढ़ता है और सुख घटता है। जागृत अवस्था में प्राकृतिक सम्बन्ध होता है और स्वप्न अवस्था में परमात्मा से। और स्वप्न अवस्था दोनों के मध्य है, इस कारण जागृत अवस्था से उत्तम और दोनों के मध्य रहने वाली है। जो इस बात को ठीक प्रकार से जानता है, उसके कुटुम्ब में ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं। कोई ब्रह्म का न जानने वाला उस कुल में नहीं होता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेर पीतेर्वा। मिनोति हवा इदथ्ंसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

प० क्र०—(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त स्थान। (प्राज्ञः) प्राज्ञ नाम वाला। (मकारस्तृतीया मात्रा) मकार तृतीय मात्रा है। (मितेः) अनुमान करने से। (अपीतेर्वा) एक ही हो जाने से। (मिनोति) अनुमान करता है। (हवा) यथावत्। (इदं सर्वम्) इस सब जगत् को। (अपीतिश्च भवति) यह जगत् का जो कारण है इस को प्राप्त होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है।

अर्थ—सोने की दशा में जीव का नाम प्राज्ञ होता है, इसके लिये मकार तृतीय मात्रा है। इसके बताने के लिये अनुकूलता का कारण क्या है? इसके उत्तर में बताया गया है कि प्राज्ञ से विश्व और तैजस का अनुमान किया जाता है। द्वितीय, जिस प्रकार प्रथम अकार, उकार, मकार के योग से ओ३म् एक हो जाता है। ऐसे प्राज्ञ अर्थात् सोने की दशा में सम्पूर्ण नैमित्तिक ज्ञान से अलग होकर, भीतर रहने वाले आत्मा में मन को लगा कर इस सारे जगत् का ठीक-ठीक अनुमान कर लेता है। क्योंकि जिस समय जागना था, उस समय बाहर से क्लेश भीतर आ रहे थे। जब स्वप्न की दशा में आ गया तब बाहर से क्लेश आने बन्द हो गये; परन्तु आये हुए विद्यमान रहे। परन्तु जब सुषुप्ति दशा में अणु बाहर से आने के अतिरिक्त भीतर के भी शेष न रहे, क्योंकि वह भी स्वरूप से पृथक् मन में आत्मभाव होने के कारण से थे। जब मन के साथ सम्बन्ध टूट गया अर्थात् इस में अहंकार न रहा, तब सर्व क्लेश दूर

हो गये। इस से जीव को जगत् का अनुमान विदित हो गया, कि जब इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध होता है तो मन बहुत फैल जाता है, जिससे दुःख ही दुख प्रतीत होता है। मकान जल गया, मन दुःखी हो गया। धन नाश हो गया, मन दुखी हो गया। पुत्र मर गया, मन दुखी हो गया। कोई सम्बन्धी मर गया, मन दुखी हो गया। घोड़ा मर गया, मन दुखी हो गया। अपने शरीर के अतिरिक्त मैं इतनी बढ़ जाती है कि जिसकी सीमा नहीं रहती। और जितनी मैं उन्नति करती है, उतना ही दुःख वृद्धि पाता है। जागृत अवस्था में अहंकार अपने शरीर से बाहर की वस्तुओं का भी बना रहता है, परन्तु स्वप्न की दशा में अत्यन्त निर्बल हो जाता है, केवल इन्द्रियों के पदार्थों का सम्बन्ध मन में रह जाता है। इस कारण स्वप्न की दशा में जागृत अवस्था की अपेक्षा उत्तमता मानी गई है। परन्तु जब सो जाते हैं, तो मैं न जगत् के पदार्थों में रहती है, न शरीर में, न सूक्ष्म शरीर में। जब इन में इन नाश वाली वस्तुओं में पृथक् हो गई, तो किस के नाश से दुख हो। इस समय केवल जीवात्मा के भीतर चली गई। जब मैं जीवात्मा के भीतर रहती है, तो इसका नाश हो नहीं सकता, जिसमें कोई दुख हो सके। परन्तु जीवात्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, जो विना जाने रह नहीं सकता। जब बाहर का संबंध टूट गया, तो बाहर का ज्ञान तो बन्द हो गया, जिससे जीवात्मा को दुख न रहा। अब उसने भीतर देखना आरम्भ किया; जहाँ एक ही आनन्द स्वरूप था। यदि दो होते, तो ज्ञान होता; एक में ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। अतः आनन्द में जीव रहा, जिससे वह सम्पूर्ण दुख जो जागने में रहे थे, जाते रहे।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार। आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

प० क्र०—(अमात्र) जिसके लिये कोई मात्रा नहीं। (चतुर्थः) चतुर्थ पाद। (अव्यवहार्यः) जिस पर कोई व्यवहार नहीं हो सकता। (प्रपञ्चोपशमः) जहाँ पहुँच कर यह प्रपञ्च अर्थात् ज्ञान दूर हो जाता है। (शिवः) कल्याणकारी क्षुधा तृषा, शोक, मोह और बुढ़ापे और मौत से रहित। (अद्वैतम्) अनुपम। (ओंकार) ओंकार है। (आत्मा) जीवात्मा। (एव) है। (संविशति) व्याप्य होता। (आत्मानम्) परमात्मा से (आत्मानं) आत्माको। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है। द्विर्वचन ग्रन्थ समाप्ति सूचक है।

अर्थ—यहाँ तक तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमान से तीन पाद और तीन मात्रा ओ३म् से प्रकट करके अब इन तीनों शरीरों के अभिमानी जीवात्मा के भीतर जो व्यापक परमात्मा होता है, तो उसको उन अवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि इन तीन शरीरों से। और न क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव है। जिस प्रकार जीव बहुत से है, परन्तु परमात्मा एक ही है। इस की कोई उपमा नहीं, वह जीव के भीतर भी व्यापक है। जो जीवात्मा को इस प्रकार जानता है, कि जब वह बाहर सम्बन्ध छोड़ कर, अपने भीतर परमात्मा को व्यापक देख कर, यह कहता है कि मुझ में जो व्यापक है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, उसको कोई दुःख हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्य के

निकट जाने से अन्धकार स्वयम् भाग जाता है। ऐसे ही परमात्मा को अपने भीतर देखने से सब दोष दूर हो जाते हैं।

जो मनुष्य विचार से इस उपनिषद् को पढ़ते हैं, वह तो आत्मज्ञान को प्राप्त होते हैं। और जो मनुष्य अविचार से पढ़ते हैं वह मायावाद के जाल में ग्रसित हो जाते हैं। वेदांत-दर्शन ऐसा उत्तम दर्शन है कि जिसको जानने वाला मनुष्य मनुष्यत्व की पदवी से आगे बढ़ जाता है। जो मनुष्य वेदान्त को नहीं जानते वह मनुष्यत्व से गिरे हुए हैं। क्योंकि जो मनुष्य यह नहीं जानता। कि मैं क्या हूँ, उससे बढ़कर संसार में मूर्ख कौन हो सकता है। सम्पूर्ण संसार के रोगों की चिकित्सा जानता हूँ परन्तु अपने रोग से हिल नहीं सकता और इसकी चिकित्सा भी नहीं कर सकता। तो मेरी अन्य रोगों की चिकित्सा जानने से क्या लाभ है। क्योंकि मैं जब तक स्वयं आरोग्य होकर इनकी बीमारी की चिकित्सा न करूँ, तो मेरे ज्ञान से दूसरों को क्या लाभ पहुंच सकता है। वेदांतशास्त्र ही है जो जीव को अपने रूप का ज्ञान करा के सब प्रकार के दुःख और भय से मुक्त करा देता है। मायावादियों ने तो वेदांतशास्त्र को कलंकित कर रक्खा है। परञ्च यह वास्तव में ठीक नहीं। बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि वेदांती मनुष्य आलसी होता है और निकम्मा हो जाता है, परन्तु यह विचार केवल मूर्खों का है। वास्तव में वेदांती अपने स्वरूप को जानता है, इस को निश्चय हो जाता है कि आत्मा नित्य है। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो आत्मा को हानि पहुंचा सके। कोई शस्त्र ऐसा नहीं जो आत्मा को काट सके। कोई अग्नि ऐसी नहीं, जो आत्मा को जला सके। यदि संसार की सर्व शक्तियां एकत्रित हो जावें, तो भी आत्मा को कोई हानि नहीं हो सकती। क्षुधा, तृषा प्राणों के धर्म हैं।

आत्मा प्राण नहीं, प्राण उत्पन्न तथा नाश होने वाले हैं, उनके धर्म से आत्मा को कोई दुःख नहीं। प्राण को परमात्मा ने कर्मों का फल भोगने के लिये अवधि दी है, जिस की रक्षा परमात्मा का काम है। जब तक परमात्मा इसकी रक्षा करेगा, तब तक यह सुरक्षित रहेंगे। परमात्मा की आज्ञा होते ही कोई भी इनको स्थिर नहीं रख सकता। संसार के बड़े-बड़े राजाओं को एक मिनट में चलना होगा। कोई सेना तथा तोप, डायनामेन्ट के गोले और बंदूकें, गढ़ और खंदकें एक पल के लिये इस वारंट को जो प्राणों को लेने आया है, रोक नहीं सकतीं। संसार में अनगिनती राजा हुए, आज उनके शरीरों का कुछ भी चिन्ह नहीं। जो उत्पन्न हुआ है, उसको नाश भी होना है। प्राण न उत्पन्न हुए हैं, न उनको नाश होना है। नाश से रहित का नाश वाले से क्या मेल ? इसलिये प्राणों की रक्षा की उसको कोई चिंता नहीं। वह रोटी के लिये अपने धर्म को नहीं बेच सकता। वह जानता है कि मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। एक पामर, दूसरे विषयी, तीसरे मुमुक्षु। जो मनुष्य पशुओं के शरीर से आते हैं, उन के भीतर पशुओं के संस्कार होते हैं। पशुओं को खाने के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं होती। उस को यह निश्चय नहीं होता कि जिस स्वामी ने मुझे खूंटे पर बांधा है, जिसको मुझ से काम लेना है, वह मुझ को अवश्य खाने को देगा। स्वामी खाना देने आता है, पशु रस्सा तोड़ने के लिये दौड़ता है। जब तक चारा उसके सामने न आ जावे, उसको शान्ति नहीं होती। वह अपने साथियों से चारे के लिये लड़ता है। ऐसे ही जो मनुष्य पशु शरीर से आये हैं, जिनमें ज्ञान के संस्कार बहुत कम हैं, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं, जो आत्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, जो-

परमात्मा के और इसके नामों से दूर हैं. जो कर्म और फल भोगने के विधान से अनभिज्ञ हैं वह पामर मनुष्य हैं; जिनके जीवन का उद्देश्य ही रोटी है। भारतवर्ष में आज भी लखों पामर मनुष्य हैं, जिनको धर्म कर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं, जो केवल रोटी की खोज ही मुख्य समझते हैं। जिनके हृदय में यह बैठा हुआ है कि यदि हम अपने धर्म की ओर लग जावें, तो रोटी कहां से आवे। वह यह नहीं देखते कि जिस समय मनुष्य अति न्यून असत्य बोलते थे, जिस समय मनुष्य अग्रेजी शिक्षा से सून्य थे, जिस समय मनुष्य अंग्रेजी विज्ञान से नितान्त अनभिज्ञ थे उस समय रोटी कैसी सरलता से प्राप्त होती थी। उस समय न तो ऐसे सूखा पड़ते थे और न रोग फैलते थे। जितनी अंग्रेजी शिक्षा बढ़ती जाती है, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को भूल कर प्रकृति उपासक बन गये। जिसका परिणाम हर प्रकार के दुःख भोगना था। जब कि गवर्नमेन्ट के विरोधी आराम से नहीं सो सकते, उन को रात दिन पकड़ जाने का भय लगा रहता है। यद्यपि सरकार अल्पज्ञ है, वह विरोधियों के मन का वृत्तांत नहीं जान सकती, उसे गुप्त भेदी द्वारा पता लगाने की अवश्यकता पड़ती है। इतनी निर्बलता पर भी विद्रोही पकड़े जाते हैं। और दंड पाते हैं। इन दंडों को देकर विद्रोहियों के चित्त अशांत रहते हैं। फिर उस सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विद्रोही जिसके सर्वत्र होने से किसी गुप्त-भेद की आश्यकता नहीं। जिसके दन्ड से झूठी साक्षी नहीं बचा सकती, कोई योग्य वकील भी विधान (कानून) द्वारा मुक्त नहीं करा सकता। फिर उससे विरोध करके जो सुख चाहते हैं, वे निरे पशु ही कहलावेंगे। दूसरे प्रकार के मनुष्य विषयी कहलाते हैं, जो इन पशुओं से

कुछ अधिक ज्ञान रखते हैं। वह प्रत्येक वस्तु को सुधार कर प्रयोग करना चाहते है। वह प्राकृतिक विज्ञान के प्रेमी औ। अपनी सत्ता से शून्य होते हैं, इनको भी न तो जीवात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है और न परमात्मा की सत्ता का ज्ञान। और न इनको पुनर्जन्म पर कुछ विश्वास होता है और न वेद पर। इसलिये वह मनुष्य जीवन का उद्देश्य खाना पीना और विषयभोग ही समझते हैं। यह दोनों तो पुनर्जन्म के विश्वास न होने से वर्तमान जन्म के लिए प्रबंध करते हैं। वर्तमान जन्म का प्रबंध पशु भी करते हैं। खाना पीना और विषय भोगना भी पशुओं में पाया जाता है यह अपने आपको पशुओं से आगे नहीं लेजा सकते। यह बार बार भी पशुओं के शरीर में जन्म लेते हैं। इनका जीवन बहुमूल्य जीवन नहीं होता, क्योंकि यह अपने जीवन को शरीर की गाड़ी को धोने और इन्द्रियों के घोड़े चराने में व्यय करते हैं, वह जीवन जो गाड़ी को धोने और घोड़ों के चराने में खर्च हो, उत्तम पुरुष का जीवन नहीं हो सकता। क्योंकि गाड़ी का धोना घोड़ों का चराना साईस का काम है। साईस चाहे कितने ही अधिक हों, उनसे देश की प्रतिष्ठा नहीं होती क्योंकि इनकी आत्मा बल से शून्य होती है, इनके हृदय में कभी बलवान साहस उत्पन्न नहीं होता। छोटे काम तथा छोटे विचार होते हैं। निर्बलता उनको आधीन रखती है।वेदान्तशास्त्र के ज्ञाता तीसरे प्रकार के मनुष्य होते हैं,जिनको मुमुक्ष कहते हैं। इनके भी तीन भेद हैं। एक वह जिनके मन मैले थे, वह उसको शुद्ध करने के लिये निश दिन परोपकार में लगे रहते हैं। वह समस्त संसार की भलाई को ही अपना उद्देश समझते हैं। उनका वचन यह होता है कि अपने उत्साह को ऊँचा रख ताकि ईश्वर और सृष्टि के

समीप हो और तेरे उत्साह के अनुसार तेरा आदर हो। न तो उनको आराम की इच्छा, न धन की, यदि इच्छा है तो परोपकार की। वह संसार के कष्टों का कुछ ध्यान नहीं करते। वह यश तथा अपयश को तुच्छ समझते हैं। वह मान अपमान से कोई स्वार्थ नहीं रखते। वह किसी दशा में भी जीव मात्रा को हानि पहुँचाने का विचार नहीं करते उनका विचार स्वतन्त्र रहता है। ईश्वर की आज्ञा पर उन को सन्तोष होता है। (वह जानते हैं कि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। उसने जो कुछ किया, अच्छा ही किया। वह जो कुछ करेगा, अच्छा ही करेगा। क्योंकि वह न्याय तथा दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। यदि तुमको दुःख मिलता है; तो तुम्हारे कर्मों से। दयालु परमात्मा ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई जो जीवों को दुःख देने वाली हो। और न कोई वस्तु सुखदाता है; सुख दुःख का कारण निज कर्म है। यदि हम ज्ञान के अनुकूल कर्म करते हैं, तो सुख होता है। यदि ज्ञान के विरुद्ध करते हैं; तो दुःख होता है। ज्ञान हमको बताता है कि जिस प्रकार के बीज बोवेंगे, वैसा ही फल आवेगा। इसी प्रकार हम दूसरों के साथ जैसी वासना करते हैं, वैसा ही हमको फल मिलता है। जो मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार करता है, उसके मन में पाप का बीज बोया गया। जिसका फल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वह दूसरों के दोष टटोलने पर नहीं रहता, न इस कर्म को उच्च विचार करता है। किन्तु किसी में कोई दोष दृष्टि पड़ता है, तो उसको किसी उपाय से दूर करना चाहता है। वह मधु मक्षिका की भांति पुष्पों से मधु निकालता है। वह जिससे मिलता है, उसके गुणों में से कोई न कोई गुण

प्राप्त करता है। वह संसार में रहता है परन्तु सराय समझ कर संसार को अपना घर नहीं समझता उसका विचार इस दृष्टान्त पर रहता है।

दृष्टान्त—किसी राजा ने एक जड़ाऊ छड़ी बनवाई। जिस में लाखों रुपये के हीरा मोती लगा दिये। एक दिन राजा श्मशान के पास से होकर निकले, वहाँ एक पागल को देखा, राजा ने उससे कहा—तुम नगर में क्यों नहीं आते? दीवाने ने उत्तर दिया—जो नगर में हैं, वह कहाँ जाते हैं। अन्त को वह भी यहाँ ही आते हैं। पागल की इस बात को सुन कर राजा ने छड़ी उसको देदी। पागल ने कहा—मैं इसको क्या करूँ, यह मेरे किस काम की है। राजा ने कहा—इसे रक्खो, जब कोई तुम से अधिक उन्मत्त मिले, तो उसे दे देना। पागल ने वह छड़ी लेली कुछ समय के पश्चात् राजा की मृत्यु के दिन समीप आये। यह समचार पागल को मिला। वह राजा के समीप आया और राजा से हाल पूछा। राजा ने कहा—अब हमारे मार्ग का अंतिम समय है। पागल ने पूछा—आप कहा जायँगे? राजा ने कहा—यह तो विदित नहीं। पागल ने कहा—जहाँ आप जायँगे कितनी सेना, बारुद, तोपें और पयादे साथ ले जायँगे। राजा ने कहा—तब ही तो तुझ को पागल कहते हैं। भला, इस अन्तिम मार्ग में कहीं ऐसा सामान भी जाया करता है। दीवाने (पागल) ने फिर कहा—कितना कोष आप साथ ले जायँगे, क्योंकि इतने बड़े यात्रा के लिये जिसका पता ही न हो, बहुत व्यय की आवश्यकता पड़ेगी। राजा ने कहा—वास्तव में तू पागल है। भला, कहीं अन्तिम यात्रा में कोष साथ जाया करता है। इस यात्रा में बिना धन के ही जाना पड़ता है। पागल

ने कहा—अच्छा कौन-कौन से मन्त्री आपके साथ जायँगे, क्योंकि बिना मन्त्री के तो काम चल ही नहीं सकता। राजा ने कहा—तू बड़ा पागल है, कहीं इस अन्तिम यात्रा में मन्त्री साथ जाया करते हैं। पागल ने कहा—अच्छा कौन-कौन सी रानियाँ साथ जायँगी, क्योंकि बिना रानियों के यात्रा में अकेले आप का काम कैसे चलेगा? राजा ने कहा—तुझ से बढ़कर कौन मूर्ख होगा। क्या इस अन्तिम यात्रा में रानियाँ साथ जाया करती हैं। पागल ने कहा—रानियाँ नहीं तो राजकुमार तो साथ जावेंगे, क्योंकि इनके बिना सन्तोष कैसे मिलेगा। राजा ने कहा—नहीं, इस यात्रा में राजकुमार भी न जा सकेंगे। पागल ने पूछा—तो फिर अकेले ही सही, परन्तु किस सवारी में आप जावेंगे? राजा ने कहा—अरे मूर्ख! इस यात्रा में सवारी भी साथ नहीं जा सकती। यह सुन कर पागल ने छड़ी राजा के पास फेंकदी और कहा—मुझ से अधिक पागल तू है। सहस्रों मनुष्यों को दुःख देकर ऐसा सामान एकत्रित किया जिसको साथ नहीं ले जा सकता। तुझ से अधिक पागल कौन होगा राजा सुन कर पश्चात्ताप करने लगा।

जो मनुष्य अज्ञानी हैं, वह सांसारिक पदार्थों को नित्य समझ कर उनको एकत्रित करने में लगे रहते हैं। और ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह अवश्य नष्ट होती है। क्योंकि पैदा हुई वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती। अनित्य में नित्य बुद्धि इत्यादि अविद्या ही सब दुःखों का कारण है। जो मनुष्य अविद्या के चक्कर में फँस जाते हैं, वह सदा दुख भोगते हैं। जो मनुष्य विद्या में काम करते हैं, वह सदा सुख भोगते हैं। उत्पत्तिशील वस्तु कभी नित्य नहीं हो

सकती। करोड़ों राजा हुए, परन्तु उनके अस्तित्व का कोई चिह्न संसार में दृष्टि नहीं आता। असंख्य धनी सम्पत्ति खोकर कंगाल बनते हैं। सहस्रों धनी पुरुषों के घर चोर डाकू लूट लेते हैं। सैकड़ों बैंक दिवाला निकाल बैठे। सहस्रों जिमींदारों की जिमींदारियाँ बिक गईं। कोटि युवा बलवान् योद्धा मिट्टी में मिल राख की ढेरी बन गये। भीम और अर्जुन की अस्थियों के चिह्न भी नहीं मिलते। राम, कृष्ण के शुभ कर्मों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक शरीर का कुछ भी पता नहीं। अतएव मुमुक्षु का यही विचार है कि जिस प्रकार हो सके संसार का निष्काम परोपकार करूँ, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जावे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जावे, तो तीन प्रकार की वासनायें अर्थात् वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा (धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा, यश की इच्छा) दूर हो जाती है। जिसको यह इच्छाएँ प्रस्तुत हैं, उस का मन शुद्ध नहीं। वह परोपकार के काम यदि करता है, तो लोकेषणा अर्थात् यश प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्त्व के कारण से करता है। परन्तु यह सब धर्म से गिरा कर पाप के गढ़े में गिराते हैं। इंद्र जैसे देवराज को भी यश की इच्छा ने धर्म से पतित कर दिया। कोई यश का इच्छुक यह नहीं चाहता कि उस जैसे दो हो जावें। धर्म के विचार के लक्षों मनुष्य मिलकर काम कर सकते हैं, परंतु यश और प्रतिष्ठा तथा हुकूमत के विचार के दो मनुष्य भी एक में नहीं समा सकते। जैसा कवि कहता है, जिसका भावार्थ यह है दश साधु एक गुदड़ी में समा सकते हैं, परन्तु दो बादशाह एक देश में नहीं समा सकते।

जब तक मनुष्य के मन में परोपकार का विचार रहता है, तब तक उसका किसी से विग्रह तथा झगड़ा नहीं होता। जहां

स्वार्थ आवे, वहाँ लड़ाई झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। जब तक विद्या रहती है, लड़ाई झगड़े नहीं होते। परन्तु अविद्या महाराणी का पांव जहां पड़ा, वहाँ सब फूट मरते हैं। द्वितीय कक्षा के मुमुक्षुवत् हैं जिन का मन शुद्ध हो चुका है, जो केवल मन की चंचलता को दूर करने के लिये अभ्यास और वैराग्य को काम में लाते हैं। मन विना वैराग्य और अभ्यास के स्थिर नहीं हो सकता। योगी जन अभ्यास के द्वारा मन को पकड़ते हैं। मन रक्त की गति से गति करता है। यदि रक्त में गति न हो, तो मन नहीं गति कर सकता। रक्त प्राणों की गति से क्रियावान होता है, यदि वह प्राणों की हरकत न हो, तो रक्त गति नहीं कर सकता, अतएव जब प्राण-गति अधिकार में आ जाये तो रक्त की गति वश में हो जावेगी। जब रक्त की गति वश में हो जावेगी, तब चंचल मन भी वश में हो जावेगा। इस प्राण की गति को वश में करने के लिये महर्षि पातञ्जलि ने योगदर्शन में यम नियम इत्यादि योग के अष्टाङ्ग में फँस जावे, तो मुक्ति को प्राप्त होता है। उसके मार्ग नियत किये हैं। उन अंगों पर ठीक प्रकार अनुष्ठान करने का नाम अष्टाङ्ग योग का अभ्यास कहाता है। इस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य यदि सिद्धियों के जाल में की सम्पूर्ण बाधा स्थिर चित्त होकर अभ्यास करने से दूर हो जाती हैं परंतु द्वितीय साधन मन को वश में लाने का वैराग्य है। राग अर्थात् वासना उस वस्तु की होती है जिसको आत्मा अपने लिये सुलभ अप्राप्त समझता है। न तो उस वस्तु की इच्छा होती है जो लाभदायक न हो और न तो उस वस्तु की इच्छा होती है, जो प्राप्त हो। और जो वस्तु प्राप्त तथा हानिप्रद हो, उसमें द्वेष होता है। अब उपयोगी वह वस्तु होती

है, जो न्यूनता को पूरा करे अथवा दोष को दूर करे। जब तक जीवात्मा अविद्या से अपने को शरीर समझता है, तब तक जो वस्तु शरीर की त्रुटि को पूरा करती है, भोजनादि अथवा शरीर के दोष को दूर करती है, यथा घृत औषधि इत्यादि। तब उसको इनमें राग होता है। यदि सवारी को शरीरार्थ उपयोगी विचार करता है, तो उसमें राग होता है। तात्पर्य यह जितने पदार्थों में अपने होने का अभ्यास होता है, उन सब के लिए उपयोगी में राग होता है। जब जीव को पता लग जाता है कि मैं न तो शरीर हूं और न इन्द्रियां, किन्तु यह मेरे मार्ग में ले जाने के लिये गाड़ी तथा घोड़े हैं। इनकी सेवा में लगे रहना साईसी है। यदि यह अपनी गाड़ी होती, तो इसकी रक्षा की भी आवश्यकता होती। यह तो किराये की गाड़ी है, जिस का स्वामी हर समय किराया मांगता है। यदि थोड़ी देर के लिये वायु न मिले, तो भीतर से शब्द आता है-निकलो बाहर। चौबीस घंटे तक यदि पानी न मिले तो शब्द आता है। निकलो बाहर। यदि चार पाँच दिवस भोजन न मिले, तो आज्ञा मिलती है- निकलो बाहर। भला ऐसे किरायेदार की गाड़ी में जिसका स्वामी क्षण क्षण में किराया मांगता हो, स्वस्थ होकर बैठना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नहीं, इस गाड़ी से तो जितना मार्ग की ओर चला जावे, उतना ही लाभ है; गाड़ी और घोड़ों के चराने में अधिक समय व्यय करना अविद्या है। गाड़ी की रक्षा गाड़ी का स्वामी स्वयम् करेगा यात्रीको तो जितनी यात्रा पूर्ण हो जावे, उतना ही लाभहै। जिस मनुष्य को शरीर और आत्मा का पता लग जावे, वह उस शरीरसे लाभ उठा सकता है। जिसको आत्मज्ञान नहीं, वह शरीर की आवश्यकताओं में राग उत्पन्न करके अपने आपको बिगाड़ देता है।

यदि आवश्यकताओं तक ही इस श्री होती, तो कोई हानि नहीं थी। क्योंकि परमात्मा प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण करते हैं। परन्तु शरीर को आत्मा समझने वाला तृष्णा-रूपी रोग का शिकार हो जाता है। जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार की आवश्यकताएं पूर्ण करता है, वह एक मनुष्य की भी तृष्णा पूर्ण नहीं कर सकता। क्योंकि जितना मिलता जावे, तृष्णा उससे अधिक बढ़ती जाती है। जिसका कारण यह है कि संसार के पदार्थों में आनन्द तो है नहीं। जो इनमें आनन्द की इच्छा से काम करता है उसे और मनुष्यों को (जो उससे सांसारिक पदार्थों में अधिक हैं) देखकर विचार उत्पन्न होता है कि इनको आनन्द होगा। इसलिये वह उन पदार्थों को प्राप्त करता है। और सांसारिक वस्तुओं में आनन्द नहीं है, इस कारण पादार्थों के प्राप्त करने से भी आनन्द नहीं है, इस कारण पादार्थों के प्राप्त करने से भी आनन्द प्राप्त नहीं होता। फिर वह उससे अधिक में आनन्द समझ कर उसकी इच्छा करता है। फल यह होता है, सम्पूर्ण संसार का चक्रवर्ती राज्य प्राप्त होने पर भी दुःख बढ़ जाता है, आनन्द प्राप्त नहीं होता, परंतु तृष्णा नित्यप्रति कष्ट देती है। इस कारण जब तक विद्या न हो, जब तक प्रकृति के मूल तत्त्व से मनुष्य का वास्तविक परिचय न हो, जब तक प्रत्येक वस्तु आत्मा के लिये बंधन न समझ ली जावे, क्योंकि वस्तुओं का अहङ्कारी बंधन है, उसी से सम्पूर्ण दुःख उत्पन्न होते हैं। जिस वस्तु को हम अपना समझते हैं, उसी के नाश होने से दुःख होता है। जिसको हम अपना नहीं समझते उसके नाश से भी दुःख नहीं होता। यदि हम उसको अपना शत्रु समझते हैं, तो उसके नाश से भी हमको प्रसन्नता प्राप्त होती है। यदि हमारा भवन भस्म हो जावे, तो

हमको कष्ट होता है। यदि वह भवन बेच दिया हो, तो उस के नाश से कोई प्रसन्नता नहीं होती। यदि किसी हमारे शत्रु का मकान हो, तो उसके नाश से प्रसन्नता होती है। एक ही मकान बुद्धि भेद से दुःख उदासीनता और सुख का कारण होता है। अतएव यह नाश वाला संसार है, इसकी प्रत्येक वस्तु विकार वाली पाई जाती है। उत्पन्न होना, बढ़ना एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति में परिवर्त्तन करना, क्षय को प्राप्त होना तथा नष्ट होना, प्रत्येक शरीर, वृक्ष और वस्तुओं में देखा जाता है। जितना विनाश युक्त वस्तुओं में अहङ्कार होगा, उतना ही दुःख अधिक होगा। जितना इन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध न्यून होगा, उतना ही दुःख भी न्यून होगा। अज्ञानी समझते हैं कि धनवानों को सुख अधिक होता है। परन्तु यह सत्य नहीं, जितनी सम्पत्ति अधिक होती है, उतना उसका चित्त कङ्गाल होता है। इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है।

दृष्टान्त—एक बार एक राजा नगर से पर्वतों पर मृगया के हेतु गया। मार्ग में बूंदें पड़ने लगी। राजा घर की ओर लौटा, मार्ग में देखा कि एक साधु बैठा हुआ है, न तो कोई उस पर वस्त्र है, न पात्र, न कोई भोजन की सामग्री है, न कोई खाट है न झोंपड़ी। राजा इस साधु की दशा को देखकर चित्त में विचार करने लगा कि मैं कैसा अयोग्य राजा हूं जिसके राज्य में ऐसे कङ्गाल मनुष्य रहते हैं। यह सोचकर राजा ने २५) एक सेवक द्वारा साधु के पास भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को देदो। नौकर ने आकर राजा से कहा कि रुपया कम है इस कारण नहीं लिया। राजा ने ५००) रु० साधु के पास भेजा तो भी उसने उत्तर दिया—किसी दीन को देदो। अब नौकरों ने आकर कहा, तो राजा ने कहा अब भी थोड़ा है।

अतः पाँच सहस्र रुपया साधु के समीप भेजे। उसने उत्तर दिया—किसी दीन को देदो। राजा ने सुनकर फिर थोड़े समझकर पचीस सहस्र भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को देदो अन्तिम सत्रालक्ष लेकर राजा स्वयम् गये। साधु ने फिर वही उत्तर दिया—किसी दीन को देदो। राजा ने कहा—स्वामिन्! आप से बढ़ कर दीन कौन होगा? न तो आप के पास कपड़ा है न झोपड़ी, न पात्र हैं न भोजन की सामग्री साधु ने कहा हम तो राजा हैं। राजा ने सुनकर कहा राजाओं के पास तो सेना होती है, आप की सेना कहाँ है साधु ने कहा—उनको भय होता है इस कारण वह सेना रखते हैं हम को भय किसका है जिसके लिए सेना रक्खे। राजा ने कहा—राजाओं के पास कोष होता है, तुम्हारा कोष कहाँ है? साधु ने कहा—राजाओं को भय के रोग के कारण व्यय करना होता है। इस कारण वह कोष रखते हैं न हमको भय का रोग है, न सेना की आवश्यकता है न हमारा कोई व्यय है, फिर हम कोष क्यों रक्खें राजा ने कहा आप के समीप राज सामग्री ही क्या है। साधु ने कहा हमारे समीप रसायन है, जिस समय चाहें इन सम्पूर्ण पर्वतों के ताम्र को सुवर्ण बना दें। यह उत्तर श्रवण कर राजा चल दिये और मन में विचार किया कि यदि यह साधु रसायनी न होता, तो अवश्य इतना प्रभूत धन ले लेता। इसका रुपया न ले लेना इस बात का प्रमाण है कि अवश्य रसायनी हैं। राजा रात्रि को सोने लगे तो विचार आया कि यदि इस रसायनी कर्त्ता साधु के दस पाँच सहस्र मन सुवर्ण बनवा लिया जावे तो दो एक देश और पराजित हो सकते हैं। विचारा कि यह अवसर उत्तम है, क्योंकि रात्री है किसी को मालूम भी न होगा। अतः राजा साधु की ओर बिना

सवारी पैदल ही चल दिये। जब साधु ने पाँव की आहट सुनी तो पूछा। कौन है ? राजा ने कहा—मैं आपका सेवक राजा हूँ तब साधु ने प्रश्न किया कि तू इस समय क्यों आया ? राजा ने सब हाल वर्णन किया और कहा कि आप दस-बीस सहस्र मन सुवर्ण बना दें। साधु ने कहा—बता दीन तू है अथवा हम ? माँगने तू आया अथवा हम ? यह उत्तर सुन कर राजा ने कहा—निःसन्देह दीन तो मैं ही हूँ। आप दया करके सोना बना दें। साधु ने कहा—अवश्य बना देंगे, तू आया कर। राजा ने साधु के पास जाना आरम्भ कर दिया। और साधु ने उसको तत्त्वज्ञान का उपदेश कर दिया। एक वर्ष में राजा तत्त्वज्ञान का विद्वान् हो गया और उसकी वह वासनाएँ नष्ट हो गईं साधु ने जब देखा कि राजा अब दीन नहीं रहा। उसकी आत्मिक दशा सुधर गई तो साधु ने राजा से कहा कि तुम दस सहस्र मन ताम्र ले आओ, हम सुवर्ण बना दें। राजा ने हँस कर उत्तर दिया—स्वामिन् ! वह ताम्र तो सुवर्ण बन चुका, अब कोई आवश्यकता नहीं।

वास्तव में तृष्णा-वश मनुष्य अनित्य को नित्य बनाने के हेतु सहस्रों प्रकार के पाप करता है। क्या उस मनुष्य से अधिक कोई मूर्ख हो सकता है कि जो अनित्य को नित्य होने का प्रयत्न करता है अनित्य में नित्य बुद्धि अविद्या है। मनुष्य के कुल बाह्य साधन और सामान अनित्य हैं, इनको नित्य बनाना असम्भव है। बड़े बड़े मूर्ख राजाओं ने पत्थरों के गढ़ बनाये सहस्रों तोपें बनाईं, शरीर की रक्षार्थ बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर रक्खे, बाडीगार्ड और रक्षक रक्खे; क्या उन राजाओं के शरीर बच गये ? मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि महाराजा जार्ज-पञ्चम किसी समय सब से बड़े राजा थे। उनके राज में एक कोटि

उन्नीस लक्ष वर्ग मील पृथ्वी थी। जिस में चालीस कोटि से अधिक उसकी प्रजा है। उसकी राजधानी लंदन संसार के सब नगरों में बड़ा है। पार्लियामेण्ट का उत्तम प्रबन्ध है। इन सब वस्तुओं के होते हुए भी उसके माँ-बाप मर गये, भाई मरे, बेटा मरा। जो सम्पूर्ण संसार के अज्ञानी पुरुषों को शिक्षा दे रहा है, कि इतनी शक्ति और सामग्री होने पर उत्पन्न होने वाला शरीर स्थिर न रह सका। भला इन से अधिक कौन मूर्ख मनुष्य हो सकता है कि जो धन के भरोसे पर परमात्मा के अटल नियमों की ओर संकेत करता है और बताता है कि जो नित्य है, इसको कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। जो वस्तु अनित्य है, उसकी कोई शक्ति रक्षा नहीं कर सकती। अनित्य का नष्ट होना अवश्य है नित्य का स्थिर रहना अवश्य है। नित्य के काम नित्य से चल सकते हैं। नित्य की उन्नति अनित्य से नहीं हो सकती। यदि ध्यान-पूर्वक ज्ञान-दृष्टि से ऋषियों के सिद्धान्तों को विचारो, जो बिना किसी सांसारिक प्राकृतिक सामग्री के जंगलों में रहते हुए भी राजाओं के राजा थे। किसी की शक्ति न थी कि उनको कष्ट दे सके। इनको कष्ट दे ही कौन सकता है था! क्योंकि वह ऐसी बलवान् शक्ति के आश्रय थे कि जिसके सामने संसार की सम्पूर्ण शक्तियाँ तुच्छ है। गवर्नमेन्ट का पांच रु० मासिक का सिपाही बड़े बड़े धनपतिओं को पकड़ लाता है। क्या वह चपरासी की अपनी शक्ति होती है! उत्तर मिलता है नहीं। किन्तु वह उस शक्ति के आश्रय जिसके प्रबन्ध में सम्पूर्ण संसार के राजा जी रहे हैं। जिस के यंत्र, अग्नि, पानी, वायु, विद्युत ऐसे बलवान् हैं कि कोई बड़े से बड़ा राजा भी इस का प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके यंत्र भूचाल आदि ऐसे दृढ़ हैं कि एक क्षण में राजाओं के राज्य को सेना आदि सहित नष्ट

भ्रष्ट कर सकते हैं। चाहे सामुद्रिक जहाज हों अथवा वायु-यान, परमात्मा की शक्ति का सामना नहीं कर सकते। अज्ञानी अपनी अज्ञानता से परमात्मा को त्याग प्राकृतिक वस्तु का आश्रय लेते हैं। परन्तु इस अविद्या के कारण अपने आप को दुःखमय बना लेते हैं। जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान से अपने आत्मिक बल को बढ़ा लेते हैं, उनको दबाने वाली कोई शक्ति नहीं जबकि सरकारी सिपाही निज राजा के भरोसे बड़े बड़े मनुष्यों को पकड़ लाते हैं, तो ईश्वर-भक्तों को किसका भय हो सकता है। वह जानते हैं कि मृत्यु हमारे स्वामी के हाथ है। अतिरिक्त उसके कोई नहीं मार सकता। बलवान् मनुष्य दूसरों के मारने का विचार कर सकता है, परन्तु मारने में सफल नहीं हो सकता। मनुष्य के हाथ में केवल उसका विचार है, वह कुविचार से अपने आप को पापी बना सकता है, परन्तु अपने शत्रुओं को हानि पहुँचा देना उस के अधिकार से बाहर है। जितना मनुष्य का भोग दुःख अथवा सुख है, वह प्रत्येक दशा में उनको भोगना पड़ेगा। जिस मनुष्य का भोग उत्तम है, वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट कर दे, धनवानों को कठोर से कठोर गाली प्रदान करे, किसी की पर्वाह स्वप्न में भी न करे, तो भी उस के सुख के साधन सब ही एकत्रित रहेंगे। सुभाग्य मनुष्य कहीं भी चला जावे, उसे दुःख नहीं हो सकता। वह मनुष्य मूर्ख है जो सुख को धन के आश्रय समझते हैं। धन से सुख नहीं हो सकता, किन्तु धन दुःखदायी है। जो काम धनवान धन से नहीं कर सकते, वह ईश्वर-भक्त सरलता से कर सकते हैं। संसार में धन के चार फल दृष्टि पड़ते हैं। प्रथम यह कि धन-वान् भोजन उत्तम खा सकता है, परन्तु ऐसा कोई भोज्य पदार्थ

नहीं जो पशुओं को न मिलता हो। मांसभक्षी मनुष्य मांस को उत्तम समझते हैं, परन्तु जिन पशुओं का मांस मनुष्य सेवन करते हैं, उन्हीं का पशु भी सेवन करते हैं। ऐसा कौनसा जीव है, जिसका मांस बाज आदि पक्षी अथवा व्याघ्र गीदड़ आदि पशुओं को प्राप्त न होता हो। मनुष्य मेवे और अन्न खाते हैं, जिसको पशु पक्षी भी खाते हैं। मनुष्य के भोज्य पदार्थ में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो दूसरे जीवों को अप्राप्त हो जब कि वह भोजन जिस को धनवान् खाते हैं, परमेश्वर ने पशुओं को भी दे रक्खा है। तो इस के लिये ईश्वर-भक्ति को त्याग कर धन एकत्रित करने लग जाना अविद्या नहीं तो और क्या है ? हमने अनुभव किया है कि ईश्वर-विश्वासी मनुष्य धनवानों से नित्य उत्तम भोजन करते हैं। यथा साधुओं को देखिये वह भोजन करने में किसी अमीर से कम नहीं, क्योंकि उनको प्रत्येक निर्धन और धनवान् निमंत्रण देते हैं और अपने भोजन से उत्तम भोजन जिमाते हैं। द्वितीय सुख जिस को धन से प्राप्त होना समझते हैं; सेवकों से काम लेना है। इस काम में भी ईश्वर-भक्त धनवानों से अच्छे रहते हैं, क्योंकि ईश्वर-भक्तों को प्रत्येक स्थान में सेवक मिल जाते हैं। राजा, महाराजा भी उन की सेवा का परम कर्तव्य समझते हैं, जैसा कि एक उर्दू कवि का वचन है— "अय हुमा पेशे, फकीरी सल्तनत क्या माल है। बादशाह आते हैं पापोश गदा के वास्ते।" जिन मनुष्यों ने काशी में स्वामी भास्करानन्द की दशा को देखा होगा उनको पता है, कि ईश्वर-भक्तों के सेवक कितने हैं। तृतीय फल जो धन से निकलता है, वह प्रतिष्ठा है। परन्तु ईश्वर-भक्तों के सन्मान के आगे धनियों का सन्मान तुच्छ है। वह जिस देश में जावे वहां उनका सन्मान प्रस्तुत है स्वामी रामतीर्थ यदि भारत वर्ष में प्रतिष्ठा

पाते थे तो, अमरीका में भी उनकी प्रतिष्ठा कम न थी। जितना सन्मान आज बाबा नानक जी का सिक्खों के हृदय में है, क्या महाराजा रणजीतसिंह का भी उतना है? क्या जितनी प्रतिष्ठा व्यास जी की हिन्दुओं के हृदय में है, क्या युधिष्ठिर की भी उतनी प्रतिष्ठा हो सकती है? प्रयोजन यह है कि जितनी प्रतिष्ठा ईश्वर-भक्तों की होती है, उतनी धनवानों की नहीं। चतुर्थ यह कि धनवानों को विश्वास रहता है कि जब कोई आपत्ति आवेगी धन से उसको नष्ट कर देंगे। जैसाकि किसी नीति का वचन है* आपत्ति के लिये धन एकत्र करना चाहिये। धनवानों को क्या आपत्ति हो सकती है, यदि आपत्ति आवेगी भी तो धन से नष्ट हो सकती है। परंतु वह यह नहीं जानते, आपत्ति जब आवेगी, धन भी नष्ट हो जावेगा। परंतु जो मनुष्य ईश्वर-भक्त हैं वह निर्भय रहते हैं। कोई आपत्ति भी उनका सामना नहीं कर सकती। क्योंकि वह जानते हैं परमात्मा के राज्य में आपत्ति कोई वस्तु नहीं। जो वह करता है अच्छा करता है। यद्यपि रोगी को कड़वी औषधि बुरी मालूम होती है, परन्तु उसको गुणदायक होती है। इसी प्रकार ईश्वर के न्याय से जो हमको दंड मिलता है, वह हमारे मन से पापों की मलिनता को दूर करता है, इस कारण वह भी उपयोगी है। मनुष्य को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक उसको प्राकृतिक पदार्थ उत्तम जान पड़ते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि धन की तृष्णा जितनी दुखदायक है, अन्य उससे एक पदार्थ दुखदायक नहीं। यथा सर्प स्पर्श में नरम प्रतीत होता है, परन्तु काटने से मृत्यु आ जाती है। इसी प्रकार यह चमत्कारिक पदार्थ धन तथा स्त्री

* आपदार्थं धनं रक्षेत्, रक्षेत् दारा धनैरपि।

यद्यपि देखने में उत्तम मालूम पड़ती हैं; परन्तु वास्तव में सत्य से दूर ले जाकर मृत्यु का कारण होती हैं। क्योंकि परमात्मा ने आत्मा को इन्द्रिय, मन और शरीर का राजा बनाया है। परन्तु इन चमत्कारिक पदार्थों के आवरण से धोका खाकर आत्मा इन्द्रियों का सेवक हो जाता है और सत्य धर्म से दूर हो जाता है। उस समय मन जिस प्रकार आत्मा को नचाता है, वैसे ही आत्मा नाचता है। अतएव परमात्मा ने वेद में उपदेश किया है कि चमत्कारी वस्तुओं के आवरण से सत्य का मुख छिपा हुआ है। यदि तुम चाहते हो कि आत्मिक बल में उन्नति हो और सत्य धर्म के ज्ञाता हो जाओ, तो सब से प्रथम उस आवरण को दूर करो। जब तक यह आवरण है, तब तक तुम सत्य को नहीं जान सकते। मनुष्य यदि सत्य से पतित हो जावे, तो उसका जीवन पशुओं से भी निकृष्ट हो जाता है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि लोभी, कामी मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता। इसी कारण जो लोभ तथा काम में लिप्त नहीं हैं उन्हीं को धर्म के जानने का अधिकार है और जो लोभ और विषय में लिप्त हैं उनको धर्म जानने का अधिकार ही नहीं। जिनको धर्म के जानने का अधिकार नहीं आज। भारतवर्ष में वह धर्म के आचार्य हैं! गृहस्थ का तो धन पैदा करना धर्म है, परन्तु भारत में कोटिपति संन्यासी कहे जाते हैं। लाखों रुपया एकत्रित करके उदासीं नाम रख लिया। वास्तव में यहाँ अविद्या ने ऐसा पाँव जमाया है कि धर्म-नौका भँवर में जा पड़ी है। यद्यपि इस देश में ५२ लक्ष साधु हैं, परंतु इसी प्रकार यथा पाञ्चल में नाई का नाम राजा रख लेते हैं। यदि उन ५२ लक्ष में से ५२ भी साधु होते तो देश का कल्याण हो जाता। परन्तु यह सन्यासी उदासी नहीं, किन्तु वान्ताशी अर्थात् वमन करके चाटने वाले हैं। बहुत से

अल्पायु में साधु हो गये, उन्होंने संसार का कुछ दे
था। साधुओं में आकर कुछ पढ़ लिख गये। गृहस्थों में
प्रतिष्ठा होने लगी। अतिरिक्त इसके कि वह गृहस्थों का
कार करते, उन्हीं से धन लेकर मठाधारी बनना और
के धन से अपने शरीर का शृंगार करना और उन्हीं
से पुत्र देने के मिस से उनको पतित करना उनका धर्म होग
कर्म को यह सब मिथ्या बताने लगे। यदि धर्म कर्म का
करते, तो सम्भव था कि कोई गृहस्थी उनसे प्रश्न कर बै
महाराज! आप क्या कर्म करते हैं? उन्होंने जगत् मिथ्या
कर धर्म कर्म को मूल से नष्ट कर दिया यदि कोई इन
वादियों से पूछे कि महाराज! जब संसार मिथ्या है, तो
का यह वचन भी संसार में होने से मिथ्या होगा। यदि
सत् है, तो भी आपका यह वचन मिथ्या ही है। शोक है
गृहस्थ मनुष्यों ने पढ़ना त्याग दिया। अतएव मिथ्या आद
वेपधारी उनको धोखे में डाल अधर्म का उपदेश करते।
संसार को मिथ्या बताते हैं, इधर गृहस्थों से धन एकत्रित क
उत्तम-उत्तम सुन्दर भवन बनवाते हैं तथा सुन्दर वस्त्र भ
करते हैं। और वाहनारूढ़ होकर आनन्द करते हैं। जब
प्रश्न कर देता है—महाराज! आप तो जगत् को मिथ्या ब
हैं। पुनः आप ऐसे कार्य क्यों करते हैं? तो उत्तर देते हैं—
सब भी मिथ्या भ्रम ही है। यदि कोई गृहस्थ बुद्धिमान्
बीस पादत्राण से पूजा कर दे। जब वह न्यायालय में
चलावें, तो यही उत्तर दे—महाराज! यह तो मिथ्या ही
आपने क्यों न्यायालय की शरण ली, तो उनको विदि
परन्तु अभाग्य गृहस्थ ने यदि वह विद्वान् होते, तो
न गलती। उनकी दाल इन्हीं देशों में गलती

13-8-63